जलते और उबलते प्रश्न

जलते और उबलते प्रश्न

मौलिक सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्ध

श्री जे बगरहटा, श्री रामचन्द्र शर्मा
श्री हरिशंकर शर्मा एवम्
श्री याज्ञवल्क्य शर्मा की स्मृति में भेंट
द्वारा - [illegible] बगरहट्टा
[illegible] मोहन बगरहट्टा
[illegible] मोहन बगरहट्टा

१२ -

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

रीडर—हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

बोहरा प्रकाशन, जयपुर-३

प्रकाशक
सुशील बोहरा
बोहरा प्रकाशन
खजांची सदन
बोरडी का रास्ता
जयपुर—३

जुलाई १९६९

मूल्य १८.०० रुपये

मुद्रक
एवरेस्ट प्रिन्टर्स
तेलीपाड़ा जयपुर—१

तेजस्वी साहित्य-चिन्तक
श्री गोपाल कृष्ण कौल
को

प्राक्कथन

सवालों का सीधा मुकाबला, लेखक को न जाने कहाँ कहाँ भटकाता है। कोई एक दूकान नहीं है, जहाँ हर मर्ज के इलाज का नुस्खा मिल सके। सवाल छोटा सा होता है लेकिन उसके जवाब किसी एक किताब, एक विचारक या एक सर्जक के पास नहीं हैं। हर एक महत्वपूर्ण आलोक के नीचे एक अँधेरा भी होता है। एक धारणा एक जगह एक रूप में है, दूसरी जगह दूसरे रूप में है। किसी भी प्रश्न और खास तौर पर धीमे धीमे जलते उबलते या फिर उबलते जलते प्रश्नों पर रोशनी तलाशने के लिये सिर्फ अपनी भीतरी बुनावट और जुगाली (ब्रूडिंग) काम नहीं दे सकती। इसलिये सच्चाई की खोज के लिये, कोई न कोई "वस्तुगत" विधि अपनाना अनिवार्य हो जाता है।

इन निबन्धों में मेरी पहुँच (एप्रोच) द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है। मुझे, लम्बे सोच विचार के बाद, द्वन्द्वात्मक दृष्टि, सर्वाधिक बुद्धि संगत और प्रखर प्रतीत हुई है। अन्तर्मुखी चिन्तन विधियों में मजा बहुत आता है लेकिन अन्त में, मैं पाता हूँ कि प्रश्न वहीं हैं जहाँ वे थे। जटिल वास्तविकता में टकराते हुए मन को, पूर्व कल्पित विश्वासों से चाहे दिलासा दीजिये या उसे एक निरन्तर तनाव में रखकर जवाबों की आकस्मिक चमक का इन्तजार कीजिये लेकिन यह भी परितोष नहीं होता कि हम सही रास्ते पर हैं।

इसके विपरीत वस्तुगत विधि से किये गये ऊहापोह में यह तसल्ली रहती है कि इससे सत्य के भाग को आलोकित किया जा सकता है प्राप्त निष्कर्षों का पुनः परीक्षण किया जा सकता है।

साहित्य और उसमें प्रतिबिम्बित जिन्दगी की हकीकत किसी भी वस्तुगत विधि से पूरी तरह पकड़ में नहीं आ सकती, क्योंकि प्रकृति की तरह एक श्रेष्ठ कृति और प्रतिभाशाली कृतिकार, नाप तौल में दो चार अंगुल हमेशा इधर-उधर हो जाया करता है। इस "अनिर्वचनीयता" के कारण ही, साहित्य चिंतन तरह तरह की पद्धतियों और दृष्टियों का विकास करता है, मैं "द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद" का एक "चतुष्कोटि" या 'फ्रेमवर्क" के रूप म मानता हूँ जिसकी बुनियादी धारणाओ के विकास, परिशोधन परिवधन के लिये अय अनेक अविरोधी पद्धतियो और दृष्टियो का सजनात्मक प्रयोग अनिवाय है लेकिन इस 'चतुष्कोटि" मे उन धारणाओ को स्वीकार नही किया जा सकता जो मात्र व्यक्तिपरक अतमु ख या फिर सामाजिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी हैं। उदाहरण के लिये इस पुस्तक मे विगतकालीन साहित्य सम्ब धी प्रतिमानो और रचना प्रणालियो और प्रक्रियाओ का पुनपरीक्षण किया गया है ओर वहाँ से अतदृ ष्टियो के आकलन का भी प्रयत्न किया गया ह लेकिन पूरी सहानुभूति के साथ अपनी 'धरोहर' को प्रस्तुत करके भी, उसके रूढ साचे को अस्वीकार कर दिया गया है।

इसी तरह "आधुनिकता" की धारणाओ मे, मेरा आग्रह, वामपथी आधुनिकता पर है क्योकि मेरा विश्वास है कि पिछडे हुए देशो मे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया म हमे उन सवालो से सग्राम करना पड रहा है, जिनका सामना अतिसमृद्धसमाजो (एफ्लुएण्ट सोसाइटीज) को नही करना पडा है, इसलिये समृद्ध समाजा की मनोदशाओ फशना और साहित्य रूपो की सीधी नकल हमे अपन परिवेश का सजग द्रष्टा या स्रष्टा न बनाकर, "कल्पपूण अमर बेल" अथवा सूखे अधभूखे पौधो पर चिपटे कीडा या "परासाइट्स" मे बदल देनी है। इसलिये हमारे आधुनिक साहित्य की मुद्रा 'आत्महारा नकारात्मकता' तक ही सीमित नही रह सकती। दक्षिणपथी या यथास्थितिपरक सजन और चितन के विरुद्ध जलते और उबलते हुए मेरे मन का आक्रोश, अगर कही हमलावर या खूँखार रुख अख्तियार करता है तो उस "स्थापित व्यवस्था" के छद्म समथको की मासूम सनक से भिन्न समझना चाहिये। लेकिन मेरा उबाल और तीखापन अपने भीतर एक "सामाजिक दृष्टि" छिपाये हुए हैं, वह किसी भी तरह की व्यक्तिगत गुस्सा और कचोट से परे हैं। कोई भी वास्तविक वामपथी लेखक अपने और विरोधियो के प्रति बेलाग रहता है या उसे रहना चाहिये, कम से कम मेरी कोशिश यही है। मुझे तो यह सारा वातावरण मुद-घटे जसा लगता है, जहाँ लोग फूँकने के लिये एकत्र हुए हैं लेकिन इस सग्रह मूलक, छीना झपटी, और लाग डाटी जहनियत से धीरे धीरे सड रही लाश मे आग कौन लगाये, सवाल यह है? इस लाचारी की हालत मे कोई 'औघड' या तो हर एक का सनाड बताता है या फिर दल्दली गिजगिजाहट मे सने-सहमे लेकिन शातर लोगो को देखकर वह अट्टहास करता है अब घर जार ताम् का, जा चल हमार साथ।

"जलते और उबलते प्रश्न" में कई निबन्धों का स्वरूप "विवेचनात्मक" है लेकिन उनकी वस्तु या "कन्टेन्ट" गतिशील और सामयिक है। कभी "द्रविड़ प्राणायाम" भी आवश्यक होता है, क्योंकि सत्य तक पहुँचने की सड़क सीधी नहीं होती और इस समय तो अपना साहित्य और जीवन, विश्व की प्रमुख शक्तियों की जीवन विधि, राजनीति, कला, दर्शन, साहित्य आदि की "घुसपैठ" का, अंग्रेज तमाशा बन गया है। इस स्थिति में अपना वतन एक कड़ाई की तरह है जिसे सभी अपनी-अपनी आग से गरम कर रहे हैं और इसलिये सवाल जल रहे हैं, उबल रहे हैं।

इस हालत में अगर लेखक विकल्प प्रस्तुत नहीं करते तो उन्हें लेखक सिर्फ-शिष्टतावश ही कहा जा सकता है। यह कतई जरूरी नहीं है कि साहित्य, विचारधारा या मूल्यांकन सम्बन्धी मान्यताओं के प्रत्येक पक्ष पर वह फतवे सुनाने लगे—लेकिन अब यह भी बरदाश्त नहीं होता कि हम एक गोल चक्कर में ही घूमते रहें और कहीं भी, निश्चित मत बनाने से लजाएँ कि कहीं कोई हमें कुछ बुरे विशेषण फेंक कर न मार दे।

सन्देह युग में, पूर्व कल्पना (हायपोथीसिस) के रूप में ही सही, साहित्य चिन्तकों को अपना मत निर्भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करना होगा अन्यथा हम ढलान की ओर लुढ़कने को ही मानव नियति माने बैठे रहेंगे और यह भी जरूरी है कि अपने विकल्प के विरोधी मतों की निर्भय होकर आलोचना की जाय। अपने मत की पुष्टि में 'ज्ञान को ज्ञान से काटने" के नियम का जितना ही अधिक पालन किया जायगा, उतना ही पाठक का विश्वास जीता जा सकेगा। इस दृष्टि से ये निबन्ध एक खोज, एक तलाश के रूप में ही देखे जाने चाहिए।

समय-समय पर लिखे गये और 'माध्यम', 'आलोचना', 'समालोचक' आदि पत्रों में प्रकाशित तथा परिसंवादों में पठित और चर्चित निबन्धों के अतिरिक्त कुछ निबन्ध यहाँ प्रथम बार ही प्रकाशित हो रहे हैं, बाहरी क्रम का इनमें अभाव है।

इस संग्रह में कुछ निबन्ध एकदम "असारस्वत" किस्म के हैं, शायद ऐसे ही कुछ स्थल और "अनिबन्ध" निबन्धनुमा निबन्ध हैं।

अगर इन निबन्धों से कोई हिला या तिलमिलाया, कोई हँसा या फँसा, कोई बिगड़ा या उखड़ा कोई जला या भुलसा, कोई खिन्न या प्रसन्न हुआ—या यह सब एक साथ हुआ तो समझूँगा, मेहनत कामयाब रही, लेकिन अगर

पाठक में सृजनात्मकता और सत्य के प्रति सही जिज्ञासा उत्पन्न हो सकी तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

"जलते और उबलते प्रश्न" का मुखपृष्ठ, जयपुर के प्रसिद्ध नवचित्रकार श्री प्रेमचन्द्र गोस्वामी ने तय्यार किया है। नवकथाकार श्री विशन शर्मा, श्री हरिनारायण शर्मा "महर्षि" के सहयोग के बिना प्रश्न मेरे मन में ही जलते उबलते रहते वे पुस्तक रूप में प्रकाशित और प्रसारित नहीं हो पाते, इसलिये ये "मित्र" मेरी कृतज्ञता के पात्र हैं।

जयपुर के "सर्वहारा" प्रकाशक श्री रोशनलाल जैन इस पुस्तक का प्रकाशन कर रहे हैं उनकी साहसिकता सराहनीय है।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

साहित्यालोचन—धारणा और पद्धति[1]

"काव्य की आत्मा 'रस' है," काव्य म बिम्ब नित्य-सम्बन्धी बन कर रहता है,[2] वक्रोक्ति के बिना काव्य की सत्ता नही होती, काव्य या साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब होता है जैसे, वाक्य धारणात्मक हैं। ये धारणाएँ वस्तु के स्वरूप को निर्देशित करने के लिए सक्षिप्त अभिव्यक्तियाँ होती हैं। जैसे जनतन्त्र शब्द धारणात्मक है, जिसमे यह स्थिति निर्देशित है कि राज्य की यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमे साधारण जनता अपने प्रतिनिधियो द्वारा शासन करती है। ये धारणाएँ निष्कर्ष रूप म, परिभाषा रूप मे और सामान्यत सिद्धान्तरूप म प्रस्तुत की जाती हैं।

धारणा और वर्ण्यविषय या परिस्थिति मे जब तक निकटतम सम्बन्ध होता है, तब तक धारणाओ द्वारा वस्तु को समझने म सहायता मिलती है किन्तु वस्तु का स्वरूप, विशेषरूपत आविष्कृत वस्तु का युगानुरूप परिवर्तन, धारणाओ म संशोधन की माँग करता है। उदाहरणत हम आज के विज्ञान को प्राचीन विज्ञान की धारणा व्यवस्था[3] द्वारा नही समझ सकते, अतएव आधुनिक विज्ञान को नवीनधारणा-व्यवस्था की आवश्यकता हुई और विशेषीकरण के इस युग म आज स्थिति यह है कि प्रत्येक शोध-पद्धति की एक अपनी धारणा-व्यवस्था है जिसम रोज बरोज परिवर्तन परिशोधन चल रहा है। वास्तविकता की चुनौती को स्वीकार करते ही, बार-बार धारणाओं का परीक्षण एक स्वीकृत विधि है। साहित्यालोचन अथवा कलालोचन मे भी यही प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है किन्तु साहित्य-कला के क्षेत्र म यह प्रक्रिया धीमी रहती है।

इस प्रवृत्ति के अनेक कारण है, जिनमे एक प्रमुख कारण यह है कि प्राचीन युगो म भौतिकी और जीवविज्ञानादि की तुलना मे प्राचीनो की

---

१ इस निबन्ध मे धारणा Concept के अर्थ म और पद्धति Methodology के अर्थ म प्रयुक्त हैं। —लेखक

2 The image is the constant in all poetry—The Poetic Image C Day Lewis T o Clark Lectures, London, 1946, page 17

3 Conceptual frame work

पहुँच सामाजिक, सांस्कृतिक, कलात्मक क्षेत्रो मे अधिक थी।[1] फिर भी इन क्षेत्रो मे भी, आधुनिक युग म अन्धानुकरण नही चल सकता। वास्तविकता तो यह है कि प्राचीनो की धारणा व्यवस्था मे पूर्ण परिवर्त्तन आवश्यक है, हाँ उनकी "पहुँच" और "पकड" से लाभ उठाया जा सकता है।

आधुनिक साहित्यालोचन पद्धतियो म शास्त्रीय गतानुगतिकतावाद, शास्त्र सशोधनवाद,[२] द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद, प्रभाववाद[3] तथा मनोविश्लेषणवाद प्रमुख प्रवृत्तियाँ है। इन पद्धतियो मे अन्य पद्धतिया से भी यथास्थान सहायता ली जाती है, यथा शास्त्रीय आलोचना मे "सशोधन सकेत" ही अधिक होते हैं। अभी तक शास्त्रीय आलोचना मे इतिहासवाद, मनोविश्लेषण और प्रभाववाद के मिश्रित रूप ही मिलते है, उसका कोई समन्वित निश्चित रूप सम्मुख नही आया है। इसी तरह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी धारणव्यवस्था पर आधारित साहित्य परीक्षण म भी मनोविज्ञान को भौतिक या यथायशोधक प्रयोग मानकर उसका यथा स्थान प्रयोग किया जाता है।[४] प्रभाववादी पद्धति भी सर्वथा शुद्ध रूप मे नही मिलती। वह भी यत्र तत्र अन्य विधियां का यत्किंचित प्रयोग करती है।

द्रष्टव्य यह है कि जीवन के प्रति दृष्टिकोण से उपयुक्त पद्धतिया जुडी हुई हैं। धारणा और पद्धति का यद्यपि नित्य सम्बन्ध नही माना जाता, क्योकि आज, जसाकि हम आगे देखेंगे, शोधक पद्धति को अपना लेते है,

---

1 Whereas Aristotle s logic ethics aesthetics politics and psychology were accepted as authoritative by subsequent periods his notions of astronomy, physics and biology were progressively being relegated to the scrap heap of ancient superstitions

–Ideology and Utopia–Karl Mannheim Preface Louis Wirth, P, XVI, London, 1948

२ द्रष्टव्य—डा० नगेन्द्र का 'रस सिद्धान्त"

३ "अत्याधुनिक" समीक्षा का स्वरूप समग्रत प्रभाववादी है।

४ उदाहरणत मानव चेतना का समाज द्वारा परिवर्त्तन (पावलाव), भूतकालीन प्रभावा के अध्ययन क लिए जुग का "सामूहिक अवचेतन", परम्परा और परिवश के अध्ययन के लिए–मनोविज्ञान की सहायता आदि प्रवृत्तियाँ द्रष्टव्य हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण का भी प्रयोग कई प्रगतिवादी विचारको ने किया है परन्तु यत्र तत्र ही। अब फ्रायड, एडलर, जुग आदि का महत्व गौण होता जा रहा है।

धाराणाओं को या तो छोड़ देते हैं अथवा उनमें संशोधन कर लेते हैं। फिर भी धारणा और पद्धति का सम्बन्ध घनिष्ठ होता है और यदि किसी के केन्द्रगत-धारणा विन्यास को पकड़ लिया जाए तो उसके द्वारा प्रयुक्त पद्धति या पद्धतियों के प्रयोग के स्वरूप या केन्द्रगतधारणा के निकट पाया जायगा।

साहित्यसृष्टि की भाँति साहित्यालोचन भी अन्तर्दृष्टिपरकअधिक होता है। जब कवि अपने निष्कर्षों, संवेदनों, भावों और कल्पनाओं को किसी कृति के रूप में उनके प्रयोग करता है, यह न कवि प्रयोग द्वारा प्रमाणित कर सकता है, न आलोचक, क्योंकि साहित्य और कला द्रष्टा (भोक्ता) और वास्तविकता के 'द्वन्द्व' और 'संगति' का परिणाम हैं। कहीं साहित्य-रचना में जीवन की अनुकृति होती है, कहीं पुनसृजन, कहीं परिवर्तन, कहीं समर्पण, कहीं सुधार, कहीं मात्र ऐन्द्रिय संवेदनों का चित्रण। किन्तु इन सभी क्रियाओं में दो तत्व मामान्य हैं, व्यक्ति और वास्तविकता। तीसरा तत्व है इन दोनों का आपसी सम्बन्ध। इस सम्बन्ध या सम्पर्क का स्वरूप जैसा होगा, कला-पद्धति भी उससे अवश्य प्रभावित होगी। इसी प्रकार साहित्यालोचन में भी वास्तविकता के प्रति अनुसंधानकर्ता की धारणा के अनुसार उसकी पद्धति प्रभावित होगी।

व्यक्ति की वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया, साहित्य में अन्तर्मुखी होकर ही व्यक्त होती है, अतः जब तक किसी ऐसे यन्त्र का आविष्कार नहीं हो जाता कि सृजन प्रक्रिया प्रारम्भ होते ही शरीर से सटे यन्त्र द्वारा अवयव सम्थान या स्नायुमण्डल की पूर्ण प्रतिकृति हमारे सम्मुख उपस्थित हो सके, तब तक "अन्तर्दृष्टिवादी पद्धति"[1] का प्रयोग अवश्य होगा। यदि इस विधि द्वारा अन्य व्यक्ति की चिंतन प्रक्रिया दिखाई नहीं जा सकती तो प्रत्येक की अन्तर्दृष्टि अपने अपने गतानुगतिक संस्कार, परिस्थितियों आदि के कारण भिन्न होगी। अतएव सहमतियों के साथ, असहमतियों का विकास भी साथ ही-साथ होगा और यह प्रक्रिया या चलती रहेगी—सृजन प्रक्रिया—सहमति + असहमति—सहमति—असहमति—समाधान—सहमति—असहमति।

साहित्यालोचन में द्वितीय पद्धति "अवयव विश्लेषणवादी" पद्धति है। यह पद्धति भी बड़ी पुरानी है। उदाहरणतः भरत मुनि ने 'रस' की निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव, संचारी, स्थायी की अलग अलग व्याख्या की है और इनके विशिष्ट समीकरण से 'रस' की निष्पत्ति सिद्ध की है।[2] आज भी साहित्य में

---

१ Introspection

२ इस धारणा में 'भाव' और वास्तविकता की अभिज्ञा (Cognition) के सम्बन्ध पर बिल्कुल बल नहीं दिया गया। वास्तविकता के प्रति एव

बुद्धितत्व, कल्पनातत्व, भावतत्व पर विचार होता है और फिर यह भी कहा जाता है कि इन सब की विशिष्ट सृष्टि ही साहित्य या सौन्दर्य है। रोचक तथ्य यह है कि क्रोसे जैसे इस अवयव विश्लेषणवाद के घोर विरोधी को भी प्रस्तुत किया जाता है, और साथ ही भामह, वामन, उद्भट, जयदेव जैसे अवयव विश्लेषण वादियों को भी। किन्तु अभी तक एक "अवयवीवादी" पद्धति का प्रयोग भूमिका और उपसहार मे ही दिखाई पड़ता है। जैसे प्राचीन आचार्य एक समग्रतावादी प्रारम्भ के बाद, तुरन्त 'विभाजनवाद' अपना लेते हैं, क्योंकि वह सुविधाजनक है, उसी प्रकार 'अवयववादी पद्धति' का प्रयोग हमारी आलोचना मे अधिक है। कला-साहित्य सम्बन्धी सामान्य प्रश्न (कला साहित्य के प्रयोजन, जीवन से इसका सम्बन्ध आदि) मे भी अवयवीवादी दृष्टिकोण विकसित नही हो पाता। अवयववादी (Atomistic) विधि का ही अब भी अधिक प्रयोग होता है।

अवयवीवादी पद्धति की पृष्ठभूमि मे धारणा यह है कि वस्तुनिरीक्षण मे हम वस्तु के "पूर्ण" रूप को देखते हैं, अवयव विशेष को नही। साहित्यालोचन के शब्दो मे हम 'काव्य' या कथा के समग्र-सौन्दर्य या 'सार्थकता' या 'रूप' को सर्वप्रथम देखते हैं किसी अलकार, रस रीति वक्रोक्ति आदि को नही। इनकी ओर बाद मे ध्यान दिया जा सकता है। धारणा की दृष्टि से यह बात पुरानी है। किन्तु इसको गस्टाल्ट मनोविज्ञान ने प्रायोगिक आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है, इसलिए वह अधिक उपयोगी हो गया है।

गस्टाल्टमत अतर्दृष्टिवाद[1] का घोर विरोधी है, पर वह व्यवहारवादियो की तरह जीवन को यान्त्रिक भी नही मानता। वह 'प्रत्यक्ष-अनुभव'[2] - (सामान्य ज्ञान पर आधारित, यथा यह कुर्सी है यह पुस्तक है, मैं क्षुब्ध हूँ, वह रो रहा है आदि अनुभव) को भी मानता है। गस्टाल्ट मत तटस्थ अध्ययन

अपरिवर्तनवादी या यथास्थितिरक्षक दृष्टिकोण के कारण भारतीय काव्यशास्त्र केवल रसवाद के आधार पर, अमूर्त कला और उससे प्रभावित नवीन काव्य का सही विश्लेषण नही कर सकता। क्योंकि इसमे "वास्तविकता की अभिधा" पर ही बल अधिक है अनेक सचारियो द्वारा किसी एक स्थायी भाव की रससिद्धि पर नही, हा, ध्वनि" को कलमात्र की अनिवार्य प्रक्रिया माना जा सकता है।

1 It makes his introspection a mere defense of medieval darkness—Gestalt Psychology W Kohler Mentor Book, New York 1959, P 11

2 Direct experience

और प्रमाण चाहता है, जिसके लिए दृष्टि में अनुभूति की निजता और रुचि की विशिष्टता, अथवा अतमु खी अंश को बहिष्कृत करना आवश्यक है।

अतएव इस मनोविज्ञान के अनुसार अतदृष्टिपरक तथा अनुभव या वस्तु का अवयवो में विभाजित करने की पद्धति गलत है। हमारे आलकारिकों की तरह, प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक भी प्रारम्भ में अनुभव को अवयवविभाजनवाद पर ही आधारित करके व्याख्यायित करने लगे थे। वुड, टक्नर आदि अवयव से अवयवी की ओर चलते हैं, जबकि सही पद्धति यह है कि अवयवी से अवयव की ओर चला जाए। क्योंकि अवयवो का मुख्य योगदान 'पूर्ण' या 'अवयवी' की सृष्टि है।[1] साथ ही समग्रता से देखने पर ही कारण-न्याय सग्रथित हो सकते हैं।

वर्दीमियर (Werthcimer) ने आकृतियो की गति पर कार्य करके यह सिद्ध किया कि दृष्टि के विषयो में अशी या अवयवी ही अवयवो को अनुशासित रखता है। अशो या अवयवो (शब्द अलकार, भाव, विचार, कल्पनादि) को भिन्न भिन्न प्रकार से प्रयुक्त करने पर भिन्न भिन्न अवयवी ('सौन्दर्य या 'अशी द्रव्य) प्राप्त होते हैं। सगीत में 'स्वर' अवयव हैं, राग अवयवी है। इसी तरह ततुओ से विभिन्न 'वस्त्र प्रारूप' उभरते हैं।

इस 'पूर्ण' या 'अवयवी' में अवयवो का परस्पर सम्बन्ध तथा अवयवी का अवयव से सम्बन्ध समझना ही इष्ट है। कोई अवयवी निरपेक्ष नहीं है, कोई अवयव निरपेक्ष नहीं है। उदाहरणत सवेदन के विश्लेषण से पता चलता है कि "स्थानीय तेन्द्रिय सवेदन" भी निरपेक्ष नहीं होते। इन सवेदनो के ज्ञान में भी अवयवीज्ञानी पद्धति ही शरीर शास्त्र द्वारा प्रमाणित होती है।[2]

अत रचना की स्थिति में पूर्ण चेतना क्षेत्र सक्रिय रहता है। स्मृतियाँ, वर्तमान के प्रति प्रतिक्रियाएँ, आशाआकाक्षाएँ (भविष्य), उत्साह आदि भाव, और रूप निर्माणक्षम प्रज्ञा (कल्पना) अवयव या 'तत्व', जाने-अनजाने रूपो में प्रवृत्त होते हैं अत रचना यान्त्रिक प्रक्रिया न होकर, एक गत्यात्मक स्थिति है।

---

1 Contemporary Psychology, R S Woodworth, Asia Publishing House, Bombay, 1961 P 122

2 Instead of reacting to local stimuli by local and mutually independent events the organism responds to the pattern of stimuli to which it is exposed and that this answer is *Unitary process, a functional whole* which gives in experience a sensory scene rather than a mosaic of local sensations —Wood worth, 134

किन्तु जिसे हम 'अलौकिक तत्व या शक्ति'[1] समझते हैं, वह वस्तुत भूतकाल कृत सस्कार या आत्मविश्वास प्राप्ति का मनोवैज्ञानिक उपाय मात्र है। अतएव गैस्टाल्टमत प्राणवत्तावाद (Vitalsim—बगसा) को प्रामाणिक नही मानता।

इस प्रकार मानव व्यवहार "चेतनाक्षेत्रशासित' रहता है और इस क्षेत्र मे अनेक अवयवो का आन्दोलन चलता रहता है। स्पष्टत इस मत म फ्रायड द्वारा कल्पित चेतन-अवचेतन के 'स्वतन्त्र क्षेत्र' स्वीकृत नही हैं, क्योंकि आत्मजागरूक चेतन अनुभव तथा शेष मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे कोई निश्चित दीवाल नही प्रमाणित होती। चेतन, अवचेतन दोनो एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और इनमे सगति भी बन जाती है। ये कोई परस्पर विरोधी और सवथा स्पष्ट तत्व नहा हैं—

"This dividing of the individual into distinct entities which are always warring against each other gives an unreal picture of what actually goes on in thought feeling and behaviour" (Wood worth P 191)

इसका अथ यह नही है कि फ्रायड की उक्त धारणाओ का त्याग कर उसकी मनोविश्लेषण विधि का सशोधित रूप म प्रयोग नही होगा, किन्तु उसका इतना अधिक सशोधन हो गया है कि अब उस "अनिर्देशित उपचार-विधि" कहते हैं।[2] फ्रायड के मनोविश्लेषण से कही अधिक विश्वसनीय गैस्टाल्ट मत का क्षेत्र सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव रचना (या व्यवहार) के विषय म विचार करते समय सभी सहअस्तित्ववान तथ्योपर विचार आवश्यक है ये सभी सहअस्तित्वी तथ्य "गत्यात्मक क्षेत्र" के सदृश हैं और इनम प्रत्येक अवयव एक दूसरे के प्रभावक है। यह सिद्धान्त यह भी मानता है कि रचना और व्यवहार का कारण वतमान काल है भविष्य और भूतकाल नही, जसा कि अध्यात्मवादी तथा साहचयवादी (Associationist) मानते हैं। परन्तु वतमान का भूत और भविष्य के सदर्भ से अलग नही किया जा सकता।

---

१ उदाहरणत प्रेरणावादी पद्धति म कवि को अलौकिक शक्तियो स आविष्ट माना जाता है। सुकरात ने भी इस दिव्य-आवेश की चर्चा की है।

२ फायड अपन प्रारम्भिक सोपान म प्रत्येक स्नायुरोग का कारण बचपन की दमित ग्रन्थियो म खोजते थे। किन्तु अब इसके स्थान पर एक Non-directive उपचार विधि प्रचलित है। इसमे रोगी को 'आत्म विवेचन" का पूर्ण अवसर दिया जाता है। अब उपचारक फ्रायडवादियो की तरह रोगी

प्रौढ जीवन मे दो ध्रुव होते है, अह और वातावरण। ये दो शीप चुम्बक शीप की तरह है जिनके मध्य म शक्ति या दवाव रहता है। ये सिरे निरन्तर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। प्रारम्भ म शिशु 'स्व' और 'पर' म भेद नही करता परन्तु फिर वह "निजता" का अनुभव करने लगता है, इससे 'अलगाव', "तनाव" और स्वय टढने लगता है। अह किसी वस्तु के शीर्ष की तरह न होकर एक सकुल और अनेक उपव्यवस्थाओ (Sub systems) से सयुक्त रहता है। यह अह कभी पूणत वातावरण के साथ "सतुलित" नही रहता, न वह कभी पूण विश्राम करता है, यह सवदा कही न कही गमनशील रहता है। अत इस "पूण स्थिति" (Gestalt) का दर्शन करना ही वस्तुत सही "अतद ष्टि" है। इस प्रकार यह मत "अ तद ष्टि" को एक नया अथ देता है— 'पूण-परिस्थिति का दशन"।

पशुओ पर किये गये अनक प्रयोगो द्वारा प्राप्त अन्तद ष्टि की इस नयी व्याख्या स तथा उपयु क्त चेतना क्षेत्र के गस्टाल्ट को ध्यान मे रखने पर हम किसी कलाकृति द्वारा सकेतित 'परिस्थिति-दशन" करके, फिर हम "जीवन की पूणता" क साथ उसकी तुलना कर सकते हैं और इसी तरह किसी कृति म अह विशय और वातावरण म टकराहट, सगति, समाधान, आदि का क्या रूप है इस भी समझा सकते हैं।

इस प्रकार साहित्य शिक्षण म भी छात्रो या श्रोताओ के सम्मुख सम स्याओ को इस तरह प्रस्तुत करना होगा कि व स्वत "पूणपरिस्थिति" (Total situation) पर विचार कर सक और उसक सन्दभ मे 'कलाकृति' का महत्व निश्चित कर सकें। इस पूणता की ओर अ य मानव विज्ञान हमे ले

के सम्मुख उसकी किसी दमित ग्रथि को लाकर उसे त्रस्त नही करता, क्योकि इस 'ग्रथि' की मनमानी कल्पना या स्वप्न की केवल रतिपरक व्याख्या अवज्ञानिक मानी जाती है। वस्तुत इस नवीन 'आत्मविरेचन' विधि का प्रयोग रचनाकारो के ऊपर भी किया जा सकता है। पूण विश्वास उत्पन्न कर तथा वास्तविक महानुभूति देकर, रचनाकार द्वारा आत्मविरेचन स, हम मनमानी "प्रतीकव्याख्या म कही अधिक स य क निकट पहुँच सकते हैं। किन्तु इसके लिए आलोचक और रचनाकार क बीच घनिष्ठ मत्री भाव अपेक्षित है। मात्र सम्पक म रचनाकार "सावधान" अधिक रहते हैं उनकी घोषणाओ के वक्तो-व्याघात की चिन्ता न कर, उनके अतमन की पट कही अधिक उपयोगी हो सकती है। परन्तु इस काय म आलोचक या नायक म घोर तटस्थता की आवश्यकता है।

जाते हैं और उनका सर्वदा आग्रह इसी तथ्य पर रहता है कि कृति या अन्य किसी का भी अध्ययन "परिस्थिति-सापेक्ष" (Situational) हो।[1]

गस्टाल्ट मनोविज्ञान से परिचय के बिना भी बहुत से चिंतकों का ध्यान उक्त Totality या समग्रता पर गया है। कालरिज का प्रसिद्ध वक्तव्य इस संदर्भ में पुनः स्मरणीय है—

'Images, however beautiful, do not themselves characterise the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by a predominant *passion* or *by associated thought* or images awakened by the passion.

यहाँ एकत्ववादी (Unitary) पद्धति ध्यान देने योग्य है। इस प्रकार साहित्यालोचन में साहित्य के अंगों को अलग अलग टुकड़ों में बाँटकर किया गया अध्ययन रीतिकालीन प्रवृत्ति है। टुकड़ीकरण और असंग्रथित दृष्टि पांडित्यप्रदर्शनपरक, अंधी और मानसिक दासता विधि है।[2]

इस समग्रतावादी पद्धति और धारणा के बाद यह प्रश्न उठ सकता है कि अंततः गस्टाल्ट मत भी पूर्णतः अंतर्मुखता पर विजय नहीं पा सका क्योंकि वह "प्रत्यक्ष अनुभव" का मान लेता है। तब क्या साहित्य का परीक्षण केवल प्रायोगिक हो सकता है?

सर्वप्रथम 'फ़ेकनर'[3]ने, प्रायोगिक सौन्दर्य शास्त्र का प्रवर्तन किया था। उसने 'मैडोना' के चित्रों की एक प्रदर्शिनी की और प्रत्येक दर्शक से अपनी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने के लिए कहा। किंतु ग्यारह हजार दर्शकों में केवल ११३ व्यक्तियों ने अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। इनमें भी फ़ेकनर द्वारा निर्देशित पद्धति और प्रश्नों का अनुसरण नहीं किया गया। दूसरी कठिनाई यह रही कि दर्शकों में कुछ "कला-आलोचकों" ने भी अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं, जो पूर्व से ही अपना निर्णय निश्चित कर चुके थे। फिर भी यह प्रयोग संभावनापूर्ण[4] माना जाता है। १८७६ ई० में फ़ेकनर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, सौंदर्य

---

१ कार्ल मानहीम द्वारा प्रतिपादित "ज्ञान का समाजशास्त्र" इसी धारणा पर आश्रित है—द्रष्टव्य—Ideology and Utopia

2 'The piecemeal attack is sometimes very pains taking but it is blind, stupid, slavish and pedantic"—Woodworth P 147

3 Gustav Theodor Frechner (1801–1887)

4 "Nevertheless the idea had merit and has been looked upon as the method of impression'—A History of Experimental Psychology E. G Boring, P 275

शास्त्र के प्रायोगिक परीक्षण और तत्सम्बन्धित धारणाओं पर, प्रकाशित की। इसमें प्रथम बार 'प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र' का रूप स्पष्ट हुआ।[1] यह आश्चर्य का विषय है कि फ़क्नर के बाद इस प्रकार के अनुसन्धान हुए ही नहीं। यत्र तत्र "प्रभाव" को लेकर जाँच पड़ताल अवश्य हुई है।[2]

यह एक तथ्य है कि प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र की बड़ी सम्भावनाएँ हैं, इससे आलोचना और शोध के पिष्टपेषित तरीकों में वैविध्य आ सकेगा और साहित्य और समाज के सम्बन्ध साहित्य के प्रभाव और सीमा तथा समाज की साहित्य के विषय में रुचि और प्रवृत्ति का प्रामाणिक विवरण मिल सकेगा। एक मनोविज्ञानवेत्ता ने 'आलोचना और शोध" पर यह आरोप लगाया कि आप लोग वास्तविक शोध के लिये 'कच्चा माल" मात्र दे रहे हैं, क्योंकि आप लोगों के पास कोई ऐसी वस्तुमुक्त पद्धति नहीं है जिससे वैयक्तिक तत्वों को निर्णयों में कम से कम बाधक होने दिया जा सके।

प्रायोगिक अध्ययन के क्षेत्र में समाज शास्त्र ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। "संस्कृति के समाज शास्त्र" की शाखा में लोक-साहित्य और शिक्षितों के साहित्य के सम्बन्ध और स्वरूप पर प्रयोगों और विस्तृत जाँच पड़ताल के बाद निष्कर्ष प्राप्त किये गये हैं। 'रुचि'[3] के अध्ययन के लिए "साहित्यिकों के समूहों" या गुटों" का अध्ययन किया गया है। संस्कृति, समाज और साहित्य के सम्मिलित अध्ययन के लिए 'एकत्ववादी' दृष्टि से काम लिया गया है।[4] इसी प्रकार 'अत्याधुनिक' बोधों और अनुभवों—यथा "अलगाव", 'भीड़", 'बौद्धिकों की स्थिति" आदि पर महत्वपूर्ण कार्य हो

---

१ Vorschulo der Aesthetic

२ राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में उपन्यासों के प्रभाव का प्रायोगिक अध्ययन कार्य हो रहा है। इसके अतिरिक्त अब तक प्रयोगों के लिए वर्जित क्षेत्रों में भी इस ओर प्रयत्न हो रहा है, जैसे 'जैनेन्द्र के कथा साहित्य में प्रयुक्त उनकी शैली का मानसतत्वपरक अध्ययन" में एक शोधार्थी एक अध्याय प्रयोगों के आधार पर लिख रहे हैं। इन 'प्रयोगों' में 'शैली' के "प्रभाव" का अध्ययन होगा और इसके लिए समाज के कई समूहों पर प्रयोग होंगे।

३ द्रष्टव्य—Sociology of Literary Taste —L L Schuking London 1950

४ —Culture and Crisis—Edited by F I Warnke New York, 1964

चुका है। किन्तु हमारी आलोचना में इन सबकी कोई चिंता नहीं की जाती। केवल "शुद्ध आलोचना क्षेत्र" में शताब्दियों पूर्व विकसित धारणाओं की टीका या व्याख्या ही पर्याप्त मानी जाती है और उसके 'संशोधन' भी वस्तुतः पिछड़ी हुई धारणा-व्यवस्था के ही अंतर्गत होते हैं। फलतः 'पुराना धारणावाद' नव्यतम साहित्य के स्वरूप, उसकी आकांक्षा, उद्देश्य आदि को स्पष्ट करने में बुरी तरह असफल हुआ है। इसमें दोष पुराने आचार्यों का नहीं, उनका वैज्ञानिक उपयोग न कर सकने वाली हमारी क्षमता का है।

सिद्धान्तवादी आलोचना की सीमाएं सम्भावनाए

'कवित्वगत' बिम्ब (The Poetic Image)[1] नामक पुस्तक म सी०
डी० लीविस न लिखा है कि आलोचना, कवि को असम्बद्ध प्रतीत होती है
क्योंकि आलोचको के वाचारम्भण स लेखक उलझन म पड जाते है, प्रत्येक
नवीन सृष्टि एक सर्वथा नवीन शुरुआत और एक भिन्न प्रकार की असफलता
होती है। आलोचना पूर्व आलोचना का विरोध कर सकती है किन्तु कविता
पूर्व कविता का विरोध नही कर सकती आलोचना म कविता (अथवा नाटय,
कथा आदि) स अमूर्त सिद्धान्ता का दोहन किया जाता है और फिर इनसे,
इन्ही के मुख्य स्रोत काव्य या साहित्य को आलोकित करन का प्रयत्न होता
है। यह प्रयत्न तब तक सफल नही हो सकता जब तक आलोचक 'रचना' के
लिए अपने को समर्पित नही कर देता, उस रचना की अन्तः ध्वनियो (Under
tones) को जब तक वह पकडने का प्रयत्न नही करता और जब तक वह
उसी प्रकार की आत्मविस्मृति नही प्राप्त करता जैसी कि रचनाकार ने सृजन
के क्षणो म प्राप्त की थी।

साराश यह कि आलोचना लेखक की मन स्थितियो म निमग्नता का
प्रयत्न है, वह सृजन प्रक्रिया के साथ तादात्म्य और तत्पश्चात उसके उद्घाटन
का कार्य है, सिद्धान्तो के आरोपण का नही। लेकिन वही लीविस महोदय उक्त
कृति म "बिम्बवाद" के सिद्धान्त का प्रवर्तन करते हैं अलंकार और बिम्ब का
अन्तर स्पष्ट करते हैं, सम्पूर्ण कविता को एक 'बिम्ब' मानते है और 'बिम्ब'
और "भावावेग" (Feeling Imotion) का श्रेष्ठ कृति मे नित्य सह
अस्तित्व प्रमाणित करते है।

लीविस और आधुनिक कला काव्य को समझने का प्रयत्न करने
वाले ऐसे ही अन्य विचारको को यह प्रतीत होती है कि मनुष्य और उसकी

---

1 The Poetic Image C D Lewis The Clark Lectures London, 1946

कृति की विवेकसंगत व्याख्या सम्भव है, उसका निदान किया जा सकता है, कार्यकारण व्यवस्था स्थापित की जा सकती है और क्योंकि मनुष्य ज्ञानगम्य है अतः उसकी 'कृति' भी ज्ञानगम्य हो सकती है।

किन्तु आधुनिक चिंतकों में बहुत से इस तथ्य को नहीं मानते कि मनुष्य ज्ञानगम्य है। कहा जा रहा है कि मनुष्य आज के युग में सीमातीत बोधों से रहित है, किन्तु समाज की विवेक संगत व्याख्याओं से जन्य "सामूहिकता" (पूंजीवादी, साम्यवादी दोनों व्यवस्थाओं में) और "बहिर्मुखता" का विरोधी है —

वह संवेदनहीन नौकरशाही और तकनीकी समाजों से पीड़ित है, राज्य के बढ़ते हुए सर्वग्रासी रूप से (दोनों व्यवस्थाओं में) आतंकित है, अतः वह 'व्यक्ति' की अनुपमता का विश्वासी है। इसके सिवा आज के विज्ञान ने सभी निश्चित मापदण्डों के आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया है। उदाहरणतः १८-१९ वीं शताब्दी के भौतिकवाद और अध्यात्मवाद—सभी निश्चिततावादी थे उसके पूर्व के विचार दर्शन तो नियतिवादी भी थे। किन्तु बीसवीं शताब्दी में निश्चिततावाद अप्रमाणित हो गया है। भौतिकी में बाह र" (Bohr) का पूरकता-वादी सिद्धान्त अनिश्चिततावाद को प्रमाणित करता है—इसके अनुसार भूतत्व (Electron) लहर भी है और परमाणु भी जैसा भी सन्दर्भ हो। यह कथन परस्पर विरोधी लगता है पर है सत्य। अतएव दार्शनिक नवीन तर्कप्रणाली का सुझाव दे रहे हैं, जिसमें 'व्याप्ति' को बहिष्कृत कर दिया जायगा। इस प्रकार विवेकवाद अविश्वसनीय है।

इसी प्रकार जिस गणित को विवेकवाद (Rationalism) का आधार माना जाता था, वह भी नवीन अनुसंधानों के द्वारा खंडित हो चुका है। गोदेल (Godel) ने सिद्ध किया है कि गणित असमाधानित समस्याओं का गिरोह है। वह मानव जीवन की तरह सदैव अपूर्ण रहेगा। गणितज्ञ कभी भी ज्ञान के मूलाधार पर नहीं पहुँच सकता क्योंकि ज्ञान का कोई मूलाधार ही नहीं है, अतः जब वस्तुपरक विज्ञानों में व्यवस्था और समाधान सम्भव नहीं है तब मानव जीवन में व्यवस्था किस प्रकार सम्भव हो सकती है? [1]

---

१ Heisenberg का अनिश्चिततावाद, १९२७ में प्रवर्तित (भौतिकी) Skolem गणितज्ञ ने सिद्ध किया (१९२९) —Elementary number system can not be formalized
Godel का सिद्धान्त १९३० में इसी वर्ष हैडेगर का अस्तित्ववादी दर्शनग्रन्थ Being and Time सम्मुख आया।

इस अनिश्चितता के कारण आधुनिक व्यक्ति पदार्थों के मूलरूप (Things themselves) की ओर जा रहा है, अत वह पूर्वयुगो के आग्रहो और मूल्यो को अस्वीकार करता है—यीटस की एक रचना है —

Now that my ladder's gone
I must lie down where all ladders–Start
In the foul rag and bone shop of the heart

इस स्थिति मे पूर्वयुगीन सिद्धान्तो क आधार पर साहित्य-समीक्षण कसे होगा ? आधुनिक अनिश्चितावादी 'सवसाधारण म विश्वास नहीं करता क्योंकि साधारण व्यक्ति की चेतना 'भूतनिर्मित'' होती ह। वह अपन अनुभवो को कबूतरखानो मे बाट कर सोता है। उसे आज की व्याधि का बोध नही है। वह कला से स्पष्टता की माग करता है पर क्या उसे मानव जीवन का समस्यात्मक रूप कुछ भी स्पष्ट है ? क्या पुराने मूल्य उपयोगी है ? कसे ? पुराना और नया 'मानववाद' और 'उन्नतिवाद' एक प्रवचना है, भ्रम है। आज की कला और कविता म मनुष्य की चेतना की गति को समान्तर माना जाता है, लम्बगामी (Vertical) नही, उसम भूत भविष्य एक ही क्षण मे चित्रित होते हैं यथा 'यूलिसिस' और ''वेस्टलण्ड'' म, फाकनर के 'साउण्ड एण्ड फ्यूरी' म, एजरा पौंड के 'क्टोज' म। परन्तु पुरानी कला म एक वस्तु केन्द्र म रहती थी अन्य सब उसी के अधीन रहते थ (काव्य म स्थायी भाव केन्द्र म, सचारी उसी के अधीन) इसक द्वारा जो चरमसीमा प्रस्तुत की जाती थी, वह आधुनिक कला म समाप्त हो गई है। चित्र और कविता म आज प्रत्येक स्थान (Space) या क्षण महत्वपूण है। एक ही आदमी के शरीर के टुकडे सारे 'स्पेस' पर फलाए जा सकते हैं, इसी तरह साहित्य म क्षणो का—व्यतिक्रमपरक सजन होता है अर्थात कला और काव्य का ढांचा ज्ञानगम्य नही है, उसी तरह जीवन ज्ञानगम्य नही हैं। जिसे 'अन्विति' कहा जाता है, उसका अहसास प्रत्येक लेखक का अपना अपना है। अरस्तू के नियम 'यूलिसिस' पर लागू हो नही सकते। जहा कथा का क्रम है, वहाँ भी उस भग कर दिया जाता है, जसे कि नकला म बाहरी साहश्य का नाश किया जाता है ताकि आतरिक साहश्य प्राप्त हो सके।

जिस तरह बाह्य सृष्टि (Cosmos) अबुद्धिगम्य है, उसी प्रकार मनुष्य बुद्धिगम्य है और उसकी कला भी। आज उदात्त और अनुदात्त का भेद नष्ट हो गया है, सुन्दर असुन्दर का भाव लुप्त हो गया है वास्तविकता अनिश्चय है समस्यात्मक है और यह बोध भी स्वत स्फूर्त है, धारणागत नही,

जो धारणागत है, वह आधुनिक नहीं है ।[1]

आलोचना के प्रचलित रूपों में–शास्त्रीय और मार्क्सवादी आलोचना मनुष्य को बोधगम्य मानकर चलती है, किन्तु मनोविश्लेषणपरक और दार्शनिक आलोचना जिस प्रकार सत्य के निकटतम बिन्दु को स्पर्श करने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार शास्त्रीय आलोचना, और मार्क्सवादी आलोचनाएँ भी मानवकार्यकलाप का अध्ययन कर, सत्य के निकटतम बिन्दु को स्पर्श करने का प्रयत्न करती हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह स्मरणीय है कि उक्त विभाजन आत्यंतिक नहीं, व्यावहारिक है क्योंकि एक विधि के लिए दूसरे क्षेत्रों में बहुत सी सहमतियाँ मिल जाती हैं।

दूसरा तथ्य यह है कि आधुनिक कला कविता के अस्तित्ववादी चिंतकों के पूर्वरूप विवेकवादविरोधी स्वयंप्रकाशज्ञानवादी–सम्प्रदायों में मिलते हैं। अस्तित्ववाद मूलतः मवनाशआन्तरिक दर्शन है, शाश्वत दर्शन नहीं। विलियम बरिट ने अस्तित्ववाद की परम्परा हिब्रू परम्परा में खोजी है जबकि योरोपीय सभ्यता मूलतः ग्रीक विवेकवाद पर विकसित हुई है अतः जैसाकि भारत का प्राचीन साधना इतिहास साक्षी है, विवेकविरोधी साधक सर्वदा 'प्रातिभज्ञान' का अवलम्बन लेकर ही चले, थे, तभी वे बाह्य व्यवस्था की असंगतियों का उग्र विरोध कर सके, जैसा कि आज के 'आधुनिक' कर रहे हैं।

'प्रातिभज्ञानप्रधान' कला और काव्य सर्वदा आतरिकतावादी होते हैं। बाह्यनियमों के आधार पर वस्तुतः उनका मूल्यांकन सम्भव नहीं होता। प्रातिभज्ञानप्रधान कला सर्वदा सूक्ष्म और ध्वनिप्रधान होती है अतः अरस्तू के नियमों अथवा अलंकार, रीति जैसे सम्प्रदायों द्वारा नहीं अपितु शास्त्रीय आलोचना में 'ध्वनिवाद' द्वारा आधुनिक कला और साहित्य को मूल्यांकित करने में सहायता मिल सकती है। किन्तु युगानुरूपता की सिद्धि समाजशास्त्र और इतिहास (मार्क्स, वेबर, मनहीम आदि) द्वारा ही सम्भव है। उदाहरणतः प्रसिद्ध भारतीय तादात्म्य सिद्धान्त के द्वारा हम स्रष्टा के मन की गतियों और उसके स्वरूप का हृदयंगम कर सकते हैं। यह सम्भव है, अन्यथा आधुनिक स्रष्टा सहचिंतक', 'सहभोक्ता' जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। इस सोपान पर हम मनोविश्लेषण विधि से सहायता मिल सकती है, बशर्ते हम इस तथ्य पर ध्यान रखें कि मनुष्य का अवचेतन और

---

1 Irrat onal man william Barret, New york 1958 Page I–57

उपचेतन केवल वर्जित कामभाव का अवशेष ही नहीं है, अपितु उसमे अनेक प्रकार की दमित इच्छाएँ सुषुप्त रहती हैं, और यह भी कि चेतन और उपचेतन मे द्वन्द्वात्मक क्रिया प्रतिक्रिया चलती रहती है अत 'तादात्म्य' और साथ ही सावधान चिंतन की तटस्थता द्वारा हम स्रष्टा के मन की गहराइयो का स्वरूप समझ सकते है (तादात्म्यात न का सिद्धि —अभिनवगुप्त) ।

प्रश्न होगा कि इस तादात्म्य विधि द्वारा परमनप्रवेश के क्षण मे, द्रष्टा के पूर्वाग्रह साथ रहेगे या वे कम से कम कुछ समय के लिए निलम्बित रहेगे ? इसका उत्तर यह है कि मानव चेतना किसी भी क्षण शून्यवत् नही होती लेकिन शून्यताके क्षणो का अनुभव यह प्रमाणित करता है कि हम पूर्वाग्रहो से एक सीमा तक मुक्त होकर देख सकते हैं। यही मानव सामर्थ्य है, जिसके द्वारा यह कहा जाता है कि अपने नजरिए से नही, मेरेनजरिए से देखो। साराश यह है कि दूसरे की दृष्टि से हम देख सकते हैं और उस दृष्टि से प्राप्त दर्शन पर हम बाद मे विचार कर सकते हैं अतएव मनुष्य भले ही पूर्णत बुद्धिगम्य न हो लेकिन—वह अपूर्णत अवश्य बुद्धिगम्य है। इस कार्य म पूर्णता के लिए प्रयत्नशील बने रहना ही वैज्ञानिक दृष्टि है, अपूर्णता का अहसास भी पूर्णता की ओर जाने का एक उपक्रम ही है। इसके सिवा 'बुद्धिगम्य' का अर्थ यह नही है कि बुद्धि से समझते समय चेतना की अन्य शक्तियाँ या स्तर सोये हुए रहते है उदाहरणत 'ज्ञानप्रक्रिया' मे स्मृति, प्रातिभज्ञान और विवेचनात्मक शक्ति—तीनो कार्यरत रहती हैं या रह सकती हैं। 'धारणावाद' के घोर विरोधियो को भी प्रेषणीयता के लिए धारणाओ का ही सहारा लेना पडता है, इसका अर्थ यह नही है कि ज्ञानप्रक्रिया मे केवल 'धारणात्मकता' ही सक्रिय रहती है।

तादात्म्यविधि से सर्जन के समय कलाकार की मन स्थितियो को अपने समक्ष रखकर, हम 'कारणकार्यविधि' अपना सकते हैं। कारणकार्यविधि का अर्थ है, किसी अनुभव या भाव की पूर्वानुभव या पूर्वभावसंपदा के साथ तुलना तथा उसकी युगानुरूपता का निर्णय। यहाँ समाजशास्त्र और इतिहास हमारी सहायता करता है। कलाओ और साहित्य मे मानवता की आतरिक छवि प्रस्तुत होती है, यह तो आधुनिक भी मानते हैं। ऐसा क्यो होता है ? प्रत्येक युग मे इनकी विशिष्टता क्या है, क्या है ? आज रोमानी कला और कविता क्यो पसन्द नही की जाती ? द्विवेदीयुग मे रोमानी कविता क्यो नवीन और आधुनिक थी ? हजारो कवि और साधक भक्तियुग मे हरिभजन क्यो करते रहे ? रीतिकाल म उन्ही कवियो की सतान—"उमरदराज महाराज .. चाहिए" क्यो कहने लगी ? नए युग म पुराने युगो के विषय और प्रतीक

चलते हैं ? जवी दृष्टि मे अत्यन्त शन शन परिवर्तित होने वाला मनुष्य अपनी जवी सम्पत्ति (Biological) का अपनी आवश्यकताओ और मूल्यो के द्वारा किस प्रकार नियमन, उन्नयन करता है ? इस तरह के परिप्रेक्ष्यपरक प्रश्नो के उत्तर इतिहास परक दृष्टि से ही मिल सकते हैं। ये ही विचार कला को समसामयिकता और आधुनिकता का निर्णय करते है और सामाजिक प्रगति और अधोगति के साथ कला का सम्बन्ध स्थापन ये ही—इतिहासपरक विचार कर सकते है। 'दर्शन' यह काय "इतिहासदर्शन" द्वारा कर सकता है। जो आधुनिक लेखक आग्रह करे कि यह सब "असम्बद्ध" है, तो वह उपक्षणीय है क्योकि साहित्य और कला की वास्तविकता निरपेक्ष नही होती।

आलोचना के ततीय स्तर पर शास्त्र हमारी सहायता कर सकता है, इसका अथ यह नही कि उपयु क्त दो स्तरो पर शास्त्र मे विचार नही है। कम से कम भारतीय काव्यशास्त्र और कलाशास्त्र (शिल्प शास्त्र) कला को नियतिकृतनियम रहित, परमस्वतन्त्र आदि विशेषण देकर भी उसे प्रयोजनहीन नही मानता और जहा प्रयाजन है वहा मूल्य है प्रयोजनहीनता की घोषणा के बावजूद आधुनिक कला का भी प्रयाजन है।

आधुनिक चित्रकला और काव्यादि म जिस बाह्यानुरूपता का विरोध है उसका प्रयोजन है। कलाकार "ध्वनित" करना चाहता है, ध्वन्यालोक' का 'ध्वनिवाद' अपन युग तक के साहित्य पर आधारित था अत वहा पद, पदार्थ, वाक्य आदि को ध्वनियो का व्यजक बताया गया है—आज की कला मे ध्वनियो के अनेक रूप हैं जिनम मुख्यत सन्दभगत ध्वनिया है जो वक्ता, बोधा, आदि के वशिष्ट्य द्वारा ध्वनित होती है—कला मूलत ध्वनि है, यही बात 'लीविस' इन शब्दो मे कहते है —

> Unless the critic has brooded over the poem Surrendered himself to it absolutely Strained his ears to catch its remotest undertones with the same absorption that the poet gave to the experience from which it was shaped (1)

इस ध्वनन प्रक्रिया को आनन्दवधन और अभिनव ने विस्तार से सम भाया है, उसे यहा दुहराना व्यथ ह परन्तु ज्ञातव्य यह है कि आनन्दवधन और अभिनव अपनी 'रुचि" मे अनुशासित थे क्योकि भावुकता प्रधान साहित्य

1 The poetic Image page—16

ही, इस देश की विशेष परिस्थितियों के कारण, श्रेष्ठ माना जाता था अन यह आज भी एक अखण्ड सिद्धान्त है, कला ध्वनि है, कथन नही। 'ध्वनित' मे कौन श्रेष्ठ है, इस पर विवाद हो सकता है। भारतीय आचार्य बहुमत से 'रसध्वनि' को श्रेष्ठ मानते हैं और यह सत्य है कि तब तक रसपरक काव्य ही सचमुच श्रेष्ठ था। आधुनिक कला और साहित्य न सीधी-सादी रसविधि को समाप्त कर दिया और आधुनिक चित्रकला की तरह परम्परागत सभी विधियो, प्रारूपो और विषयो को छोड़कर ध्वनित विषयो और ध्वनि स्वरूपो के नवीन अनुसन्धान किये। चित्रकला मे तो ध्वनि इतनी सूक्ष्म और स्रष्टा-द्रष्टापरक हो गई कि शीर्षक न बताने पर विभिन्न दर्शक एक ही चित्र से विभिन्न ध्वनियो को ग्रहण करते हैं। इसी तरह कविताओं म शीर्षक हटा देने पर बहुत सी रचनाओ म व्यग्यार्थों का वैविध्य ग्रहण किया जा सकता है और वास्तविकता तो यह है कि "एब्सर्डिटी" जसी आधुनिक स्थितियो की व्यजना मे आज की कविताएँ इतनी अद्भुत हो गई है कि इन्हे आप "अद्भुत ध्वनि" भी कह सकते हैं।

भले ही 'रसध्वनि' की जगह वस्तु या बिम्बध्वनियो (अलकार ध्वनि) का यह युग अपने को चाहे जैसा विलक्षण समझे किन्तु शास्त्रो ने काव्य का यह मम समझ लिया था कि वस्तु और बिम्बध्वनियो म भी 'राग' या 'भाव' का स्पश अनिवाय है, क्योकि "कविगत बिम्ब" वही साथक होता है जहाँ मनुष्य की आतरिकता या वह स्तर भी कम्पित हो, जो मनुष्य की सक्रियता का मूल्य अवलम्ब है। लीविस न भी इसीलिए कोलरिज की ये प्रसिद्ध पक्तियाँ उद्धत की हैं जो भारतीय शास्त्रो द्वारा भी समर्थित है क्योकि यहाँ तो कला को भावना का क्षेत्र ही माना गया है—

Images however beautiful do not themselves characterize the poet They become proofs of original genius only as far as, they are modified by a predominant passion or by associated thought or images awakened by the passion

इस सशोधित शास्त्रवाद (अलकार की जगह 'बिम्ब' ग्रहण, बिम्ब केवल कविता म आगत बिम्ब ही नही होते अपितु पूरी कविता भी एक 'बिम्ब' होती है) के आधार पर लीविस ने अनेक उदाहरण देकर आधुनिक कविताओ का मूल्याकन किया है और अग्रेज आलोचकों मे प्रसिद्ध "कामनसेंस" के कारण काव्य और जीवन की एकता स्वत ही उनके विवेचन म आ गई है।

साराश यह है कि भारतीय ध्वनिवाद आज भी उपयोगी है परन्तु स्पष्ट शायद यह है कि हम किसी सिद्धान्त का अन्धानुकरण नही कर सकते।

मार्क्सवाद का भी नहीं, वास्तविकता के संदर्भ में 'संशोधन' ही एकमात्र उपाय है।

यह स्मरणीय है कि आधुनिकों में डा० जगदीश गुप्त ध्वनि सिद्धान्त को अधिक महत्व देते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय काव्यशास्त्रों और शिल्पशास्त्रों में अनेक सूत्र ऐसे हैं, ऐसे मेधा-आलोक (Flashes) हैं, जो हमारे विवेचन में सहायक हो सकते हैं। कारण यह है कि कश्मीरी काव्यशास्त्री अधिकांशत मिद्धपरम्परा के साधक आचार्य थे, कोरे बुद्धिवादी पंडित नहीं। आधुनिकों की तरह आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त प्रातिभज्ञानवादी थे और भरत तो स्मृतियों और वैयाकरणों की कट्टर परम्परा के घोर विरोधी थे। परम्परा के अंध विरोध के नाम पर आधुनिक नवयुवक सब को एक साथ जेल भेज देते हैं।

हिन्दी आलोचना में भी सभी तरह के आलोचक हैं। 'रसवादियों' ने भी रस की शास्त्रीय धारणा में संशोधन प्रारम्भ कर दिया है किन्तु फिर भी रसाग्रह के कारण विश्वविद्यालयों में आलोचना की "आधुनिक विधि" का प्रयोग नहीं हो रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र की शिक्षा-दीक्षा में ही छात्र इतना आतंकित हो जाता है कि या तो वह परम्परा को छोड़कर ही चैन की साँस ले पाता है अथवा परम्परा का स्वस्थ प्रवृत्तियों की छानबीन न कर मम्मट द्वारा की गई समन्विति को आदर्श मान लेता है। अत सैद्धान्तिक आलोचना में या तो 'जानकारी प्रदर्शन' होता है या फिर अंधानुसरण। 'उद्धरणवाद' इसी दोष का फल है उद्धरण समर्थन या विरोध के लिए होते हैं, प्रदर्शन के लिए नहीं।

व्यावहारिक आलोचना में आलोचना का भविष्य अधिक उज्ज्वल लगता है क्योंकि किसी कृति पर विचार करते समय आलोचक विभिन्न विधियों का प्रयोग कर सकता है अतएव रसवादी आलोचक मनोविश्लेषक भी हैं और मार्क्सवादी आलोचक, शास्त्रों का भी अपनी दृष्टि से प्रयोग करते हैं और आधुनिक ज्ञान विज्ञान का भी (नृतत्त्वशास्त्र समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन आदि)। अब तक प्राचीन धरोहर की जाँच पड़ताल भी पूरी नहीं हो पाई है, पाश्चात्य सिद्धान्तों का अवतरण भी अभी तक पूरा नहीं हो पाया है अत जो विद्वान इन क्षेत्रों में व्यस्त है, वे ही प्राचीन-आधुनिक साहित्य पर व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखते समय एक मिश्रित प्रणाली का आविष्कार कर रहे हैं। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से यह विधि धीरे धीरे जागरूक छात्रों और अध्यापकों द्वारा कालेजों विश्वविद्यालयों में भी अंकुरित—पल्लवित हो रही है। कालजयी कृतियों को ही आधार बनाने वाले विद्यालयों में दिन प्रतिदिन की

नवीन प्रतिक्रियाओं को शीघ्र स्वीकृति नहीं मिल पाती अतः "अध्यापकीय" आलोचना की उग्र आलोचना हो रही है, दूसरी ओर अध्यापक 'अराजकता' की शिकायत करते हैं।

ऐसी स्थिति में विद्यालयीय वातावरण और पत्र-पत्रिकाओं-स्वतन्त्र गोष्ठियों और दलों में निरन्तर सम्पर्क की आवश्यकता है। व्यक्ति स्तर पर अनेक अध्यापक और छात्र इन कटघरों को काट रहे हैं किन्तु सम्यागत स्तर पर यह सम्पर्क बढ़ना चाहिए ताकि सृजन और आलोचन परस्पर विरोधी स्थितियों में न पड़ जाएँ।

इसके साथ ही आलोचना के प्रति सद्धान्तिक घृणा से स्वयं साहित्य की ही हानि होगी क्योंकि सृष्टि स्वयं अपने में जीवन की एक प्रकार की आलोचना भी है। आलोचना में मात्र प्रतिक्रिया व्यक्त कर देने से श्रेष्ठता के स्तर धूमिल पड़ जाते हैं अतएव अपने समय तक के साहित्य और कला के श्रेष्ठ अंशों के आधार पर व्यापक निष्कर्षों की प्राप्ति अवाछनीय नहीं है। अवांछनीय स्थिति तब आती है जब निबन्ध के प्रारम्भ में कथित 'तादात्म्यविधि' की उपेक्षा होती है और सिद्धान्तों का मनमाना आरोप होने लगता है। ऐसा नहीं हुआ है या हो रहा है, यह कहना उतना ही गलत है जितना यह कहना कि आलोचना में सर्वत्र ऐसा ही हुआ है अथवा यह कि सद्धान्तिक आलोचना का अस्तित्व ही असम्भव है। भारतीय परम्परा को तो "अविवेकी मनुष्य" के लेखक ने आधुनिकता के लिए अधिक अनुकूल माना है। यहाँ सृष्टि के प्रत्येक रूप का स्वागत हुआ है, जीवन की सुन्दरता और असुन्दरता के विषय में भारतीय दृष्टि पश्चिमी दृष्टि से अधिक स्वस्थ और व्यापक है —

These (modern) are ideas that might be easily understood by an oriental For the oriental opposites have never been put into separate water tight compartments, as with the westerner as it is above so it is below In the east the small is equal to the great, for amid the endless expanse of countless universe each individual universe, is but a grain of sand on the shores of Ganges and a grain of sand is equal of a universe The lotus blooms in the mud and generally the oriental is as willing in his indifference to accept the ugly dross of existence as he is to its beauty, where the Westerner might very well gag at the taste (1)

(1) Irrational man page 51

भारतीय कला मे बाह्य अवयव-अनुरूपता की कभी चिन्ता नही की गई, जसे प्रतीकवादी कला मे ध्वनि पर ही ध्यान रहता है, इसी प्रकार हमारी मूर्तिकला मे आतरिक मन स्थितियो की व्यजना पर ही ध्यान रहा है। जिस प्रकार पाश्चात्य चित्रकार "पूर्वी" कला और काव्य से लाभ उठाते हैं, उसी तरह हमे अपने देश और एशिया के अन्य देशो की परम्परा को टटोलना चाहिए। जुग ने 'यूलिसिस' मे 'पूर्वी आत्मा" के अस्तित्व को लक्षित किया था और 'यूलिसिस' "आधुनिकतम" उपन्यास माना जाता है। इसी तरह "भारतीय सगीत" में इ० एम० फोस्टर ने आधुनिकता का सकेत पाया था।[1] इसी तरह भारतीय काव्यविधान मे ध्वनिसिद्धान्त, कला-आस्वादन प्रक्रिया के लिए साधारणीकरण सिद्धान्त, भाषा शक्ति के लिए शब्दशक्ति सिद्धान्त और सौन्दर्य विवेचन के लिए रस रमणीयता सिद्धान्त आदि वे प्रधान सूत्र हैं, जिनकी सहायता से हम निश्चित रूप से आलोचना को समृद्ध बना सकते हैं।

---

(१) वही, पृष्ठ, ४८

मूल्य और संदर्भ

मूल्य चिन्तन के नाम पर मूल्य-अवमूल्यन और अवमूल्ति चेतना की व्याप्ति और वृद्धि देखकर पुन मूल्य प्रतिष्ठा की प्रक्रिया इस देश की तरह अन्य देशो म भी मिलती है। श्री मिल्टन आर० कोनविट्ज ने मूल्य अवमूल्यन के लिए जॉसफ, वुड और क्रुच जसे लेखको की कठोर आलोचना की है। जिस निराशा और रिक्तता को वतमान वस्तुगत परिस्थितियो का व्यक्तिगत प्रतिबिम्ब न समझ कर दिग्भ्रम और निषेधवादिता का समाधान के रूप मे पेश किया जाता है वह अपनी अन्तिम व्याख्या म पलायनवृत्तियो को सतुष्ट करती है।[1]

श्री कोनविट्ज ने सामयिक जीवन की प्रवृत्ति को टी० एस० इलियट की इस कविता द्वारा स्पष्ट किया है —

> I grow old I grow old
> I shall wear the bottoms of my trousers rolled

यह उदासी, अवसाद या ऊब ही आज की वास्तविक स्थिति है।

साहित्य म यह स्थिति सवत्र नही है, इसके विरुद्ध स्वर भी है, फिर भी विधि परक मूल्यो और मानसिक स्थितियो को उतना महत्व नही दिया जाता और साथ ही ये विधि परक (पॉजिटिव) स्थितियाँ जिन विचार-व्यवस्थाओ द्वारा उत्पन्न हुई थी, उन्ह भी न मूल रूप मे और न सशोधित रूप मे ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति है अत मूल्यगत अस्पष्टता, स्थिरता और दिग्भ्रम की दशाएँ तक व्यापक उलझन के रूप मे प्रस्तुत हो रही हैं।

मूल्य, जीवन और चेतना की तरह पुरानी धारणा है। बुद्धिवादी और यथार्थवादी विचारक मूल्य को गुण न मानकर उसे वास्तविकता का एक अनोखा रूप मानत हैं क्योकि 'मूल्य' हमारे वास्तविक जीवन के सन्दभ मे ही विकसित होते हैं। डार्विन ने वास्तविक जीवन का जीव शास्त्र के आलोक मे अध्ययन प्रस्तुत किया था। उसके अनुसार 'मूल्य' की धारणा 'अस्तित्व' से

---

1 on the Nature of Value—मिल्टन आर कानविट्ज न्यूयाक, 1946, पृष्ठ 4–6

सम्बंधित है—वह 'शिव' को पारिभाषित करता हुआ कहता है कि 'शिव' वह है जो जीवित रहने मे—वृद्धि और विकास मे योग देता है' इसी तरह 'सत्य' और 'सौन्दय' की व्याख्या, जिजीविषा, उसके विकास और वृद्धि के सन्दभ म ही सम्भव है।

समुअल अलग्जडर के अनुसार मनुष्य प्रकृति के बाहर का प्राणी नही है, यह प्रकृति के भीतर जीता है। इसके अतिरिक्त वह प्राचीन मानववादियो की तरह मनुष्य को विश्व का केन्द्र भी नही मानता। वह प्रकृति मे मनुष्य की वास्तविक स्थिति को समझ कर, उसी सन्दभ को सदैव दृष्टि के सम्मुख रख कर मूल्य पर विचार करता है। अत शिव और अशिव की धारणाएँ मानव कृत हैं।

उदाहरण के लिए अलग्जडर शिव की धारणा का अथ करता है— मानव स्वभाव या मानव अस्तित्व अपने सर्वोत्तम रूप मे "शिव" कहलाता है, उसी तरह, जिस तरह, मानव सर्वोत्तम रूप म सत्य कहलाता है। यह "शिव" किसी स्वयप्रकाश्यज्ञान या निरपेक्ष विवेकगत नही है बल्कि अस्तित्व के लिये किये गये मानव सघर्षो के मध्य इस सत्य या मूल्य की प्राप्ति होती है अत मूल्य अधिकतम तृप्ति (सर्वोत्तम रूप) को प्राप्त करने का उपाय है इसीलिए उसका निरपेक्ष अध्ययन सम्भव नही है।

मूल्यो का उद्भव और विकास बाह्य और निश्चित सन्दर्भो मे विभिन्न जीव वर्गों के प्रयत्नो द्वारा होता है अत प्राकृतिक चुनाव (योग्यतम का अस्तित्व बचता है) के साथ मूल्यो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह वस्तुत अपने को स्थितियो के अनुसार विकसित कर सकने की योग्यता से युक्त तत्वो की उन तत्वो पर विजय है जो 'जड' या आवश्यक परिवर्तन के अयोग्य है अत इस विकास-विजय के सन्दभ मे ही विकसित मूल्यो को 'अभीप्सित' की सज्ञा प्राप्त होती है। मूल्य अवयव-सस्थान और बाह्य वातावरण या सन्दभ के सघर्ष और सगति के परिणाम होते हैं।

एक टायप' वातावरण और अस्तित्व म दूसरे 'टायप' से अधिक सगति बना लेता है अर्थात वह ऐसे मूल्यो का विकास कर लेता है जो उस 'टायप' के अस्तित्व और विकास म अधिक सहायक हो सकते है फलत वे मूल्य किसी युग के लिए प्रतिनिधि मूल्य बन जाते है। इस तरह अलग्जडर इस तथ्य पर पहुँचा है कि मूल्य चिन्तन, वस्तुत प्रतिक्षण उपस्थित चुनौतियो का स्वीकार कर उनके अनुकूल अपने टायप बदलने का उपाय मात्र है।

मार्क्स एगिल्स, काडवेल, प्लेखानोव आदि विचारक भी मूल्य का जीव अस्तित्व और वातावरण (दृश्य, विषय आदि) के सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब मानते

हैं। साहित्य म जीवन की तरह, वे ही मूल्य आगे चलते हैं जो उस 'जाति' या समूह के लिए अंतिम व्याख्या में कल्याण कारक होते हैं।

इस दृष्टि स भी मूल्यगत चिन्तन, प्रयोग या उद्देश्य से अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए 'मूल्य' व्यक्ति विशेष द्वारा प्रतिपादित होने पर भी 'व्यक्तिगत' नहीं हो सकते। मूल्य न पूर्णत वस्तुगत होते हैं और न पूर्णत व्यक्तिगत, ये वस्तु व्यक्ति के परस्पर सम्बन्धो, क्रिया प्रतिक्रियाओ, संघर्षो-संगतियो के फल होते हैं।

इनमे प्रवृत्तिगत मूल्य भी होते है, यथा शिशु द्वारा माता के स्तनो की खोज। इसी प्रकार मनुष्य स्वच्छता और स्त्री के हाव भाव को पसन्द करता है, क्योकि ये उसकी जाति या 'टायप' को निरन्तरता देते हैं। इन्हे नैतिकता का रूप दिया जा सकता है किन्तु ये नैतिकता के कारण स्वीकृत नहीं होते।

इसी तरह आर्थिक मूल्य प्रवृत्तिगत मूल्यो और नैतिक मूल्यो के मध्यवर्ती होते हैं। नैतिक मूल्यो म कोई समाज यह निर्णय करता है कि उसका स्वरूप क्या होगा ? आर्थिक मूल्य इस स्वरूप स्थिति को सम्भव बनाते है, उदाहरण के लिये समाजवादी दशा म नैतिक मूल्य मानव शोषण के विरोधी हैं, अत वहाँ के आर्थिक मूल्य इस शोषण रहित समाज की स्वरूप स्थिति को सम्भव बनायेगे—यदि वे अपने प्रयत्न म उक्त नैतिक मूल्यो के विपरीत स्वरूप का सम्भव बनाने लगे तो मनुष्य उनमे परिवर्तन की माँग करेगा, अर्थात् तब नये आर्थिक मूल्यो की माग उठ खड़ी होगी। अत आर्थिक मूल्य उच्चतर मूल्यो के साधन होते है, जिन समाजो म ये साध्य बनने लगते है वहाँ उच्चतर मूल्यो का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है।

सापेक्षतावादी दृष्टि म नहीं बल्कि दुनिया और जिन्दगी को एक अजनबी या बेगाने के नजरिए से देखने पर 'मूल्य' भ्रम प्रतीत होते है क्योकि वे मानव के आविष्कार है। सन्दर्भ से निगाह हटते ही, मूल्यो की सत्ता केवल आदमी के मन की बहक जैसी लगने लग जाती है, किन्तु स्पष्टत यह अजनबीदर्शन है। जीवन म भाग लेने वाले और इसलिए बाहर-भीतर ही नहीं, चारो ओर से सोचने वाले ज्ञाता का यह दर्शन नहीं है।

क्या एकाकी मूल्य चिन्तन सम्भव है ? प्रियता-अप्रियता, सत्य-असत्य आदि मानव मानसो के परस्पर सम्बन्धो के सन्दर्भ म निर्णीत होते है अत "अ" का मूल्यगत चिन्तन सही है या गलत इसके लिए उसके अतिरिक्त अन्य मस्तिष्को की जरूरत होती है। वस्तुत मूल्य का अहसास भी तभी सम्भव है जब 'अ" के विरुद्ध अन्य व्यक्ति धारणाएँ रखें और व्यवहार म यह साबित हो जाए कि अ की धारणाएँ व्यर्थ या अपूर्ण प्रमाणित हो चुकी है अत जब हम दूसरो की दृष्टि से अपने 'स्व' पर विचार करते है, तभी मूल्य और सही होने

की सम्भावना बनती है। अत सही रूप मे चिन्तन के लिए अन्य विचारो और व्यवहार की आवश्यकता है। इस प्रकार अनेक उद्देश्यो, विचारो और इच्छाओ के सदभ म मूल्यो का उद्भव और विकास होता है। मूल्य एक प्रकार का निणय होता है—प्रशसापरक निणय और इसम सवदा कोई सामाजिक सुझाव निहित रहता है अत मूल्य निणय हमेशा सामाजिक होता है व्यक्तिगत नही।

कलागत और साहित्यिक सौन्दय या साथकता का निणय या प्रशसादि मूल्य-मीमासा ही है क्योकि उसके निणयो मे भी सामाजिक सुझाव निहित रहते हैं, इसलिए इन निणयो म अन्य लोग भी भाग लेते हैं। यदि कोई कहे कि अनिणय वास्तविक स्थिति है, और उसका दशन' और भोग एक मूल्य है तो उसे स्पष्ट भाषा मे यह कहना चाहिए कि अनिणय निणय करने के लिए आवश्यक प्रक्रिया है किन्तु निणय उसका अवश्यम्भावी परिणाम है। यदि निणय गलत साबित होगा तो पुन अनिणय सन्देह की प्रक्रिया से निणय किया जायगा अत निणय ही वरेण्य है, प्रक्रिया के रूप म अनिणय आवश्यक हो सकता है।

अतमु खता के स्तर पर सत्य का दूसरा छोर, बहिमु खता—वास्त विकता के स्तर पर होता है। इसके सम्बन्ध का स्वरूप समझना ही मूल्यगत चिन्तन है।

यह स्मरणाय है कि हिन्दी के लेखको और कवियो न मूल्यचिंतन की आवश्यकता अनुभव की थी। समष्टिवाद द्वारा बहिमु ख मूल्यो पर अनापशनाप आग्रह किये जाने के कारण व्यक्ति की निरपेक्ष नियति, निरपेक्ष मूल्य तथा साहित्य और निरपेक्ष मूल्यचिंतन का अनुसधान हुआ। पश्चिम के व्यक्तिवादियो न हिन्दी के अनेक तरुणो की मूल्यचेतना को निरपेक्षतावादी बनाया और उनके साथ कुछ ऐसी हवा चली कि विवेक ही कापूर हो चला, जिसके बल पर भारतेन्दु युग स अब तक मध्यकालीन ह्रासशील मूल्यो को उखाड फेंका जाने लगा था। यह विवेक राजनीति म 'कल्याणकारी जनतन्त्र' 'जनतात्रिक समाज-वाद', समाज म मानव न्याय पर आधारित मानव सम्बन्ध विकास, शिक्षा के क्षेत्र मे वज्ञानिक दृष्टि का विकास और अतमु खी सत्यो या मूल्यो का वज्ञानिक अनुसधान तथा कला-साहित्य के क्षेत्र म कला साहित्य को धम के क्षेत्र स मुक्त कर, व्यापक मानव हित क लिये उसके प्रयोग आदि प्रवत्तियो मे प्रतिफलित हुआ था। इसी विवेकवाद के आधार पर आधुनिक वज्ञानिक तकनीकी सभ्यता आधारित है किन्तु यूरोपीय विवेकवाद को विश्व-युद्ध से जो आघात पहुँचा, उसस स्वय विवेकवाद पर ही प्रश्न चिह्न लगाया गया और सभी विचार-व्यव स्थाओ (काट, हीगल, मार्क्स आदि) का अस्वीकार किया जाने लगा। अन्तदृष्टि

और अनुभव के सामने विवेक की निन्दा होने लगी और व्यक्तिगत मूल्यो के सम्मुख 'सामाजिक मूल्यो' को हिकारत की नजर से देखा जाने लगा क्योकि इन्ही का दुरुपयोग विश्व युद्ध (द्वितीय) मे सभी विचारको ने देखा। अत युद्ध और मरण की आशका ही आज के मूल्यचिंतन मे सबसे बडी चुनौती बन गई और इस सन्दर्भ मे पुराने समाधान और पुनर्जागरण (रिनेसा) युग के आशा-उत्साह मूर्खतापूर्ण प्रतीत होने लगे।

लेकिन इस मूल्यचिंतन के विकास से यह साबित नही हुआ कि मूल्य-चिंतन निरपेक्ष होता है। आज की अवकुण्ठित स्थिति भी वस्तुगत व्यक्तिगत कारणो से ही है। रसल और सार्त्रे जैसे चिंतक इसलिए नए नही है कि वे मानव की विश्व स्थिति को कमजोर और निरर्थक समझते है, बल्कि वे आज इसलिए नए है क्योकि वे मूल्यचिंतन की जिस कमजोरी से यह युद्ध का सर्व-विनाशक सकट उपजा है, उसके विरुद्ध सक्रिय है और प्रास मे युद्धकामी राष्ट्र-नायको की बबरता पर मुकदमा चला रहे हैं।

दूसरी ओर समष्टिवादियो के वज्ञानिक दर्शन के नियम स्वय समष्टि वादियो की व्यवस्था पर लागू किये जा रहे है और रूस चीन आदि के अर्तविरोधो का पता लगाया जा रहा है। यह माना जाने लगा है कि जहाँ मनुष्य है वहाँ सवथा आदर्श स्थितियाँ नही है, लेकिन आदर्शो और मूल्यो के बिना आदर्श स्थिति की ओर मानवता को उन्मुख नही किया जा सकता। इस प्रकार मानव जीवन और मानव मूल्यो, वास्तविकता और आदर्श एक द्वन्द्वात्मक स्थिति मे गतिमान है और वे प्रारम्भ से ही इस स्थिति मे ही रहे हैं। इस द्वन्द्व को समझना ही वास्तविक मूल्यचिंतन है क्योकि तभी इन द्वन्द्वो से निद्वन्द्वता की ओर बढा जा सकता है। इसका अथ यह नही है कि सवथा निद्वन्द्व स्थिति सम्भव है, फिर भी इस क्रम मे मनुष्य बहुत से द्वन्द्वो पर विजय पाता है, उदाहरण के लिये वह आदिम युग से अब तक अनेक प्रवृत्तिगत, आर्थिक सामाजिक असगतियो पर विजय प्राप्त कर चुका है और फिर भी वह नये द्वन्द्वों की सृष्टि कर बठा है। अब नवमूल्यचिंतन के लिये ये नए द्वन्द्व ही चुनौतियाँ हैं, जिन्हे दूर करने के क्रम मे वह फिर नये अर्न्तविरोधो का विकास करेगा और इस तरह उसका यह अनवरत क्रम अनन्त काल तक चलेगा, बशर्ते कि दिग्भ्रम मे ग्रस्त मानव चेतना सामूहिक आत्महत्या (तृतीय विश्वयुद्ध) नही कर लेती। इस खतरे को महसूस करने पर भी विश्व के चितक और साहित्यकार अभी तक रसेल और सार्त्र की तरह सक्रिय नही हो सके और इस तरह की विविध स्तरो पर सक्रियताओ के अभाव मे उनका मूल्यचिंतन निरपेक्ष, दिग्भ्रामक और पलायनवादी होता जा रहा है।

जिस तरह 'मूल्य' एक जटिल शब्द है और उसे उद्देश्यों, वाछनीयताओं, आवश्यकताओ, विश्वासो और प्रयोजनो से सर्वथा भिन्न करके देखना कठिन है, उसी तरह 'नवीनता' भी एक जटिल स्थिति है। उसे 'प्राचीन' के प्रसग मे ही व्याख्यायित किया जा सकता है और 'प्राचीन' और 'नवीन' की धारणाएँ परिवर्तनशील होती है।

साहित्यिक सदर्भ मे नवीनता केवल कालगत धारणा न होकर, अपूर्वता-बोधात्मक धारणा है। 'अपूर्व' शब्द कालपरक भी है किन्तु अपूर्वता का यहाँ यह मतलब लिया जाता है कि इस रूप मे यह कृति पूर्वकाल मे विद्यमान नही थी अत अपूर्वता की धारणा म यह तत्व शामिल है कि 'पूर्व' या 'विगत' का उपकरण रूप मे उपयोग करके भी अपूर्व कृति की सृष्टि सम्भव है। अत नवीनता का मतलब गुणात्मक दृष्टि से सर्वथा विलक्षण या अभूतपूर्व सृष्टि से होता है, न कि यह कि उसकी सृष्टि म भूतकालीन तत्वो या उपकरणो का उपयोग नही होता।

चेतना के स्तर पर भी यह विचार सही लगता है। नवीन चेतनायुक्त स्रष्टा के मन का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी चेतना विगत, वर्तमान और भविष्य स सम्बन्धित उपकरणो स निर्मित होती है। अत कोई एक "क्षण" भी असश्लिष्ट क्षण" नही हो सकता। क्षणविशेष म अथवा क्षणप्रवाह की स्थितिया म स्रष्टा जागरूक होकर जिस 'अपूर्वता' को प्राप्त करता है, उसम विगत उसी प्रकार रूपातरित हो उठता है जिस प्रकार किसी भी नूतन पदार्थ की सृष्टि मे अदृश्य उपकरण नए रूप धारण कर लेते है। वस्तुत अचेतन और चेतन स्तरो और उपकरणो मे, विगत और वर्तमान मे एक द्वन्द्व और सगति की प्रक्रिया कार्यरत रहती है। प्रत्येक नवीनता एक दृश्यअदृश्य द्वन्द्व और अत मे एक नवीन सगति का ही परिणाम हुआ करती है और यह द्वन्द्व इकहरा नही होता क्योकि स्रष्टा की चेतना मे इकहरी स्थिति नही होती।

नवीन छायावाद भी था और सर्वकायाकल्पकारी प्रगतिवाद भी किन्तु नई कविता म नवीनता के प्रति आग्रह अधिक मिलता है। केवल आइडियालाजी' या विचार व्यवस्था की दृष्टि स इस नही परखा जा सकता क्योकि प्रथम तारसप्तक से अब तक प्रत्येक विचारधारा व व्यक्ति नवीनता की उपलब्धि म तत्पर है और सन् ६० के पश्चात तो कुछ नवयुवकों न यह भी साबित कर दिया है कि व किसी आइडियालाजी को नहीं मानना चाहते और फिर भी 'परिवर्तन' करना चाहते है। इस स्थिति म नवीनता प्राप्ति एक

आत्मपरिचय की प्रक्रिया बन रही है, यो अनजान ही कोई न कोई विचार-व्यवस्था इन्हे प्रभावित करती है। प्रतिवद्धता जागरूक भी होती हैं और 'अबोध प्रतिवद्धता' भी होती है और प्रतिबद्धता चाहे घोषित हो या अघोषित किसी न किसी परिणाम की ओर अवश्य उन्मुख होती है।

किन्तु इन अन्तिम परिणतियो के प्रति पिछले २० वर्षों के बहुत कम हिन्दी लेखक जागरूक है। उनमे अधिकाश का ध्यान केवल नवीनता पर ही अधिक है जबकि नवीनता की उपलब्धि मे परिणाम-बोध' की भूमिका निर्णायक हो सकती है।

परिणाम बोध रहित नवीनता की प्रथम उपलब्धि यही है कि देश के आधुनिकीकरण के इस सोपान म हमारा साहित्य और कला नवीनो मुख है। काव्य और गद्य म एक सर्वथा नवीन अभिव्यक्ति सम्मुख आई है और इस उपलब्धि म प्रचलित अधविश्वास के विपरीत सत्य यह है कि स्थानीय, कम प्रसिद्ध नवलेखको की अपेक्षा "अतिप्रसिद्ध" और "प्रतिष्ठित" कवियो और लेखको से कम महत्वपूर्ण नही रही है। अभी तक हिन्दी मे बम्बइया फिल्मो का "प्रसिद्धनायकवाद" ही अधिक प्रचलित है जब कि अभिव्यक्ति के नवीनीकरण म छोटे कहे जाने वाले कवियो और लेखकों की भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण होती है। और वैश्विक स्तर पर प्रचलित आधुनिकीकरण की विराट प्रक्रिया का ध्यान म रख कर देखने पर "बड़े और प्रतिष्ठित" नवीन लेखक और कवि अभी तक छोटे ही प्रतीत होगे और उनकी तुलना म बहुत से छोटे माने जाने वाले लेखक बडे प्रमाणित हो उठगे, क्योकि अतिप्रसिद्ध हिन्दी लेखको म "विदेशी प्रारूप" सम्मुख रखकर लिखने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है और विदेशी साहित्यकार "भारतीय नवीनता" चाहते है अपनी नवीनता की पुनरावृत्ति से वे ऊब उठते है। अज्ञेय जी म इधर जो भारतीयता पर अत्यधिक बल मिलने लगा है, प्राचीन दर्शन (नूतन रहस्यवाद—"आँगन के पार द्वार") की छायावादी ध्वनियाँ सुनाई पडने लगी है, उसका एक कारण शायद यह है कि वे विदेशो मे किस तरह की नवीनता की माँग है, यह औरों से अधिक अज्ञेय जानते है। फाकनर, स्टेनबग जसे लेखको की नवीनता की "सृजन-प्रक्रिया" म स्थानीय रग रूपो और उनके सदर्भ मे भी वैश्विक समस्याओ के समाधान का सकेत है। अज्ञेय जी ने हिन्दीविभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर मे एक व्याख्यान मे कहा था कि मेरे उपन्यासो, विशेषकर "अपने अपने अजनबी" मे पश्चिमी योरोप के मृत्युबोध का विरोध है। अर्थात उन्होंने पश्चिमी योरोप की दृष्टियो और मानसिक स्थितियो का अनुकरण नही किया उनका विरोध किया है।।

यदि यह बात सही है तो स्थायी नवीनता की सृष्टि की संभावना बढ़ती है, किन्तु हमारे लेखकों की नवीन ध्वनियां पश्चिमी योरोप में क्यों नहीं गूंजती ? उनकी कृतियां (कामू–"अजनबी", सार्त्र–"द एज ऑफ रीजन" आदि) के आगे हमारे लेखकों का अजनबी मन क्यों यहां की वास्तविकता के साथ जुड़ा हुआ नहीं है ? राजेन्द्र यादव ने धर्मयुग के लेखों में यह सही लिखा है कि फ्रांस का अस्तित्ववाद जर्मन के आक्रमण के सन्दर्भ में विकसित हुआ था। उस मात्र निराकार दर्शन के रूप में देखना उसी तरह गलत है जिस तरह किसी भी दर्शन को निरपेक्ष रूप में देखना। हमारे यहाँ 'सन्दर्भ' शब्द का बार बार जप करने पर भी उस सन्दर्भ की ही चिन्ता नहीं की जाती। फलतः अभिव्यक्ति नवीन होने पर भी कथ्य (विचार और मानसिकता आदि) देश काल निरपेक्ष, मात्र जीवन-दर्शन के रूप में प्रचलित होता गया–अजनबीपन, आत्महत्या, निराशावाद, ऊब, अनास्था–इस प्रकार के भाव और मानसिक स्थितियां "शाश्वत दर्शन" के रूप में स्वीकृत होने लगे जबकि पश्चिमी योरोप में ये 'विराट विरोध' के अंग थे।

अतः मेरी समझ में इस तरह की स्थितियों को या तो नवलेखकों के विरोध' का रूप माना जाय अथवा यदि यह जीवनदर्शन है तो जीवन दर्शन के स्तर पर इन पर विचार हो कि इनका क्या मूल्य है, यहां तक स्वीकार्य है, अथवा अपने देश में इन धारणाओं के लिए जमीन क्या उपजाऊ नहीं है ? इत्यादि

कथ्य और अभिव्यक्ति की नवीनता का मूल्य केवल वांछनीयता के आधार पर ही परीक्षित हो सकता है और 'वांछनीयता' मूल्यचिंतन का मेरु दण्ड है। इसी वांछनीयता से भयभीत होकर और अपनी प्रत्यक्ष, बकवास को स्वीकार कराने के लिए मुष्टिबद्ध कुछ तरुण लेखक यह कहने लगे हैं कि साहित्य मूलतः मूल्यनिरपेक्ष होता है। इस प्रकार की नवीनता स्पष्टतः मूल्य निरपेक्ष नवीनता होगी और मूल्यनिरपेक्ष वस्तु कभी वांछनीय नहीं हो सकती क्योंकि मूल्यों के बिना (वे चाहे जैसे हों) मानव-जीवन के अस्तित्व की ही कल्पना संभव नहीं है। एक ही स्तर ऐसा है, जहाँ मूल्यनिरपेक्षता संभव हो सकती है, यह स्तर है तृतीय विश्वयुद्ध में सर्वनाश का भय।

सर्वनाश के क्षण में मूल्य अथवा वांछनीय आदर्शों, सत्यों, प्रयोजनों मर्यादाओं, शुभ-परम्पराओं, कलागत उपलब्धियों और सिद्धान्तों आदि का कोई अर्थ नहीं रहता और विश्वविनाश की आशंका कृत्रिम नहीं है एवं असाम्यिक है। किन्तु इस भी एक 'जीवनदर्शन' के रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति

स्थायी नवीनता की सृष्टि नही कर सकती क्योकि विश्वविनाश की आशका समाप्त होने पर चीन-पाकिस्तान युद्ध के समय लिखी गई रचनाओ की तरह उनका मूल्य भी अस्थायी होगा। अत आज की स्थितियो और आज के जीवन दर्शन को एक करके देखना गलत है। स्थितियो का तीव्रता और गहराई से चित्रण होना चाहिए, कुछ हो भी रहा है किन्तु जीवन किसी भी आशका, त्रास या भय से बडा है मृत्यु जीवन को कभी परास्त नही कर सकती, यह तो वैज्ञानिक भी प्रमाणित करते है।

वाछनीयता के निकष पर ही हम नवीन भाषा और सवेदना आदि का मूल्याकन कर सकते हैं। इस सम्बन्ध मे अनेक रूपगत उपलब्धियो के अतिरिक्त एक बहुत बडा भ्रम यह फैला हुआ है कि कथ्य और अभिव्यक्ति का सम्प्रेषण विधियो से कोई आतरिक सम्बन्ध नही है, सम्प्रेषण सकट का एक कारण यह भी है। वस्तुत विशेषीकरण के कारण यह सकट हुआ है। "आज का कवि अपने को व्यक्त करता है, उसे कोई सुन समझे, यह उसके सम्मुख गौण प्रश्न है।" अकविता गुट के कवि जगदीश चतुर्वेदी का यह कथन एक नवीनता की सृष्टि अवश्य करेगा क्योकि पुराने ढग के कवि विशेषीकृत काव्य मे विश्वास नही करते थे, वे उसे एक सार्वजनिक कला मानते थे, अत उनकी सर्जन प्रक्रिया मे नवीनता पर कम, सवेद्यता पर अधिक बल होता था। भाव, विचार और 'अन्दाजेबया' से वह प्रभावित करना चाहते थे किन्तु आज नवीन कविता उपन्यास और कहानी का अर्थ ही बदल गया है, प्रयोजन और प्रक्रिया बदल गई हैं, अत उसका मूल्य भी बदल गया है। सज्ञाएँ पुरानी चल रही हैं, अर्थ नये आ गये हैं। अत नवीनता के मूल्याकन मे पुरानी सज्ञाओ का यह नया अर्थ समझना अनिवार्य हो गया है।

नई कविता, नया उपन्यास, नयी कहानी (तथाकथित नयी कविता, नयी कहानी नही) समग्रत विशेषज्ञो के लिए अथवा समानधर्माओ के लिए प्रस्तुत होती हैं, भीड के लिए नही। अत सार्वजनिक दृष्टि से अथवा वृहत्तर समाज के लिए उनका मूल्य तभी हो सकता है जब समाज उन समानधर्माओं के स्तर पर अनुभव कर सके, जो असभव है। अत अभूतपूर्वता की सृष्टि मे सुविधा भी है क्योकि साधारण जनता आज के नए कथा या काव्य-साहित्य को नही पढती। इस कला का वही रूप होता जा रहा है, जो अमूर्त चित्रकला का होता जा रहा है जिसे देखकर दर्शक उस कृति मे मनमाने सवेदन, अनुभूतियाँ और दृष्टियाँ पा सकता है यानी एक ही कृति का अपने मे अर्थ अस्पष्ट होता है। वह एक निराकार विधि पर जटिल स्थितियो का सकुल बिम्ब

होती है । उससे प्रत्येक दर्शक अपनी मानसिक स्थिति, रुचि, विचार, संस्कार आदि के अनुरूप प्रभाव ग्रहण कर सकता है । कलाकार अपने मंतव्य का सम्प्रेषण कर ही नहीं सकता क्योंकि उसकी चेतना एक संकुल और अस्पष्ट प्रक्रिया में रहती और व्यक्त होती है । इस स्थिति में आज की नवीनतम कविता या कथा का विश्लेषण, विवेचन, अध्यापन सम्प्रेषण आदि कठिन है । इसका मूल्य यही है कि आज की जटिल स्थितियों के ये सांकेतिक चित्रण हमारी संवेदना कल्पना भावना के लिए (बुद्धि के लिए नहीं, क्योंकि वह धारणाओं में ही बांधकर निर्णय कर सकती है) उत्तेजक-उत्प्रेरक होते हैं और उन्हें देख कर या पढ़ कर (खास कविता में दोनों काम एक साथ होते हैं) हम एक निर्बाध उड़ान में या एक अस्पष्ट किंतु गहरे उलझे हुए सांकेतिक अनुभव में डूबते हैं और इस माध्यम से इस बोध पर भी पहुँच सकते हैं कि जीवन मूलतः ऐसा ही अबौद्धिक (इर्रेशनल) संश्लिष्ट, निष्प्रयोजन और निर्मूल्य होता है । इस तरह के कलात्मक अनुभव में स्पष्टतः नवीनता अवश्य है और उसके पूर्व रूप विशेषकर चित्रकला में, आदिम चित्रकला और प्राचीन 'मिथ' में कुछ सादृश्य भी पा सकते हैं किन्तु यह नवीनतम सृष्टि अति के स्तर तक पहुँच कर पुनः सम्पन्नता की माँग को अपने गर्भ से प्रकट करेगी । यह भी कि यह संक्रमणकाल हमेशा नहीं चल सकता और न विवेकवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियावश उत्पन्न प्रचलित अविवेकवाद ही सर्वदा चल सकता है ।

किन्तु यह तो कालिक दृष्टि से मूल्यांकन हुआ । सम्प्रति नवीनतम "एब्सर्ड" और अकविताओं आदि की वांछनीयता क्या है ? स्वयं नवीनता ही इनकी वांछनीयता है । ये ध्यानाकर्षण कर सकती हैं अतः चर्चित भी हो सकती हैं । वैविध्य स्वयं अपने में एक बड़ा मूल्य है क्योंकि वह एकरसता और अभिन्नता को समाप्त कर समृद्धि देता है किन्तु जिस तरह पश्चिमी योरोप और अमरिका में आज "अति" के स्तर तक पहुँच कर साहित्य में नवीनता संतुलित होती जा रही है और 'एलिन टेट' जैसे नए आलोचक भी 'कमिंग्ज' जैसे कवियों को (कल्टिवेटेड इमेज) दूसरे दर्जे का कवि मानते हैं, उसी तरह जब सब नवीन लेखक और कवि 'प्रतिष्ठित' हो लेंगे और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया प्रत्येक स्तर पर पूरी हो लेगी, तब सही मूल्यांकन हो सकेगा क्योंकि तभी वांछनीयता का बोध निर्विवाद रूप में जगेगा । तब तक 'विशेषीकृत कला' और संतुलित विवेकवाद का यह द्वंद्व गतिमान रहेगा और प्रियता और अप्रियता के स्वरों, तर्कों और आरोपों प्रत्यारोपों का संगीत हम अभी काफी समय तक सुनने को मिलता रहेगा ।

भारतीय काव्यशास्त्र की सामयिक सार्थकता

क्या नवीन या आधुनिक साहित्य के विवेचन में प्राचीन काव्यशास्त्र की कोई उपयोगिता है अथवा प्राचीन धारणाओं का उल्लेख सिर्फ ऐतिहासिक महत्व रखता है—यह प्रश्न वस्तुतः महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे यह पता चलता है कि अभी हम इस सक्रमणकाल में द्वन्द्वों (प्राचीन, नवीन, देश विदेश, धर्म-विज्ञान आदि) के मध्य सगति खोजना चाहते हैं। यदि द्वन्द्व है तो किसी न किसी प्रकार की सगति की तलाश अनिवार्य होगी।

मुझे लगता है कि प्राचीन का सवाल विज्ञान के क्षेत्र में जल्द ही हल हो जाता है। नए आविष्कार के बाद पुराने आविष्कार सिर्फ ऐतिहासिक महत्व के रह जाते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि के पूर्व का यान्त्रिक भौतिकवाद आज 'असम्बद्ध' हो गया है क्योंकि उसके प्रयोग से पिष्टपेषित या गलत उत्तर मिलेंगे। शुद्ध विज्ञान में 'सापेक्षता' और 'अनियतिवाद' (Principle of Indeterminacy) के सूत्रों के पहले के स्थूल नियतिवादी सूत्र अब 'असम्बद्ध' हो गये हैं, विज्ञान के क्षेत्र में 'न्यूटन' का फार्मूला आज कौन प्रयोग में लाता है?

किन्तु विज्ञान की 'प्राचीन' के प्रति इस तरह की बेलाग दृष्टि मानविकी क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ती। सबब यह है कि मानविकी 'मनुष्य' से सम्बन्धित है 'पदार्थ' से नहीं। पदार्थ के विषय में नया फार्मूला पुराने को अपदस्थ कर देता है, किन्तु 'मनुष्य' के विषय में पुराने फार्मूले भी दो स्तरों पर मुख्यतः उपयोगी रहते हैं—(१) मनुष्य में 'प्राकृतिक स्तर' बहुत कम बदलता है। यह स्तर आधुनिक युग में भी सक्रिय है और उम्मीद यह है कि अगर मनुष्य के प्राकृतिक गठन में रसायनिक परिवर्तनों द्वारा उसे 'अमानव' या 'मानवेतर' नहीं बना दिया गया तो यह प्राकृतिक स्तर रहेगा और इस स्तर की, इसके 'स्वभाव' की पहचान प्राचीन काल में ही हो चुकी थी। (२) मानव के सृजन (काव्य, दर्शन, धर्म, मिथ, नीति या मूल्य) के सम्बन्ध में चिन्तन-सृजन के स्वरूप और उनकी विशिष्टताओं का ज्ञान। इस क्षेत्र में प्राचीनों ने पर्याप्त श्रम किया था।

इनमें जो निष्कर्ष तात्कालिक सृजन की 'विशिष्टता' का मनन कर, सामान्यीकरण प्रक्रिया द्वारा प्राप्त किये गए हैं, उनका आधुनिक युग में परि

शोधन (और पूर्ण त्याग भी) करना पडता है क्योंकि आधुनिक सृजन (काव्य, कला, दर्शन आदि) प्राचीन सृजन से, बहुत भिन्न हो गया है। उदाहरणत आज की अमूर्त कला और काव्य अथवा अतियथार्थवादी कला या काव्य की व्याख्या रससिद्धान्त की शब्दावली मे करना दु साध्य है क्योंकि रससिद्धान्त मुख्यत नाटय के सन्दर्भ मे विकसित हुआ था और भारतीय रूपको का मुख्य उद्देश्य मौलिक चरित्र चित्रण या मूल्यांकन का वर्णन नहीं था न उनकी रचना संक्रमणशील सभ्यता में हुई थी। उनकी रचना का सन्दर्भ ब्राह्मणवादी संस्कृति और सामन्ती समाज संघटना का सन्दर्भ था जिसमे नाटय का उद्देश्य मनोरंजन और श्रोताओ का 'प्राकृतिकस्तर' से सीधे जुडे स्थायी भावो (रति, हास, क्रोधादि) मे निमग्न करना था अत नाट्य लेखक, नाटय उत्पादक (भरत) और प्रेक्षको के लिये 'अविरोध' (मल्या और मानसिक स्थिति की दृष्टि से) की हालत मे रहना स्वाभाविक लगता था। नाटयकला का आधुनिक कला और साहित्य की तरह उद्देश्य 'परिवर्तन' नही था। उसी स्थिति में रहकर–स्वीकृत मान्यताओ के आधार पर कुछ समय के लिये कला म तन्मय होना ही उसका उद्देश्य था।

यही स्थिति भरत के बाद रचे गए संस्कृत मे लिखित उस काव्य की थी जो पाठको या श्रोताओ मे, किसी एक स्थायीभाव को सचारी आदि से पुष्ट कर, रसमग्नता जागृत कर देता था। कालिदास, अश्वघोष, माघ, भारवि, श्रीहर्ष, अमरुक वगैरह सभी रचनाकारो मे चमत्कृत करने की रुचि होने पर भी, मुख्य प्रवृत्ति भाव विशेष म पाठक को 'तन्मय' करना ही था। भावो के विषय मे एक सरल दृष्टि स्वीकृत थी जिसम एक प्रमुख भाव के साथ, दूसरो की संगति पर ध्यान अधिक था विरोध पर नही।

अतएव इस भावात्मक सृजन का कारण विशिष्ट संस्कृति, विशिष्ट समाज संघटन और विशिष्ट रचना प्रक्रिया थी। इस से 'रससिद्धान्त' एक विशिष्ट प्रकार के काव्य या नाटय सृजन को लक्ष्य कर, उससे प्राप्त निष्कर्ष के रूप म प्रस्तुत हुआ था।

ग्रीक नाटको म भी भावनाओ का वर्णन है, किन्तु वहा निर्विघ्न रस प्राप्ति क्या नही होती ? कारण यह है कि उस साहित्य म सारे विघ्नो को दूर कर रस प्रवाह उत्पन्न करने पर बल नही है, बल्कि जीवन म सकटो, विरोधो आदि का ही सीधा सामना किया गया है। उन्हें समझने का प्रयत्न किया गया है अत पाश्चात्य सृजन द्वन्द्वमय है, "मुख्यत" रसमय नही। यह 'रुचि' का अन्तर दो तरह की संस्कृतियो के अन्तर का फल है। यही सबब है कि द्वन्द्व प्रधान इस आधुनिक युग म ग्रीक नाटक अधिक 'सम्बद्ध" प्रतीत

होते हैं, और भारतीय नाटकों को देखकर हृदय मे हाय उठती है, कितने भाग्यशाली थे वे प्राचीन लोग कोई प्रश्न नही, असन्तोष नही, विरोध नही। साथ ही यह भी मन म आता है कि वे पूर्वज कितने सरल थे। अब निर्द्वन्द्व हो कर रस भोगने का वह अवसर कहा है ? यह सम्भव है कि निर्द्वन्द्व "उत्तर युग" (यह प्रश्न युग है) म पुन रससाहित्य 'सम्बद्ध' लगने लगे, लेकिन कौन जानता है क्या होगा ? फिर प्रश्न सिर्फ प्रश्न।

लेकिन तात्कालिक सजन के आधार पर, उस समय तक विकसित, बौद्धिक अस्त्र शस्त्रो (न्याय, मीमासा, वेदान्त, बौद्धदर्शन, कामसूत्र आदि) की सहायता से, पूर्वजो ने 'काव्यमात्र' की प्रकृति की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। इसके सिवा काव्य, कला आदि के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु, प्रभाव, कवि-श्रोता, कवि पाठक, कवि-अभिनेता–प्रेक्षक आदि के सम्बन्धो (सम्प्रेषण की समस्या) वगैरह पर प्राचीनो ने करीब-करीब सभी वे सवाल पूछे है, जिनसे हम आज पीडित है। इस प्रकार काव्य और कला की 'तात्विक' या सैद्धान्तिक चर्चा के लिये प्राचीन काव्य शास्त्र की उसी प्रकार उपेक्षा असम्भव है, जिस प्रकार 'इतिहास दर्शन' के लिए प्राचीनो की धारणाएँ ('काल' और 'इतिहास' का चक्रसिद्धान्त ह्रासवाद,'–इतिहास की मिथ रूप म प्रस्तुति' आदि) आधुनिक इतिहास दर्शन के लिए अनिवार्य है। उनम यत्र तत्र इतनी 'अन्तर्दृष्टियाँ' हैं, कि हमारी अपनी आधुनिक अन्तर्दृष्टियो से कभी-कभी तो अद्भुत सादृश्य दिखाई पडता है। अतएव प्राचीन काव्यशास्त्र के किसी सम्प्रदाय को यथावत् नही अपनाया जा सकता न किसी सिद्धान्त को काव्यनिकष बनाया जा सकता है लेकिन काव्य और कला से सम्बन्धित प्रत्येक 'सामान्य' प्रश्न पर (कविता क्या है कला क्या है प्रयोजन क्या है, प्रभाव कैसे होता है वगैरह) प्राचीन-काव्य शास्त्र (प्लेटो, अरस्तू की तरह भरत, वामन अभिनवगुप्त आदि) मे ऐसे बीजमन्त्र हैं, एस आलोक (कन्द्रा) है कि गम्भीर विदेशी कला तत्ववेत्ता भी चकित रह जाते है।

इस सम्बन्ध मे प्राचीन और आधुनिक दोनो ने जल्दबाजी और अतिवाद से काम लिया है। परम्पराप्रियता का अर्थ यह नही है कि पिकासो, टी० एस० इलियट, जेम्स ज्वायस या अज्ञेय की कृतियो म 'रस' सिद्धान्त का प्रयोग, कृति की श्रेष्ठता के निर्णय के लिए किया जाए क्योकि इन रचनाकारो मे स्रष्टा का ध्यान पाठक को भावविभोर करना नही, तन्मय करना नही,–जीवन को समझने के लिए प्रेरित करना है। आधुनिक जीवन बहुत उलझा हुआ जीवन है, उसम दु ख और सकट के उत्पादक, पर्दे के पीछे छिपे

रहते हैं और कही वे भी विवश से लगते हैं। प्रयोगो मुखी, परिवर्तनप्रिय सभ्यता मे स्थिरता न स्थान की है न मान्यताओ की, न सम्बन्धो की अत कलाकार या तो इस भ्रमविनाशक यथार्थ की उलझन की ओर ध्यान आकर्षित करे या फिर वह पाठक को झकझोरे, उसे चिढाए ताकि वह अनाधुनिक मोह-निद्रा (ईश्वर, धर्म, स्थायी सम्बन्ध, राष्ट्रप्रेम, जातिप्रेम, परिवारप्रेम प्रेमी प्रेमिका का प्रेम, सफलता प्रेम, महत्वाकाक्षाएँ, वगैरह) से जगे। लेकिन इसके लिए वह उद्बोधन का मार्ग भी नही अपना सकता, क्योकि उद्बोधन तब सम्भव है, जब लक्ष्य स्पष्ट हो। आधुनिक कला इसीलिए पचीदगी से भरी हुई है लेकिन जब रचनकार साफ वह नही पाता तब वह इशारे करता है। अजीबोगरीब तरीके अपनाता है, पुरान शिल्प को तोडता है, फलत 'रस सिद्धात' से नही, आधुनिक रचना प्रक्रिया को 'ध्वनि' के आधार पर कुछ समझा जा सकता है।

यह स्मरणीय है कि 'ध्वनि' के लिए सकेत आनन्दवर्धन को भरत के रससूत्र से ही मिला होगा क्योकि नाट्य के सन्दर्भ मे प्रयुक्त रस सूत्र को काव्य मात्र के लिए प्रयुक्त कर परवर्ती आचार्यों मे, ध्वनिकार न, उससे यह सकेत लिया था कि काव्य कथित नही होता, विभावानुभावादि द्वारा कवि की चित्तवृत्ति सकेतित ही हो सकती है। यदि रससूत्र को आप इतन 'सामान्य' रूप मे ग्रहण कर सकें तो ध्वनि सिद्धात के जनक होने का भी उसे ही गौरव मिल सकता है।

किसी सृजन मे पात्रो, परिस्थितियो और उनकी प्रतिक्रियाओ का ही वर्णन होता है। जस किसी भोज्यपदार्थ मे अनक द्रव्यो के विशेष सयोजन से एक विशेष आस्वाद (रस) उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार कला और काव्यादि की सृष्टि के 'आस्वाद' (या उसे आप जो भी नाम दें) का रहस्य कला के द्रव्यो के विशिष्ट सयोजन मे है। इस तरह रससूत्र आपको काव्यमात्र की रचना प्रक्रिया का रहस्यदर्शक लग सकता है। इसी तरह ध्वनिकार न उससे कला की व्यग्यात्मकता का सकेत ग्रहण किया था।

अत आधुनिक कला के परीक्षण के लिए रस सिद्धान्त की प्रचलित कोटियो को नही अपनाया जा सकता किन्तु कला या काव्य मात्र के स्वभाव के परीक्षण मे प्राचीनो से सूत्र और सकेत आप पा सकते है। आगे का काम स्वय आप को ही करना होगा क्योकि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र, काव्य का 'शास्त्र' है आलोचना की पुस्तक नही। 'शास्त्र' की उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि आप किस दृष्टि से उसे देखते हैं शास्त्र को 'कामधेनु' इसी अर्थ मे कहा गया है।

यह देखने योग्य तथ्य है कि काव्य शास्त्र म क्या है, यह अभी तक अधिक समझाया गया है। एस इशारे भी किये गये हैं कि इस तरह शास्त्र से लाभ उठाया जा सकता है। उसे 'आधुनिक' शब्दो मे भी पेश करने की कोशिश हुई है। इस काय की प्रशंसा होनी चाहिए लेकिन निन्दा का कारण यह है कि पूव सजन पर आधारित सिद्धान्त, उससे भिन्न स्वभाव वाले सृजन पर फामू ले की तरह लागू कर दिये जाते हैं। यह शास्त्र के प्रति अयाय है, परम्परा का दुरुपयोग है। इससे चिढ़कर आधुनिक उस शास्त्र या परम्परा का ही निषेध कर देता है न बांस रहेगा, न बांसुरी बजेगी।

लेकिन यह भी अतिवाद है। कला और काव्यादि के विषय म 'सामान्य चिन्तन' प्रकारान्तर से सामयिक कला का भी हित करना है। यह स्वयं एक शास्त्रीय चर्चा ही है कि परम्परा की आधुनिकता के लिये क्या सम्बद्धता है?

'सामान्य' चिन्तन के रूप म अलङ्कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, अनुमति, शब्दशक्ति, गुण, दोष (विभाजनवाद को छोडकर) आदि की धारणाएँ आधुनिक कला काव्य दशन के लिये अनिवाय है। इनम प्राचीनो न रस' के आधार पर सगति' स्थापित की थी, आप इस तरह की सगति को अस्वीकार कर सकते हैं। रसपरक काव्य को रुचि विशेष मान सकते हैं लेकिन काव्य की तत्व-चर्चा के लिये अलकार सम्प्रदाय म जो साहश्य और विरोध' की मनोवैज्ञानिक धारणा है, बिम्ब चर्चा मे उसकी कैसे अपेक्षा करेंगे? शैली पर निबन्ध लिखते समय अगर वामन शैली का स बध गुण (चित्त-वृत्ति, स्वभाव, व्यक्तित्व) स स्थापित करके आपको शैली का मम उद्घाटित करने म मदद देते हैं तो आपका उसी धारणा के लिये किसी विदेशी के सम्मुख वामन को उद्धृत करने मे क्या लाज लगती है? इसी तरह काव्यप्रक्रिया सकेतात्मक होती है, इस इशारे स आप यदि किसी सकुल रचना' का विश्लेषण कर और देखें कि किस तरह क प्रभाव के लिये किस शब्द को चुना गया है, उसकी गूँज कहाँ तक ले जाती है, कवि का इरादा क्या है, 'अनकहा' क्या रह गया है, इन प्रश्नो पर ध्वनिवाद मदद कर सकता है। और काव्य की अथ प्रक्रिया क लिये श द शक्तियों का विवेचन तो आधुनिक अथ विज्ञान की एक पूवशाखा सा लगता है, यह रिचड स की पुस्तक 'अथ का अथ' पढकर जाना जा सकता है।

भारतीय काव्य शास्त्र म सूत्र अधिक गर्भित हैं क्योंकि वर्षों किसी बात पर अधिकाधिक मनन क बाद उनकी रचना होती थी अत जो आधुनिक विचारक, किसी सूत्र का पकडकर, अपनी सृजनात्मक कल्पना क बल पर चर्चित

समस्या के सारे पक्षों, शंकाओं, समाधानों की पुन सृष्टि नहीं कर सकता, शास्त्र उसके लिये नहीं है। यह अजीब विडम्बना है कि जो स्वतन्त्र चिन्तन कर सकते हैं, वे तो परम्परा के प्रति निषेध का रुख अपनाते हैं और जो सिर्फ 'टीकाकार' या मात्र भाष्यकार हैं, उन्हें शास्त्र का सृजनात्मक प्रयोक्ता कहा जा रहा है। अब समय आ गया है कि साहित्य चिन्तक 'समस्योन्मुख' रुख अपनाएँ। जो समस्या ले, उस पर प्राचीन, नवीन जहाँ जो कुछ आलोक मिले, उसे अकुंठ भाव से ग्रहण करें। मसलन 'सम्प्रेषण' की समस्या पुरानी भी है, आधुनिक भी है। अब इस पर साधारणीकरण' के सिद्धान्त से अगर कुछ बोध मिलता है तो ठीक, अन्यथा समाज मनोविज्ञान के पास जाइए। उसे उलट कर कहने पर मन्तव्य यह होगा कि न केवल साधारणीकरण का सिद्धान्त पर्याप्त है, न मात्र समाज मनोविज्ञान।

साहित्यिक आलोचना का संकट यही है कि हम केवल काव्य शास्त्री, 'इकहरे' आधुनिक (परम्परा के निषेधकर्त्ता) अथवा कोरे मनोविश्लेषक या कोरे समाजशास्त्री हो जाते हैं। विशेषज्ञता के इस युग मे, मानव सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर विचार करते समय न तो प्राचीन को छोड़ा जा सकता है और न उसी के निकष पर नवीन रचनाओं का कल्ल किया जा सकता है लेकिन इस 'सबसमेट्' अथवा 'इन्टीग्रेटिट' चिन्तन के लिये न प्राचीन आचार्य प्रस्तुत हैं और न अत्याधुनिक। लेकिन सही रास्ता यही है।

सृजन-प्रक्रिया में सापेक्षतावाद

भारतवर्ष म काव्य सृजन प्रक्रिया का उल्लेख सर्वप्रथम भरत मुनि के नाट्यशास्त्र म मिलता है। भरतपूर्व आचार्यों के सक्षिप्त उद्धरण भी नाट्य-शास्त्र म ही मिलते है। सृजनप्रक्रिया के सबध म भरत के मत को 'वस्तुवादी' और 'व्यक्तिवादी'—दो दृष्टियो से समझाया गया है। प्राचीन आचार्यों की व्याख्याएँ भी या तो वस्तुवादी है या व्यक्तिवादी। सापेक्षतावादी दृष्टि से की गयी व्याख्याएँ बहुत कम मिलती है इससे अनक भ्रमो की सृष्टि हो गयी है।

सपूर्ण कलाओ का प्रयोजन आनद है— यह दृष्टि उपनिषद काल से ही इस देश मे स्वीकृत रही है। यह अवश्य है कि इस आनद के कारण कभी 'हित' और कभी 'अत प्रकृति' माने गये हैं। कलाओ स प्राप्त इस आनद को ही यहाँ 'रस' की सज्ञा दी गयी है, यह 'रस' का व्यापकतम प्रयोग है। नाट्यशास्त्र म मुख्यत 'रस' नाट्य के सदर्भ म ही चर्चित हुआ है इसलिए कुछ विद्वान अब यह मानना चाहते है कि रस का सबध नाट्य स ही है, अन्य कलारूपो के साथ उसका साक्षात अथवा नाट्य क सदृश यथावत सबध नही है। किन्तु अब भी अनेक विद्वान यह मानते है कि भरत का नाट्यशास्त्र वस्तुत कलाशास्त्र या सौंदर्यशास्त्र है जो प्रमुखत नाट्य पर इस विधि से प्रकाश प्रक्षिप्त करता है कि उसके साथ-साथ कलामात्र पर भी प्रकाश पडता चलता है। जिस प्रकार अरस्तू का काव्यशास्त्र काव्यशास्त्र होने के साथ-साथ कलाशास्त्र भी है, उसी प्रकार नाट्यशास्त्र कलाशास्त्र भी है। यह आवश्यक नही है कि भरत ने नाट्य पर विचार करते समय कला और काव्य पर ध्यान ही न दिया हो, क्योकि नाट्य एक समन्वित कला है। नाट्य मे सगीत, स्थापत्य, चित्र, काव्यादि सभी कलाओ का प्रयोग होता ही है।

अत सृजन प्रक्रिया क लिए भी भरत क नाट्यशास्त्र का अनुसधान व्यर्थ नहा है। भरत की दृष्टि वस्तुमूलक थी—इस मत की स्थापना डॉ० सुरेन्द्र बारलिंग न की है। इस मत के अनुसार, रस' आस्वाद्य पदार्थ है। वह आस्वादस्वरूप न होकर आस्वाद्यस्वरूप है। जिस प्रकार नाना व्यजन-ओषधि आदि द्रव्यो क सयोग स रस निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार नाना 'भावो' के उद्गम स नाट्य म रस निष्पत्ति होती है। भरत न 'भाव' शब्द को [illegible] मनोविकार अर्थ म ग्रहण नही किया है, 'भाव' शब्द म मानसिक

अतिरिक्त समस्त नियाओ और पदार्थों की भी गणना कर ली गयी है। अत विभिन्न पदार्थों के योग से जसे 'पानकरस' बनता है, वसे ही नाना भावादि के सयोग से रससृष्टि होती है। 'द्रव्य' 'गुण' नहीं है । जो विद्वान 'रस' को 'गुण' मानते हैं, वे रस के आस्वाद्यत्व की उपेक्षा करते हैं।

इसके विपरीत, आचाय अभिनवगुप्त ने 'रस' को आस्वादरूप ही माना है, 'चवणा' या भोग के अतिरिक्त रस की कही वाह्यसत्ता दिखायी नही पडती। यह रस के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है। आधुनिक भाषा मे प्रथम व्याख्या दृश्यगत (आब्जक्टिव) और द्वितीय व्याख्या द्रष्टागत (सब्जेक्टिव) है।

यह कहना आवश्यक है कि भरत से पूव कतिपय आचाय रस को 'द्रव्य' ही मानते थे। अभिनवगुप्त ने एक सांख्यमतानुयायी मत का उद्धृत भी किया है जो रस को वस्तुमूलक ही मानता था । यह आचाय स्पष्टत बाह्य विषय-सामग्री को ही 'रस' कहते हैं। क्योंकि यह सामग्री सुख दुख के जागरण मे समथ होती है अत 'प्रस्तुत सुख दुख जननशक्तियुक्त विषय-सामग्री ही रस है।'

यह विवाद उसी प्रकार का है जसा हम आज के सौंदयशास्त्र म देखते हैं। सौंदय को द्रष्टागत या दृश्यगत मान कर ही यह सारा विग्रह चल रहा है। कई विचारक इन परस्पर विरोधी मतो म समन्वय स्थापित करना चाहते है, किन्तु उनका समन्वय उक्त दोनो मतो का मिश्रण बन जाता है। सौंदय या रस वस्तुत द्रष्टा और दृश्य का अथवा व्यक्ति और परिस्थिति क द्वद्व का समन्वय है। वह द्रष्टा और दृश्य का, साधारण समन्वय नहीं है, अपितु द्वद्वात्मक समन्वय है।

क्या भरत इस द्वद्वात्मक समन्वय स परिचित थे ? उन्होने रस की सृजन प्रक्रिया को जिस प्रकार समझाया है उसस तो यही प्रतीत होता है कि वह इस द्वद्वात्मक समन्वय से परिचित थे। निस्सदेह भरत की यह प्राप्ति जीवन निरीक्षण के माध्यम से हुई थी, किसी वाद या दशन क माध्यम से नहीं। न तो भरत मनोविज्ञान के विशेषज्ञ थे, न आधुनिक इतिहास के सिद्धातो से परिचित थे, अत उनकी उपलब्धि का आधार मानव-जीवन का विभिन्न परिस्थितियो म अध्ययन ही था, तभी उन पर आधुनिक मतो का आरोप असभव है। किन्तु कोई वाद या दशन भी जीवन निरीक्षण स ही प्राप्त होता है। प्राय किसी दाशनिक के किसी वाद की पुष्टि किसी ऐसे तत्व के प्रभाव स हो जाती है जो वज्ञानिक अथ मे दाशनिक नहीं होता है । प्राय साधारण व्यक्ति और विशेषज्ञ एक ही निष्कष पर पहुँचते हुए दिखायी पडते हैं, यद्यपि उनके निष्कष पर पहुँचने की विधि म बहुत अतर होता है। अत

यदि भरत की सजन प्रक्रिया म सापेक्षतावाद मिलता है तो यह कोई आश्चय की बात नही है ।

कला और साहित्य म दो तत्व निया प्रतिक्रियात्मक सघष म आते है— मानव और प्रकृति तथा मानव और समाज । मानव जब स्वय मानव की अत प्रकृति का विश्लेपण करता है तब भी वह सवथा तटस्थ व्यक्ति की तरह नहा हा सकता । उसका तटस्थ विचार एक ऐसे व्यक्ति का होता है जो आत्मविश्लेपण की प्रनिया म 'भोक्ता' और 'तटस्थ' दोनो होता है, अत 'सापेक्ष' तटस्थता और 'सापेक्ष' भाग की स्थिति म ही विचार और विश्लेपण होता है । मनुष्य न तो 'स्व' स भाग कर कही जा सकता है, और न 'बाह्य' से। उसका स्व' बाह्य का ही एक अश होने अथवा 'बाह्य प्रवाह का ही बिन्दु होने के कारण निरपक्ष स्व' की धारणा ही अवमानिष है। तभी भरत ने सजन-प्रनिया म बाह्य विभावादि नाटय विपयो की कलापूण प्रस्तुति को 'रस' कहा है और साथ ही उहे सुखदुखात्मक' भी माना है क्योकि विभावादि के प्रति हमारा रागात्मक सबध एक सहज स्वीकृत तथ्य है । पग्रत' कहत ही हमारी चेतना के सस्कार झनझना उठते है, एक विशष मूर्ति स्वत हमारी चेतना मे उदित हो उठती है, अत द्रष्टा और दृश्य दो सवथा निरपक्ष वग नही हैं । सम्पूण दृश्य हमारी चतना स साक्षात सम्पृक्त होन के कारण 'कला कला के लिए' सिद्धात को मानन वाल विद्वान सहज ही इस भ्रम म पड गये कि कला एक परम स्वतन्त्र निया है और वह प्रयोजन रहित है, उसका प्रयोजन वह स्वय है । यह सिद्धात स्पष्टत मनुष्य पर सामाजिक प्राकृतिक प्रभाव को अस्वीकार करता है । जब कोई अनुभूति, कोई प्रतिक्रिया सदभहीन नही होती तब सदभरहित सिद्धात स्पष्टत भ्रम है अत भरत के अनुसार रस न तो केवल वस्तुमूलक या द्रव्यमूलक है और न अभिनवगुप्त क अनुसार कवल अपनी वासनाओ का भोग है। कला नाट्य और काव्यादि का रस वस्तुत सापेक्षता वादी आधार पर ही स्पष्ट हो सकता है । केवल विपयगत या विपयी दृष्टि अवमानिष है ।

भरत न सामान्य जीवन स एक उदाहरण चुना था । ओदनादि भोजन म दाल चावल, गरम मसाले दधि दुग्ध आदि अनक पदार्थों का प्रयोग इस प्रकार होता है कि भोजन म एक विशेष रस की सृष्टि हो जाती है । यह रस उसकी तयारी म प्रयुक्त किसी एक पदाथ म नही होता न सब पदार्थों मनमाने प्रयोग से ही उत्पन्न होता है । वह तो अनक पदार्थों के विशिष्ट म निहित होता है । किन्तु केवल पदार्थों के विशिष्ट प्रयोग स भी सृष्टि नही होती, क्योकि स्वाद क लिए भोक्ता की मानसिक स्थिति है, बहुत भूखा व्यक्ति स्वादहीन वस्तुओ म भी अनिवचनीय आस्वाद

है । रोगी व्यक्ति छप्पन प्रकार के राजसी व्यजना स भी आस्वाद या रस प्राप्त नही कर सकता । सामान्य व्यक्तिया म भी रुचि का प्रश्न रहता ही है, और यह रुचि भी निरपेक्ष नहीं होती । उसका निवास पूव काल म प्राप्त भोजन पर आधारित होता है, अन्य परिस्थितियाँ भी रुचि के विकास म सहायक होती हैं । रॉबिसन क्रूसो की रुचि का विकास उसकी आरण्यक परिस्थिति पर निभर था । वही क्रूसो जब समाज मे आता है तब उसकी रुचि मे भी परिवतन हो जाता है । अत रस, रुचि, भोग, प्रियता, अप्रियता, आकषण विकषण—यह सब गत्यात्मक परिस्थिति के सदभ म ही परीक्षित हो सकते है । 'द्रष्टा' और 'दृश्य' पर अलग-अलग विचार भरत को अभिप्रेत नही हो सकता था ।

इसी प्रकार, कला प्रक्रिया म सापेक्षतावाद दिखायी पडता है । लेखन या अकन या चित्रण कल्पनाशक्ति का चमत्कार है—सजनात्मक कल्पना' का । किन्तु यह सृजनात्मक कल्पना जिसे हमारे काव्यशास्त्र म 'नवउन्मेषशालिनी प्रज्ञा' ठीक ही कहा गया है, जिन विभाव भाव, अनुभावो के सयोग से रसनिष्पत्ति करती है, उन्हे इस रूप म ग्रहण नही करती जसे वे अनुभूति क्षेत्र से बाहर के सवथा निरपेक्ष पदाथ हो । सजनात्मक कल्पना विभावादि को रागरजित रूप मे स्वीकार करके ही उन्हे कला सामग्री बनाती है अन्यथा कला का नही, शास्त्र का निर्माण होगा । कवि के लिए राम, अशोक, दमयती, सीता, गगा, हिमालय, आँगन का वक्ष, वन, सरोवर आदि विभाव रागरञ्जित पदाथ है । डा० सुरेन्द्र बारलिंगे ने इस तथ्य की ओर ध्यान नही दिया । कला साहित्य का काय ही यह है कि वह सष्टि की सामग्री को हमारी चेतना परिधि मे समेट कर उन्हे उसका अग बना देती है । हिमालय—पत्थरो, मिट्टी और हिम का पुज न रह कर सुन्दर, उदात्त, आकषक, रक्षक, पिता, शिवधाम, 'मेरा भूधर, मेरा विशाल' बन जाता है । वस्तुत यह भावना बहुत कुछ, सजन के पूव भी, जन मानस म रहती है । पदार्थो, पात्रो आदि के विषय मे जन मानस मे जो रागात्मक सम्बध बने रहते है, उनसे कलाकार लाभ उठाता है, कभी वह पुराने रागात्मक सबधो को जगाता है और कभी नये सम्बन्ध स्थापित करता है । पात्रो के विषय मे भी यही मत ठीक है । भरत ने विभावादि के विवरण मे इतिहास या पुराण से कथाएँ और पात्र चुनने पर बल दिया है । इतिहास या पुराण का अथ यह है कि कुछ पात्रो और परिस्थितियो से हमारा विशेष रागात्मक सम्बन्ध है । कलाकार अपने युग की धारणाओ के अनुकूल उस रागात्मक सबध म परिवतन, परिशोधन करता है । आधुनिक साहित्य म पौराणिकता या 'मिथ' का प्रयोग

भी अनजाने ही इसी दृष्टि पर आधारित है। क्योकि कलाकार या कवि अन्य मनुष्यो से विपरीत प्राणी नही होता, अत उसकी 'सृष्टि' के साथ अन्य व्यक्ति शीघ्र रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। यदि वचारिक भिन्नता से अथवा मूल्य सम्बन्धी विरोध से लेखक के साथ पाठक का तादात्म्य नही भी हो पाता तो भी सवेदना और अनुभूति के स्तर पर पाठक प्रत्येक सफल कृति से 'रस' प्राप्त कर सकता है।

भरत के द्वारा प्रस्तुत 'व्यजन प्रक्रिया' और सृजन प्रक्रिया' मे एक बात अत्यन्त महत्व की है जिसकी अब तक उपेक्षा ही हुई है। हमने ऊपर 'द्वद्वात्मक समन्वय' की चर्चा की है, अर्थात कला-सामग्री के विभिन्न अगो की सगति 'रस' है किन्तु यह 'रसात्मक समन्वय' अगो के द्वन्द्व का समन्वय है, मात्र काव्यागो का मिश्रण नही है। केवल विभावादि का नाम ले देना अथवा रस का कथन आनन्ददायक नही होता वरन प्राय परस्पर विरोधी स्वाद के पदार्थों का विशेष अनुपात म मिलान स जिस प्रकार एक 'विलक्षण रस' की सृष्टि होती है उसी प्रकार कला और साहित्य मे परस्पर विरोधी भावो की विशिष्ट सगति ही सौंदर्य सृष्टि है।

इसीलिये 'शृगार रस' को प्रमुखता दी गयी थी। उसके—सयोग और विप्रलभ—दो भेद बन जान स उनम अधिकाधिक भावनाओ की सगति बन जाती है। रति और शोक परस्पर विरोधी भाव हैं, प्रथम सुखकर और द्वितीय दुखकर भाव है। किन्तु विप्रलभ शृगाररस मे इन दोनो का समन्वय होता है तभी विप्रलभ को श्रेष्ठ माना गया है। भारत म ही नही, ग्रीस, रोम और योरोप के अन्य देशो म भी दुखात को ही श्रेष्ठ माना गया है, क्योकि उसमे परस्पर विरोधी भावो की सगति सर्वाधिक रूप मे प्राप्त हो सकती है। दुखात या सुखात का निणय इसी आधार पर होना चाहिए। जिसमे परस्पर विरोधी भावो की सगति सर्वाधिक हो, चाह उसका अन्त सुखमय हो या दुखमय वही साहित्य श्रेष्ठ है। भारतवर्ष म वाल्मीकि रामायण और महाभारत सुखात हैं या दुखात ? सीता की मृत्यु (या आत्महत्या ?) के बाद रामायण का अन्त सुखात कैसे माना जायगा ? इसी प्रकार, धरती को वीरविहीन कर विधवाओ पर पाडवो के राज्य को दुखात माना जाय या सुखात ? महाभारत म तो पाडवो की मृत्यु तक दिखायी गयी है। हिमालय मे महाभारत युद्ध के विजयी पाडव जब अवश्यभावी मृत्यु के सम्मुख निवल साबित होत हैं, तब महाभारत की सृष्टि का उद्देश्य सुखात या दुखात न रह कर मानव जीवन की उस यथार्थ दशा का चित्रण हो जाता है जो परस्पर विरोधी भावो, धारणाओ का समन्वय अत कला का परीक्षण 'फामल' धारणाओ पर नही हो सकता। देखना

होगा कि क्या सृजन प्रक्रिया मे उक्त द्वद्वात्मक समन्वय' का सिद्धात प्रयुक्त हुआ है ?

कालिदास के 'रघुवश' और 'शाकु तल' तथा 'किरातार्जु नीय', 'शिशु पालवध', रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'कामायनी' और श्रेष्ठ विदशी साहित्य इसीलिए महान हैं क्योकि इनमे जीवन का यह सिद्धात स्वीकृत हुआ है कि प्रत्येक वस्तु असगतिया का समन्वय है—वह चाहे भय' और 'तरस' नामक भावा का विरेचन हो अथवा विभावादि के सयोग से आनद सष्टि'। किन्तु सभी कलारूपो की सफलता का रहस्य ही यह है कि उनमे जीवन म प्राप्त सगति दिखायी पडती है—वह सगति, जो अपने गभ मे असख्य तरगाकुल विरोधा या प्रतिक्रियाओ को छिपाये हुए है उसी प्रकार जिस प्रकार, वक्ष का फल वक्ष के बीज, खाद, मिट्टी प्रकाश जल आदि के परस्पर सघष या प्रति क्रियाओ को छिपाये रहता है। साहित्य और कलाओ म इसीलिए 'मात्र मनो रजन या साधारण हास्यरस को कभी वह गौरव नही मिल सकता जो गभीर साहित्य को प्राप्त होता है। व्यग्य का महत्त्व भी साधारण मजाक से इसलिए श्रेष्ठ है क्याकि वह जीवन की असगतियो की ओर हमारा ध्यान बडे तीखेपन के साथ आकर्षित करता है।

भरत न व्यजन निमाण का इसीलिए उदाहरण दिया है ताकि काव्य-घटको के परस्पर विरोधी तत्वा की ओर हम ध्यान द। लवण शकरा आदि षट स्वाद वाले तत्वा को एक निमित्त अनुपात म मिलाया जाता है। पानक' रस मे चपरी, नमकीन मीठी और खट्टी चीजा का प्रयोग होता है किन्तु 'पानकरस' इन सब की सगति ही तो है। इसीप्रकार प्रत्येक सष्टि मे यही सिद्धात मिलता है। मेघदूत' मे यदि सयोग के मधुर स्मृति बिम्बो और वियोग के दुःख का समन्वय न होता तो वह निकृष्ट कोटि की रचना हो जाती इसी प्रकार कामायनी मे देवसष्टि की भस्म पर मानवता की सष्टि की गयी है। प्रलय और नवनिमाण कामवासना और उदात्तता बुद्धि और श्रद्धा के विरोध का सामजस्य कामायनी' म पूर्ण सफल हुआ है। रामचरितमानस का देवदानव सघष तो प्रसिद्ध ही है। यह सघष बाह्य स्तरा पर भी है ओर आत रिक स्तरा पर भी। गटे के 'फाउस्ट', शेक्सपियर के हमलेट' और शेली के वस्टविड' मे ही नही, आधुनिक सभ्यता की सकटकालीन स्थिति के परिचायक टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैण्ड' मे भी यही द्वद्व चित्रित है। मुक्तक काव्य मे व्यक्ति और परिस्थिति का यह द्वद्व मैं' के माध्यम स प्रकट होता है। यहाँ कलाकार व्यक्ति और बाह्य के द्वद्व निजता के स्तर पर भोगता है और उसी माध्यम स प्रकट करता है। इनका अथ यह नहीं है कि द्वद्व की मात्रामवम

एक्सो होती है । वीर, रौद्र, वीभत्स आदि म यह द्वद्व स्पष्ट होता है, अधिक होता है किन्तु सौंदय वणन मे यह चेतना की भीतरी पर्तो मे उतर कर कलाकार को सक्रिय करता है । सौंदय की अनुभूति ही वस्तुत असौंदय से आघातित चेतना का प्रतिक्रिया है । धूप के बिना छाया का, दु ख के बिना सुख का, कुरूपता के बिना सौदय का अस्तित्व सभव ही नही है । प्रकृति के सौंदय का अथवा मानवी सौंदय का मुग्ध होकर वणन करने वाले कवि और पाठक यह सकेत देते हैं कि उन्हे जीवन मे बहुत कुछ कुरूप, कुत्सित देखने या भोगने को मिला है । जगत के प्राणियो मे क्रिया के बिना प्रतिक्रिया और प्रतिक्रिया के बिना क्रिया सभव नही है । हम सौंदय' रस और आनद की भूख से पीडित ही इसलिए है क्योकि जीवन सुखदु खात्मक है यहा अमिश्रित आनद का अस्तित्व ही नही है ।

जीवन के इस स्वरूप को भरत समझते थे, इसीलिए परवर्ती आचार्यो न उन्हे स्वीकृति दी किन्तु उक्त अमिश्रित आनन्द की खोज के लिए उन्ह सर्वातीत आनन्द या ब्रह्मानन्द की कल्पना करनी पडी । काय जीवन का कलापूण स्मरण है । सृजनात्मक कल्पना के स्तर पर वास्तविक जीवन की कटुता, जो हमारे व्यक्तिवाद का परिणाम है, समाप्त हो जाती है और हम दिक्-कालविच्छिन्न एक अलौकिक प्रतीत होने वाले आनन्द का लाभ करते ह । कोटियो और विरोधो से भरे जीवन के चित्रण से जन्य आनद को परवर्ती दाशनिको न 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कह कर उस कलागत आनन्द की गौरववृद्धि की ह, किन्तु भरत ने इस गौरव वृद्धि की, चिंता नही की, न उन्होने 'रस' को वस्तुमूलक या व्यक्तिवादी दृष्टि से देखा । उन्होने अपनी अद्भुत अतह ष्टि के बल पर कला के उक्त स्वरूप का साक्षात्कार किया था जिसमे काव्य 'ब्रह्मानन्द सहोदर' नही, जीवनानद सहोदर' प्रमाणित होता है । केवल विषयीगत या विषयगत दृष्टिकोण से देश विदेश मे कला की व्याख्याएँ आशिक सत्य को प्रस्तुत कर सकी है, पर केवल भरत की सापेक्षतावादी दृष्टि ही कलाओ और काव्य के मम को उद्घाटित कर सकती हैं ।

सौन्दर्यशास्त्र की समाजशास्त्रीय व्याख्या

भारतीय सौन्दयशास्त्र यह मान कर चला कि मनुष्य की भावभूमि सामान्य है। राग द्वेष सब काला और देशा म सामान्य हैं। सौन्दय की सृष्टि के लिए इस सामान्य भावभूमि का स्पश अनिवार्य है। इस काय म बाधक हैं, हमारे दनिक जीवन के राग और द्वेष, जो नाना भेदा की सष्टि करत हैं। यह भेदभूमि चतना का उपरिधरातल है, इसे काव्य, सगीत, स्थापत्य आदि ललितकलासमूह तोडता है और इस उपरिधरातल के अतरस्थित सामान्य भावभूमि को अकृत कर देता है। एक प्राकृतिक सुन्दर दृश्य दशन के पूव हमारी चित्तवृत्ति भेदभूमिग्रस्त रहती है, किन्तु प्राकृतिक दृश्य पर दृष्टि पडत ही चेतना का उपरिधरातल फट कर छिन्न भिन्न होने लगता है और हम सहसा आनन्द भूमि म अथवा रसदशा म प्रविष्ट कर जाते हैं और मुख स स्वत "अहा! कितना सुन्दर दृश्य है" निकल पडता है। काव्य पढ़ने, चित्र देखने सगीत सुनने अथवा ताजमहल देखने के समय भी हम इसी 'रसदशा' मे पहुच जाते हैं। शायद उक्त तथ्य का खडन किसी ने नही किया, तब विवाद का विषय क्या है?

विवाद का विषय यह है कि क्षण विशेष म अथवा रसदशा म प्राप्त 'अनुभव' का स्वरूप क्या है? भारतीय काव्यशास्त्र इस अद्भुत और अलौकिक आनन्द का अश मानता है और इस सौन्दयानन्द को सष्टि मे व्याप्त मूल चेतना से सम्बद्ध कर देता है अर्थात दार्शनिक दृष्टि से वह इस सौन्दयजन्य अनुभव की व्याख्या करता है। योरोप के विचारकों ने भी दार्शनिक दृष्टि स इस अनुभव की, व्याख्या की जिसकी चरम सीमा हीगेल की व्याख्या म सुरक्षित है। इधर मनोविज्ञान के प्रकाश में इस अनुभव की व्याख्या हुई है। इस प्रयत्न म एक स्वतन्त्र शास्त्र या विज्ञान का जन्म हुआ, जिसे 'सौन्दयशास्त्र' कहा जाता है। इस शास्त्र का कथन यह रहा है कि सौन्दयजन्य अनुभव स्वच्छन्द अनुभव है अन्य अनुभवों से अलग, और इसका अध्ययन अन्य अनुभवों स अलग करके ही होना चाहिए। आई० ए० रिचर्ड्स ने इस सौन्दयशास्त्र का

"भ्रम" कहा है क्योंकि ऐसा मान लेने से ही 'कला के लिए कला' जैसे भ्रम पूर्ण सिद्धांत सम्मुख आए हैं–

Almost from the begining of Scientific aesthetic, the insistence upon the aesthetic experience as an experience, peculiar complete and capable of being studied in isolation, has received prominence 1

रिचर्ड्स ने यह भी बताया है कि यह वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण था कि एक समय में एक वस्तु का अध्ययन होना चाहिए अत सौंदर्य जन्य अनुभव को 'सवतन्त्रस्वतन' अनुभव मानकर सौंदर्यशास्त्र में अध्ययन होने लगा। इस प्रवत्ति के फलस्वरूप कलावाद को बल मिला जिसमे शब्दसंगति या शब्द क्रीडा को ही कला का चरम उद्देश्य मान लिया गया अथवा कला के क्षेत्र से नीति (Ethics) अथवा सामाजिक हित के भाव को निकाल बाहर कर दिया गया।

यह मानकर भी कि सौंदर्यजन्य अनुभव विचित्र और स्वतंत्र प्रतीत होने पर भी अन्य अनुभवों से सम्बद्ध है, और इस अनुभव विशेष का जन्म भी अन्य अनुभवों के कारण ही होता है, रिचर्ड्स मनोवैज्ञानिक पद्धति को ही अधिक अपनाता है, समाजशास्त्रीय पद्धति को नहीं।

समाजशास्त्रीय पद्धति सौंदर्य जन्य अनुभव की व्याख्या के पूर्व कुछ प्रश्न प्रस्तुत करती और उनके उत्तर अन्य पद्धतियों से नहीं मिल सकते, यह साबित करती है। सौंदर्य–जन्य अनुभव क्यों उत्पन्न होता है? भारतीय काव्यशास्त्र पूर्व जन्म के संस्कारों की शरण लेकर कहेगा कि यह मनुष्य का स्वभाव है, नैसर्गिक प्रवत्ति है। मनोविज्ञान भी नैसर्गिकता अथवा मूलप्रवृत्तियों (Instincts) की शरण लेगा। जन्तुविज्ञान (Biology) भी मूलप्रवत्ति की शरण लेता है। किन्तु इनमें जन्तुविज्ञान यह भी बताता है कि सौंदर्यबोध का मनुष्य में शनैः शनैः विकास हुआ है। पशुओं, पक्षियों और अन्य मनुष्येतर जन्तुओं में यह प्राकृतिक है किन्तु मनुष्य में रंग, शब्द, स्पर्श आदि का आनन्द प्राकृतिक होने पर भी उसका अधिकतर सौंदर्यबोध विकसित हुआ है, "विकसित जातियों में सौंदर्यबोध एक संकुल और विचार मिश्रित अनुभव के रूप में दिखाई पड़ता है।"[2]

---

1 Principles of Literary Criticism–Page 73

2 "With cultivated men such (aesthetic) sensations are, however, intimately associated with complex ideas and

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पशु पक्षियो मे सौन्दर्यबोध का अध्ययन केवल जन्तुविज्ञान की सहायता से हो सकता है किन्तु मानवीय सौन्दर्य बोध का अध्ययन चूंकि सभ्यता के क्रमिक विकास मे सम्बन्धित है अत 'सभ्यता' के अध्ययन से ही उसमे रचित ललितकलाजन्य अनुभवो का अध्ययन सम्भव है। मनोविज्ञान इस "विकास" की समस्या को नही सुलझा सकता न सुलझा सका है। फ्राइड, युङ्ग एडलर आदि किसी मनोवैज्ञानिक ने सभ्यता के इतिहास के अध्ययन के आधार पर सौन्दर्य का अध्ययन नही बताया। मनोविज्ञान अनुभव को 'देशकालातीत' मानकर, मनुष्य के अतरग का अध्ययन तो करता है किन्तु यह नही बताता कि उसका अतरग बाह्य ठोस परिस्थितियो से भी बनता है और बाह्य परिस्थितिया ही 'मन' के अध्ययन मे अधिक सहायक हो सकती है। इस प्रकार 'सौन्दर्यशास्त्र' की समाजशास्त्रीय व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि पशु, पक्षिया और मनुष्य के इन्द्रिय बोध को जन्तुविज्ञान 'प्राकृतिक' मानता है मूल प्रवृत्तियो को भी 'प्राकृतिक', माना जाता है परन्तु किस अर्थ मे ? पशु पक्षियो और मनुष्यो आदि जीवों का जब विकास हुआ है तब यह मानना होगा कि उनके सौन्दर्य-बोध की 'अत प्रवृत्ति" का भी विकास हुआ है। उदाहरण के लिए हम इस प्रश्न का उत्तर नही दे सकते कि आकाश का नीला रग क्या अच्छा लगता है ? आज नीला रग हम अच्छा लगता है, इसे "अत प्रवृत्ति" कह दिया जा सकता है किन्तु बात ऐसी नही है। यह सत्य है कि नीले रग को भी जीव धीरे-धीरे ही समझने लगे होगे, क्योकि रग वही प्रिय लगता है जिसकी प्रतिक्रिया हमारे या अन्य जन्तुओ के तन और मन पर सुखद होती है अत रानी के चारो ओर नल्भ का भ्रमण मादा के सम्मुख नर पक्षी का गायन अथवा मादा कीट के सम्मुख नर कीट का भुनभुनाना भी एक दीर्घ विकास की शृङ्खला का परिणाम है। इस प्रकार समाज बनने के पूर्व शताब्दियो के दौरान 'प्राकृतिक" समझे जाने वाले "सौन्दर्य-बोध" का भी विकास हुआ है। इस अर्थ मे "अत प्रवृत्ति" भी स्थायी प्रवृत्ति नही है, उसमे बराबर परिवर्तन हो रहा है किन्तु अत प्रवृत्ति का यह परिवर्तन इतना धीमा है कि उसे शताब्दियो के बाद जान पाते हैं। क्योकि 'अत प्रवृत्ति' मे परिवर्तन अत्यधिक मन्द होता है अत उसे

---

trains of thought" (Darwin The Descent of Man quoted by G Plekhanov in his Unaddressed letters moscow 1957 page, 14)

प्रकृतिप्रदत्त या स्थायी तत्व मान लिया जाता है। इस दूसरे अथ मे ही भारतीय काव्यशास्त्र, रति, क्रोध, भय, जुगुप्सा आश्चय, उत्साह, हास और ईर्ष्या आदि को स्थायीभाव" कहता है। पाश्चात्यकाव्यशास्त्र मे भी इन्हे स्थायी माना गया है इसी उक्त द्वितीय अथ म। किन्तु जन्तुविज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि अत प्रवृत्तियाँ स्थायीतत्व नही हैं। बाह्य परिस्थितियो मे आमूलचूल परिवतन हो जाने पर अत प्रवत्तियो म भी आमूल परिवतन हो सकता है।

किन्तु मूल अत प्रवत्तिया के विकास की कहानी, प्राकृतिक युग की कहानी है, सामाजिक युग की नही। समाज जब से शुरू होता है, तब से हम यह स्पष्ट रूप से पाते हैं कि मनुष्य मे राग है द्वेष है। वह भूख से पीडित होकर व्याकुल होता है, रग रूप को देख कर प्रसन्न होता है। बादलो की गरज सुनकर आल्हादित होता है और शत्रु को देखकर उस पर टूट पडता है। सगीत, नृत्य, और चित्र कला आदिम से आदिम समाज मे थे, इसके प्रमाण मिलते है किन्तु इनके सगीत नृत्य चित्र और काव्य का स्वरूप इनकी सभ्यता के विकास के अनुरूप है। फिर यह भी पता चलता है कि जसे जसे समाज का विकास होता गया है, उत्पादन के साधनो मे परिवतन होता गया है वसे वसे शासन, विधि न्याय नीति धम और कला मे परिवतन होता गया ह।

कला मे परिवतन या विकास का कोई विरोध नही करता परन्तु प्रश्न तो यह है कि रति, क्रोध भय, ईर्ष्या द्वेष, घणा, उत्साह, हास, ग्लानि आश्चय आदि स्थायी मनोवत्तियाँ आज भी हैं, और आदिम समाज मे भी थी तब क्या साहित्य कला मे परिवतन केवल इन मनोवृत्तियो के विषय और प्रयोग तथा अभिव्यक्ति मे ही हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि समाज शास्त्र यह नही कहता कि ये मनोवत्तियाँ मूलत बदल गई है। कहना यह है कि युग विशेष के अनुरूप इनके प्रयोग, इनकी मात्रा और इनके प्रभाव मे बराबर विकास दिखाई पडता है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था मे मनुष्य के सौंदयबोध भाव और आनन्द मे बराबर अन्तर दिखायी पडता है, इस अन्तर या विकास की व्याख्या समाजशास्त्र द्वारा ही हो सकती है मनोविज्ञान अथवा जन्तुविज्ञान द्वारा नही, न दाशनिक विधि हमारी यहाँ सहायता कर सकती है।

इस बिन्दु को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। मनोविज्ञानवादियो का समाज शास्त्रियो, और मुख्यत मार्क्सवादियो पर आक्षेप यह है कि ये लोग सौंदयजन्य अनुभव के कारणो की व्याख्या के चक्कर मे पड जाते हैं अत आलोचनापुस्तक समाजशास्त्र या इतिहास की पुस्तक बन जाती है। भार-

तीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों पर भी यही आरोप है। किन्तु मार्क्सवादी समाजशास्त्र का यह दोष नहीं है, दोष है प्रयोक्ताओं का जो तुलसीदास द्वारा सीता के सौंदर्य-वर्णन की व्याख्या करते समय सम्पूर्ण मध्यकालीन इतिहास को पुस्तकों में भर देते हैं। समाजशास्त्र का कथन यह है कि किसी भी अनुभव की व्याख्या के लिये यह देखना चाहिए कि किन परिस्थितियों के कारण यह अनुभव उत्पन्न हुआ है? इन परिस्थितियों में आर्थिक परिस्थिति मुख्य है किन्तु उत्पादन के साधनों और विनिमय के आधार पर विकसित, किसी युगविशेष की 'संस्कृति' के अनुसार ही उस युग की मानसिकता (Mentality) का जन्म होता है। अतः यह सम्भव है कि किसी अनुभवविशेष का आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्ध न हो या बहुत दूर का हो और सांस्कृतिक क्षेत्र अथवा "सुपरस्ट्रक्चर" से उसका घनिष्ट सम्बन्ध हो। सीता के सौंदर्यबोध अध्ययन के लिये इसी सुपरस्ट्रक्चर का अध्ययन आवश्यक होगा किन्तु यह भी स्मरणीय है कि अंतिम व्याख्या के लिये उत्पादन के साधनों और विनिमय पर विचार किये बिना, सुपरस्ट्रक्चर का अध्ययन पूरा नहीं होगा।

मैंने इस समस्या को इंग्लैंड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी मौरिस कौनफोर्थ के सम्मुख पत्र द्वारा प्रस्तुत किया था, उनका पत्र मुझे मिला है, उसमें उन्होंने यह लिखा है कि कला मनुष्य की सामान्य प्रेरणाओं का उत्पत्ति है जो सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में सामान्यतः मिलती हैं किन्तु इन प्रेरणाओं का प्रयोग सामाजिक व्यवस्था विशेष के अनुरूप होता है—

> "On the question of sensibility, sentiment, and pleasure, I would myself think it is very vital to bear in mind that art is *a product of impulses common to all humanity,* operating in every social system certain features of the mode of operation only being modified by the character of each *Social System*"

उदाहरण के लिये सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन द्वारा ही इस तथ्य की व्याख्या की जा सकती है कि संस्कृत साहित्य और प्राचीन कला में विषय राजा और रानी क्यों रहे अथवा ईश्वर का इतना महत्व क्यों रहा? अथवा इनकी अभिव्यक्ति इतनी अलंकृत क्यों है? किन्तु समाजशास्त्र या मार्क्सवाद इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं कर सकता कि रति का वर्णन हम आज भी कर रहे हैं। तब रति का विषय ईश्वर, राजा प्रिया, प्रकृति आदि थे अब जागरूक लेखक अपनी रति या आसक्ति या प्रेम का विषय प्रकृति और प्रिया के साथ-साथ 'सामान्य जन" को अधिक बनाता है। क्यों? क्योंकि इतिहास

यह बताता है कि हम सामान्य जन को सगठित और शिक्षित करके ही वर्गहीन समाज की रचना कर सकते हैं। उसी प्रकार सस्कृत साहित्य की राजभक्ति या ईश्वर भक्ति अब प्रिय नहीं लगती किन्तु मेघदूत अब भी प्रिय लगता है। राम को ईश्वर मानने वाले तुलसी की भक्ति प्रिय नहीं लगती किन्तु राम का चरित्र सीता का पातिव्रत कौशल्या का स्नेह भाइयो का प्रेम और अन्याय के विरोध मे राम के प्रयत्न की प्रवृत्ति प्रिय लगती है, क्योंकि ये 'मूल्य' हम आज भी प्रिय हैं। रामायण की अभिव्यक्ति पुरानी है किन्तु इन मूल्यो को नई अभिव्यक्ति दी जा रही है अत आदिम मनुष्यो के विकास के पूर्व तक जिन वासनाओं' या मूलप्रवृत्तियो का विकास हो चुका था, उनका हम लक्ष्य बदल सकते है उनका क्षेत्र बदल सकते हैं उनकी मात्रा कम या अधिक कर सकते है किन्तु उन्हे समाप्त नहीं कर सकते क्योंकि अभी तक प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था मे इतना परिवर्तन नही हुआ है कि मूल प्रवृत्तियो का स्वरूप ही बदल जाय। शताब्दियो से वर्गवादी समाज मे, मनुष्य मे प्रदर्शन, असहयोग, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, लोभ क्रोध आदि वृत्तियो का विकास हुआ है, उन्हे रूस और चीन भी समाप्त नहीं कर पाया क्योंकि अभी परिवर्तन आर्थिक क्षेत्र मे हुआ है और वह भी विश्व के एक भाग मे। इन बुराइयो का या दुष्ट अन्त प्रवृत्तियो का नाश तब होगा जब शताब्दियो तक मनुष्य वर्गहीन समाज मे रहेगा और वर्गहीन समाज के लिये, ऐसी कला और काव्य की निरन्तर सृष्टि होगी जिसमे इन अमानवीय वृत्तियो को आदर न मिले। किन्तु प्रतियोगिता पर आधारित समाज मे ऐसे साहित्य का जन्म सम्भव नही है। पाश्चात्य देशो मे जो साहित्य आ रहा है प्रमाण है। और हमारे नवयुवक इस व्यापक और दूरदर्शी दृष्टि के अभाव मे उसी का अन्धानुकरण अपना उद्देश्य समझ रहे है।

किन्तु इसका अर्थ यह नही कि हास, भय, आश्चर्य, रति आदि मानवीय वृत्तियो का नाश हो जायगा। इसका जो अमानवीय और असामाजिक रूप आज प्रयोग मे आ रहा है, केवल उसका नाश होगा। प्रेम होगा, पर असामाजिक नहीं, भय होगा, किन्तु अकल्याणकारी कार्य से, घृणा होगी, पर अवांछनीय से, आश्चर्य होगा, पर प्रकृति के रहस्योद्घाटन अथवा असीम साहस को देखकर हास होगा, परन्तु निर्मल ग्लानि होगी किन्तु भूल पर। इस प्रकार समाज शास्त्र और मार्क्सवाद मूल अन्त प्रवृत्तियो का विकास युगावस्था के अनुरूप मानता है।

इसी प्रकार समाज शास्त्र का यह भी कथन है कि नई अन्त प्रवृत्तियो का जन्म भी होता है। वर्गवादी समाज मे प्रतियोगिता तथा हीनता और

उच्चता की प्रवृत्ति स्वाभाविक लगती है, वर्गहीन समाज मे उसके स्थान पर सहयोग, एक स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप म उन्नति हो सकता है । आदिम समाजो म सहयोग एक स्वाभाविक प्रवृत्ति रह चुकी है । मध्ययुग म प्रदेशभक्ति या जातिभक्ति या राजभक्ति स्वाभाविक थी, आज राष्ट्रभक्ति स्वाभाविक लगती है । किसी युग मे बहुविवाह स्वाभाविक था, कवि इसका गायन करते थे, अब इसे अस्वाभाविक कहा जा रहा है । किसी युग म बहुसतति प्रशसा और गौरव का विषय थी, अब यह भविष्यवाणी हो रही है कि इस सभ्यता का अन्त 'न्यूक्लियर' अस्त्रो से नही, जन सख्या की वृद्धि स होगा । इस प्रकार परिस्थिति बदल जाने पर, मानसिकता बदलती है और नवीन मानसिकता नई अन्त प्रवृत्तिया को जन्म देती है । अत काव्य और कला का निरुद्देश्य नही माना जा सकता ।

पुन प्रश्न होगा कि यह सब तो ठीक है किन्तु काव्य को तो हम आनन्द के लिये पढते है । सगीत सुनते समय हम यह नही सोचते कि हम वर्गहीन समाज बनाना है । समाज शास्त्र इसका उत्तर यह देता है कि कला भोग के समय जो आनन्द देती है, वह आनन्द अनजान म ही हमम परिवर्तन कर देता है । 'भरवी' और 'दादरा' सुनते समय आनन्द आता है किन्तु दादरा का वही प्रभाव नही हाता जो भरवी का होता है, इसी प्रकार बिहारी के विपरीत रति का वणन वही प्रभाव उत्पन्न नही करता, जो रामायण की चौपाई करती है । बाजारू गजल और गालिब की गजल का प्रभाव भिन्न है । क्यो ? क्यावि कला मे विचार का तत्व हमे प्रभावित करता है जबकि हम समझते यह हैं कि कला मे विचार प्रभावित नही करते, केवल अभिव्यक्ति प्रभावित करती है । विचार ही भाव को दिशा देता है, विचार ही अभिव्यक्ति मे परिवतन उपस्थित कर देता है जबकि हम समझते यह हैं कि हम मात्र प्रयोग कर रह हैं । प्रयोगवाद के पीछे एक विचारधारा है एक विशेष दृष्टिकोण है हालाकि प्रयोगवादी कहते यही हैं कि हम प्रयोग के लिये प्रयोग कर रहे हैं । समाज शास्त्र इन विचारो की परीक्षा करता है । वह बताता है कि इनमे अमुक विचार समाज के लिये हानिकर हैं, अमुक लाभप्रद हैं किन्तु कलावादी समझते हैं कि यह हमारे क्षेत्र म हस्तक्षेप है ।

वीरगाथाकाल के बाद भक्तिकाल की विचारधारा भिन्न है तभी नया युग आया नई अभिव्यक्ति आई और नया भाव आया । रीतिकालीन दृष्टिकोण भिन्न ह अत कला भिन्न हो गई । भारतेन्दु युग म विचार बदला अत कला का स्वरूप और आनन्द भी बदल गया । द्विवेदी युग का विचार भारतेन्दु युग से भिन्न है अत द्विवेदीयुगीन कला भिन्न ह । छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोग

वाद—ये आंदोलन विचार के आदोलन है, मात्र शैली के नहीं। जीवन और जगत के प्रति दृष्टिकोण भिन्न होने से नया आदोलन साहित्य और कला मे चल पडता है। पुनरुत्थान भी इसलिये होता है कि हमे नये युग म प्राचीन दृष्टिकोण की आवश्यकता पडती है अत सौदय की समाज शास्त्रीय व्याख्या कला और काव्य को, युग विशेष की सामाजिक व्यवस्था, बाह्य और आंतरिक प्रभाव आदि तत्वो का विश्लेषण करके 'सौंदयजन्य अनुभव" का स्वरूप समझाती है। उसके सम्मुख सदा यह प्रश्न रहता है कि आज समाज, विकास के किस सोपान मे है, उसकी क्या आवश्यकता है और कला उसमे क्या और कसे सहयोग कर सकती है, इस प्रकार कला और काव्य मात्र मनोरजन न रहकर, एक साधक क्रिया बन जाती है कलाकार और लेखक समाज के वतमान और भविष्य के कणधार के रूप म प्रतिष्ठित होता है। वह कोरा 'नट' 'भाण' या 'भाट' के रूप मे नही अपितु 'ऋषि" के रूप मे आदृत होता है।

पुन प्रश्न होगा कि कला प्रक्रिया मे विचार का इतना महत्व होता तो 'दशन' की पुस्तको म आनन्द आता। इसका उत्तर तो भारतीय काव्य-शास्त्रियो ने ही दिया है और यह उत्तर शुद्ध समाजशास्त्रीय है। मम्मट के अनुसार काव्य या कला का उद्देश्य वही होता है जो धम या दशन' का होता है। किन्तु काव्य या कला 'कान्तासम्मत वचन' है जबकि वेद-शास्त्र आदि गुरु या 'प्रभुसम्मत वचन' है अत काव्य या कला अपनी विशिष्ट पद्धति के कारण, धम और दशन स भिन्न है, उद्देश्य की दृष्टि स नही। आज के युग मे धम और दशन का स्थान इतिहास और समाजशास्त्र ने ले लिया है अत समाजशास्त्र का जो उद्देश्य है (अर्थात समाज मे आवश्यक परिवत्तन) वही काव्य और कला का भी उद्देश्य ह। माग यह है कि काव्य और कला ऐसी हो जिसमे मनुष्य आनन्द ले किन्तु साथ ही वह अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को बदल भी दे उसके भाव की दिशा निश्चित करे उसके अनुभव को सामूहिक हित के विरुद्ध न जाने दे। एसी कला' प्रचार नही हो सकती क्यो कि ऐसी कला और काव्य मे कलाकार और कवि को यह ध्यान रखना होगा कि दशक या श्रोता यह सदेह न कर कि उस उपदेश दिया जा रहा है। यह काय कठिन है, किन्तु इस काय म सफल होने स ही तो कवि और कलाकार प्रशसा पात्र बनता है, अन्यथा अन्य पुस्तक दहुत है। कला और काव्य का अनुशीलन मनुष्य आनन्द के लिए करता है, और कला और काव्य उसे अनजान मे ही उदात्त बना देते है आनन्दमयी पद्धति द्वारा मनुष्य मे परिवतन करना ही कला की विधि है।

काट ने 'सौन्दर्य' की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "सौन्दर्य वह है जो लाभ की भावना के बिना ही आनन्द देता है।" * किसी सुन्दर दृश्य को देखते समय लाभ की भावना नहीं होती फिर भी हम आनन्दित होते हैं। यह सिद्धान्त वस्तुतः अनुपयुक्त है। आदिम जातियां के लोग नृत्य आनन्द के लिए करते हैं, किन्तु उनके 'नृत्य' उनके वास्तविक जीवन की "पुनप्रस्तुति" मात्र होते हैं। थका हुआ बर्बर शिकार का नृत्य करता है, आनंद आता है, किन्तु नृत्य के बाद वह 'शिकार' के लिए अधिक योग्य और शक्तिमान बन जाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन के पूर्व हमारी जन्ता हम कष्ट देती है, दृश्य-दर्शन के बाद हम अपने कार्य में अधिक स्फूर्ति अनुभव करते हैं, और चित्तवृत्ति कितनी उदात्त हो जाती है, यह हम सब अनुभव करते हैं। इसी प्रकार 'सूरसागर' के पद को हम आनन्द के लिए गुनगुनाते हैं परन्तु पदगायन या श्रवण के बाद हमारी चित्तवृत्ति कितनी उदात्त हो जाती है? निराला की 'सन्ध्यासुन्दरी' पढ़िए, अथवा राम की शक्ति पूजा' पढ़िए पढ़ने के बाद आत्मनिरीक्षण कीजिए, कला का चमत्कार स्वतः प्रमाणित होगा। इसके विपरीत रीतिकाल का 'अष्टयाम विलास' पढ़िए, कला का दुष्प्रभाव स्पष्ट हो हो जायगा।

समाजशास्त्र का भी यही कथन है कि कला वही महान है जो पाठक या दर्शक को यह किंचित भी अनुभव न होने दे कि उसे शिक्षित करने का प्रयत्न किया जा रहा है, अथवा उसमें मात्र विचार भरे जा रहे हैं। तभी 'छायावादी' कला श्रेष्ठ है और द्विवेदीयुगीन कला, सामान्य।

'सौन्दर्य' का भोग सर्वदा उपयोगिता के विचार के बिना ही किया जाता है, वह सत्य है परन्तु इससे काण्ट का यह कथन सिद्ध नहीं होता कि सौन्दर्य का उपयोगिता से सम्बन्ध नहीं है। सौन्दर्य' सर्वदा उपयोगी होता है, सौन्दर्य प्रभावित ही इसलिए करता है कि उसमें 'उपयोगी' तत्व छिपा रहता है, इस छिपाव या गोपन अथवा व्यंजना के कारण 'कला' का जन्म होता है, तभी तो अभिनवगुप्त ने कला को 'ध्वनि' कहा है और सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से यह आज भी सत्य है और सर्वदा सत्य रहेगा।

प्लेखानोव ने इसीलिए कला के आनन्द की इस प्रकार व्याख्या की है—"कला का आनन्द वह आनन्द है जो मनुष्य (जाति) के लिए उपयोगी होता है किन्तु इस आनन्द में जानबूझ कर उपयोगिता का विचार नहीं रहता",—

* The Beautiful is that which pleases irrespective of benefit

Enjoyment of artistic production is the enjoyment of that (be it objects, phenomena or states of mind) which is beneficial to the race, irrespective of any conscious consideration of benefit [1]

कला का प्रभाव हमारी कल्पनात्मक या भावात्मक शक्ति पर पडता है, विचारात्मक पर नही। अत उस कला का कोई प्रभाव नही पडता जो जानबूझ कर उपयोगिता की घोषणा करती है। किन्तु सफल कला मूर्तियो (images) द्वारा विचारो और भावो की अभिव्यक्ति मिलती है अत यद्यपि हमे प्रभावित करने मे उपयोगी विचार और भाव सहायक होते हैं किन्तु हम एक मनोवैज्ञानिक भ्रम से समझते यह हैं कि हम केवल "मूर्तियाँ" ही प्रभावित कर रही हैं। 'कला' को इसीलिए 'भ्रम' या 'जादू' भी कहा गया है। और यह भ्रम ही उसकी महान शक्ति है। जो कलाकार इस 'भ्रम' को उत्पन्न नही कर सकता, वह प्रभाव नही डाल सकता किन्तु इस 'भ्रम' की व्याख्या मे समाजशास्त्रीय पद्धति ही सफल हो सकती है, जिसके अनुसार कला का मर्म वे 'विचार' और भाव है जिन्हे कला अभिव्यक्त करती है, न कि वे मूर्तियाँ जो मात्र माध्यम है साधन है। प्रयोगवाद मे 'साधन' को 'साध्य' बनाया जा रहा है। उसमे 'अप्रस्तुतविधान' अथवा अभिव्यक्ति-कुशलता पर जितना बल दिया गया है, उतना इस तथ्य पर नहीं की काव्य मे किन विचारो और भावो को वाणी मिलनी चाहिए। अत समाजशास्त्रीय दृष्टि न होने से, प्रयोगवाद महान कृतियो की सृष्टि करने मे अक्षम प्रमाणित हुआ।

हिन्दी मे उक्त 'सौन्दर्य' की समाजशास्त्रीय व्याख्या अभी भी प्रारम्भिक अवस्था मे है। अत उसके आधार पर जो व्याख्याएँ हुई हैं, उनमे कमियाँ है। मुख्यत सद्धान्तिक पक्ष अभी दुर्बल है। उधर भारतीय काव्यशास्त्र की नए शब्दो मे डा० नगेन्द्र व्याख्या कर रहे है। यह प्रयत्न आवश्यक होने पर भी अपूर्ण ही रहेगा जब तक समाजशास्त्र से सहायता न ली जायगी। डा० नगेन्द्र प्राय फ्रायडीय मनोविज्ञान से सहायता लेते हैं। नवीन शारीरशास्त्र (Physiology) मुख्यत 'पावलोव" के नवशरीरशास्त्र ने "चिंतनात्मक मनोविज्ञान" को अवैज्ञानिक प्रमाणित कर दिया है। अत इस नवशरीर-शास्त्र, गस्टाल्ट मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की सहायता से ही वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र की नींव पड सकती है। जिस योरोपियन सौन्दयशास्त्र को हम वैज्ञानिक समझ रहे है, वह रिचर्ड्स के शब्दो मे इस भ्रम मे है कि सौन्दर्यजन्य अनुभव एक विचित्र, निरपेक्ष और असम्बद्ध अनुभव है।

---

1 Unaddressed letters page, 111

रस की समसामयिकता का स्वरूप

क्या आधुनिक काव्य और कलाओं का विवेचन रस सिद्धान्त के आधार पर सम्भव है ?

हिन्दी में द्विवेदीयुगीन काव्य सब प्राचीन काव्यशास्त्र का निकष सक्षम प्रमाणित हुआ है। वस्तुतः द्विवेदीयुगीन काव्य में भी प्रकृति का आलम्बनगत चित्रण रस सिद्धान्त की परम्परागत मान्य कोटियों में नहीं आ पाता, क्योंकि प्रकृति प्रेम को, मानवीय भावनाओं से अधिक महत्त्व सब प्रथम द्विवेदी युग में ही मिला। प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र प्रेम को प्राचीन व्याख्याओं की दृष्टि से या तो 'रति' का ही परिवार विस्तार माना जायगा अथवा 'प्रकृति प्रेमरस' को स्वतन्त्र रस घोषित करना होगा। भरत के पश्चात रसों की संख्या वृद्धि को देखते हुए 'प्रकृति रस' की कल्पना अनुपयुक्त भी नहीं है।

किन्तु छायावादी काव्य में प्रथम बार परम्परागत काव्य से पर्याप्त भिन्नता मिलती है। 'कल्पना का अतिरेक' छायावाद था। इस काव्य में 'प्रकृति-रस' अत्यधिक मर्यादित हुआ तथा भावुकतापूर्ण रचनाएँ भी प्रस्तुत हुईं, । भावोच्छ्वासपरक काव्य तो स्पष्टतः प्राचीन रसवाद की प्रसिद्ध कोटियों में सिमट जाता है, उदाहरणतः 'रति' स्थायी भाव का ही विस्तार रहस्यवादी काव्य में मिलता है। आसक्ति चाहे 'ज्ञेय' के प्रति हो अथवा 'अज्ञेय' की प्रति, अततः मानव की प्रेम भावना की, मिलन-विरह की ही अभिव्यंजना रहस्यवाद की विशेषता है। आचार्य शुक्ल ने 'अज्ञेय' के प्रति प्रेम की कृत्रिमता का औचित्य स्वीकार नहीं किया, किन्तु 'रति' ही रहस्यवाद की मुख्य भावना है। अतः आपाततः विभाव सम्बन्धी कुछ कठिनाई उपस्थित होने पर भी रहस्यवादी रचनाओं की व्याख्या 'रसवाद' द्वारा सम्भव हुई है। प्रगतिवादी या प्रगतिशील काव्य में तो उत्साह, क्रोध, घृणा, शोक आदि की सीधी व्यंजना हुई है। अतः इस काव्य का विषय 'करुणा' होने के कारण 'रसवाद' के आधार पर उसकी विवेचना सहज ही हो सकती है।

किन्तु अतिशय 'नवीन काव्य' में 'स्थायी' का सचारीकरण और 'सचारी' भावों का स्थायीकरण हुआ है अर्थात नये कवियों ने अत्यधिक व्यक्तिगत चित्तवृत्तियों को स्थायी भावों का गौरव दिया है। अत्यधिक निजी अनुभूतियों को 'सामान्य' बनाने के इस विराट प्रयत्न में स्वभावतः आठ नौ

स्थायी भाव मानने वाले प्राचीन 'रसवाद' का अपनी समसामयिकता प्रमाणित करने में कठिनाई हुई है। किन्तु सिद्धान्त वही है, जो सार्वभौम हो।

क्या इस नवीन काव्य के विषय में 'रसवाद' कुण्ठित हो गया है? यदि रसशास्त्र के विकास पर ध्यान दिया जाय, तब तो ऐसा प्रतीत नहीं होता। यूरोप के नवीन काव्यशास्त्र में ग्रीक काव्यशास्त्र को मूलतः इस प्रकार समेट लिया गया है कि वहाँ के 'काव्य' और 'शास्त्र' दोनों क्षेत्रों में एक सैद्धान्तिक निरन्तरता स्पष्टतः दिखायी पड़ती है। रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों में भी मार्क्सपूर्व के कला सम्बन्धी सिद्धान्तों से यथास्थान सबने लाभ उठाया गया है। रूस में बलिन्स्की, चर्निशेविस्की जैसे लेखक 'जनवादी' लेखक कहलाते हैं, मार्क्सवादी नहीं। भारतवर्ष में इस सैद्धान्तिक निरन्तरता के लिए प्राचीन शास्त्र की युगानुरूप व्याख्या करनी होगी अन्यथा प्राचीन और नवीन सर्वदा समानान्तर पथों पर प्रधावित होते रहेंगे जैसा हिन्दी में आज हो रहा है। यद्यपि कुछ अध्येता उस दिशा में भी कार्यरत हैं पर अभी तक प्राचीन को अपने ढंग में समेटते हुए किसी ऐसे साहित्यिक मापदण्ड का विकास नहीं हो पाया है, जिसका स्वरूप सबको स्पष्ट हो।

प्रश्न यह है कि यदि आधुनिक काव्य और कला ने सचरणशील चित्त वृत्तियों को अधिक महत्व दिया है, तो क्या वह रसवाद से विवेचित नहीं हो सकता? 'रसवाद' का सबसे बड़ा दोष यह था कि उसमें परिवर्तनशील यथार्थ पर विचार नहीं हुआ। 'बाह्य' यथार्थ के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण मनुष्य के अन्तर्मानस में भी परिवर्तन स्वाभाविक है। अतः किस प्रकार यह यथार्थ बदलता है, किस प्रकार वह विभिन्न प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर के कला और साहित्य में नवीन रुचियों, नवीन मानव मूल्यों और नवकला रूपों और नवीन आस्वादों (रसों) की सृष्टि करता है, यह निर्णायक तत्वज्ञान 'रसवाद' द्वारा उपेक्षित ही रहा और वह भी इसलिए कि रसवादी मध्य युग में समाज 'आत्म जागरूक' नहीं हुआ था। फिर भी भारतीय दर्शन में 'परिवर्तन', 'क्षणवाद' आदि पर गहन विचार हुआ है। रसवादियों ने जगत की परिवर्तनशीलता को एक सहज सत्य मान कर रसवाद के क्रोड में उस पर विचार नहीं किया। आधुनिक काव्यशास्त्र के निर्माता यह कार्य कर सकते हैं।

किन्तु अनुभूतियों, चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के कारणों पर विचार न होने पर भी, कला और काव्य पर भारतीय रसवाद महत्वपूर्ण प्रकाश प्रक्षिप्त करता है। अनुभूतियों की विभिन्नता की स्वीकृति का विकास बड़ा रोचक है। आधुनिक काव्य की निजी अनुभूतियों के विकास को उसी उक्त विकास से जोड़ना कुछ कठिन नहीं है। भरत के सम्मुख सम्भवतः निर्वेदपरक

साहित्य का अभाव था। अत जन बौद्ध लेखकों की, इस प्रकार की कृतियों के पश्चात् 'विवेचन' की समस्या उत्पन्न हुई, उसी प्रकार यह समस्या आज हमारे सम्मुख है। फलत 'शान्त रस' को नाटय में स्वीकार न कर के भी भरत–परम्परा के ही आचार्यों ने 'काव्य' में उसे स्वीकार कर लिया (काव्य-विषयत्व न वायते—दशरूपक) । इसके सिवा कवियों न मुख्य 'नव रसों' के स्थायी भावों के अतिरिक्त कई संचारियों को केन्द्र बना कर ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें स्थायी संचारी के स्थानापन्न हो गये और संचारी स्थायी के आसन पर आ विराजे। कुछ कुछ आज जैसी ही परिस्थिति रही होगी। ऐसी रचनाओं का ढेर लग गया, जिनमें 'रति' का आयाम विस्तार किया गया और स्त्री पुरुष के मध्य रति' के स्थान पर लोभ स्नेह प्रीति जैसे संचारियों को स्थायी' भाव का पद दे दिया गया। आचार्यों ने रसवाद को आवश्यक मोड़ दे कर शान्त प्रेयस वात्सल्य, भक्ति स्नेह श्रद्धा, आदि रसों की कल्पना की। यहां तक कि लौल्य' (अनुचित आसक्ति स्थायीभाव, यथा सीता के प्रति रावण की आसक्ति) ही नहीं, शिकार (मृगया रस) और जुए (अक्ष रस) को भी 'रस' घोषित कर दिया गया।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसा, !!

परम्परा के प्रति अंध श्रद्धा के कारण भरत द्वारा प्रतिपादित रस–योजना में ही यत्किंचित परिशोधन कर परम्परावादी आचार्य मौन हो गये। यह भी नहीं सोचा गया कि स्वयं प्राचीनों में भी कुछ प्रबुद्धचेताओं ने नवीन अनुभूतियों को रस' का गौरव दिया है, बशर्ते प्रतिभाशाली कवि उन नवीन अनुभूतियों को आस्वादकारी बना सकें।

रुद्रट ने भरत की रस-व्याख्या का निम्न अंश चुन कर आ निकतम' व्याख्या की है, जिसे आधुनिक कवि अपना सकता है—अत्र रस इति क पदार्थ, ? उच्यते, आस्वाद्यत्वात। रस आस्वाद के कारण रस' कहलाता है लोक में मजेदार चीज को 'रसीली' कहते ही हैं। क्या केवल साधारण' या अधिक व्यापक आठ स्थायी भाव ही, संचारियों के सहयोग से 'रस' में परिणत होते हैं ? रुद्रट के अनुसार चित्तवृत्ति मात्र में 'आस्वाद' की शक्ति होती है, अत जितनी चित्तवृत्तियाँ, उतने रस। मुख्यत भरत ने ४६ भावों का वर्णन किया है, जिनमें आठ स्थायी भाव भी सम्मिलित हैं। रुद्रट के अनुसार ये सारे भाव 'रस में परिणत हो सकते हैं —

इति मन्तव्या रसा सर्वे
रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यै ।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसा ।

नेमि साधु न रुद्रट के 'काव्यालकार' के उक्त स्थल की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि ऐसी कोई चित्तवृत्ति नही हैं, जो 'रस' न बन सके। यदुत नास्ति सा कापि चित्तवत्ति या परिपोष गता रसो न भवति।

भरत द्वारा प्रतिपादित कला प्रक्रिया मे एक स्थायी चित्तवत्ति को अन्य 'क्षणिक', सचरणशील मानसिक स्थितियो द्वारा पुष्ट' करने पर बहुत बल दिया गया है और उसका कारण था, किसी वर्ण्य मानसिक स्थिति को इतना तल्लीनकारी बना दिया जाय कि उसके मच पर प्रदर्शन अथवा काव्य पठन के समय प्रेक्षक या पाठक अभिभूत हो उठे। अत किसी एक भाव को अन्य भावनाओ द्वारा 'पुष्ट' करने की प्रवत्ति भारतीय काव्य की विशेषता है। सभवत इसी अर्थ मे नमि साधु न 'परिपाक' शब्द का प्रयोग किया है। उसका तात्पर्य यह है कि कवि चाहे जिस चित्तवत्ति (अनुभूति धारणाजन्य हो, चाहे वस्तुजन्य अथवा भावजन्य) का वर्णन कर, उसे अन्य चित्तवत्तियो द्वारा उस केन्द्रस्थित चित्तवृत्ति को अवश्य 'पुष्ट' करना चाहिए, अन्यथा कला अभिभूत नही कर सकती, वह चेतना म एक हलका स्पर्श दे कर समाप्त हो जायगी, चाहे वह स्पर्श विस्मयपरक हो या आघातात्मक अथवा हर्षपरक या रोमाटिक। अतएव मार्मिकता के लिए किसी चित्तवृत्ति को 'सौरमण्डलीय पद्धति' पर व्यजित करना चाहिए, जिसमे केंद्रस्थ अनुभूति अन्य सहायक चित्तवृत्तियो को आलोकित करती हैं, किन्तु बिना सहायक चित्तवत्तियो के केन्द्रस्थ अनुभूति आकर्षण के अभाव म अस्तित्व रक्षा नही कर सकती और न सभवत उसमे आलोक प्रदान की शक्ति ही आ पाती है।

'नये' काव्य म एकाकीपन से उत्पन्न 'ऊब' निरर्थकताबोधजन्य 'अवसाद' और सब अनुभूतियो को सूत्रबद्ध करने वाले किसी जीवनादर्श के अभाव मे प्रत्येक 'क्षण' मे स्फुरित हो उठने वाले अनुभवो को सटीक बिबो मे व्यक्त करने की अधिक प्रवत्ति है। इनके अतिरिक्त 'नये' काव्य मे अनेक पुरानी अनुभूतियाँ उल्लास, आशा, उत्साह, रति, क्रोध, भय, जुगुप्सा निर्वेद आदि भी वर्णित हो रही है। ऐसे स्थलो मे तो रसवाद व्यापक माना ही जायगा। किंतु निषेधवादी मनोवत्तियो के वर्णन म भी 'नमि साधु' और 'रुद्रट' की दृष्टि स्वीकृत हो सकती है, क्योकि सुख, दुखात्मक होने से मनोवत्तियाँ या तो आशा, उत्साह की तरह भावात्मक होती हैं अथवा 'ऊब' 'सदेह', 'अनिश्चितता' निरर्थकता की अनुभूति आदि के सदृश निषेधवादी। अत चित्तवृत्ति मात्र का रसत्व स्वीकृत होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि किस विधि पर ? उक्त पुष्टिवाद की विधि पर अथवा अन्य भी कोई विधि हो सकती है ?

इसम विचित भी सदह नहा कि भावाभिभूत कर देने वाली काव्य
और कला की विधि 'पुष्टिवाद' ही है, अर्थात् किसी एक मनोवृत्ति को तब
तक अधिकाधिक सचरणशील भावाओ से 'पुष्ट करना', जब तक पाठक की
क्रमश जाग्रत चेतना दनिक जडता को तोड कर कुछ क्षणो के लिए एक
उच्चतर स्तर पर 'स्व पर' से मुक्त हो कर भाव निमग्न न हो जाय। इस
विधि को आधुनिक कवि छोड कर चलना चाहता है, परन्तु सवत्र नही।
आधुनिक काव्य की सजन प्रक्रिया का अध्ययन करते समय यह देखना होगा
कि किस विधि द्वारा कवि किस चित्तवृत्ति को आकपक बनाता है। यह तो
मानना ही होगा कि बहुत सी रचनाएँ इतनी सक्षिप्त है कि उनम उक्त पुष्टि-
वाद' के प्रयोग की गु जाइश ही नही है, अत ऐसे स्थल पर किसी चित्तवृत्ति
के वणन का आकपण क्या है, यह खोजना होगा। ऐसी उक्तिया मे आकपण
को भी हो सकता है कि यह आधुनिक यथाथ का वाणी द रही हा। इतिहास
जहा मोड ले रहा हो, वहा सीधा सत्य कथन भी आकपक हो उठता है यथा
कबीर की उक्तियो म और ऐसा सोचना भी गल्त है कि मात्र धारणाओ की
घोषणा आकपक होती है कबीर की 'खरी वाणी' म उनक चित्त पर असत्य
से उत्पन्न प्रतिक्रिया की तीव्रता ही उनकी धारणाओ को और भी आकपक
बना देती है।

एक अ य कारण यह भी हो सकता है कि किसी चित्तवत्ति का नवी
नता के कारण आकपण आ जाय, नयी कविता' म कमजोर उक्तिया भी
विचित्र अनुभवा की नवीनता क कारण ही कुछ समय तक रोचक लगती हैं।
कभी नवीन बिंबो से पुरानी चित्तवृत्तिया भी मार्मिक हो उठती है, वाकचातुय
अथवा भामह के शब्दा म वक्राक्ति' से भी नूतन चित्तवत्ति की अभि यक्ति
सफल हो जाती है। अत यदि कवि पाठक को भावाभिभूत नही करना चाहता,
वह यदि उसे कभी चकित करता, कभी आघात करता, कभी पकड कर
झिझोडता, कभी खिझाता कभा रिझाता और कभी उसके सामने रिरियाता'
है, तो वह उक्त प्राचीन 'पुष्टिवाद' को यथावत् अपनान क लिए विवश नही
है। 'नमिसाधु' न यह कहा भी नही है कि वण्य चित्तवृत्ति का परिपोष किस
प्रकार किया जाय। प्रतिभाशाली कवियो के सम्मुख अ य विधियाँ भी हो
सकती हैं, उ हे उन नवीन विधियो के प्रयोग से क्यो वचित किया जाय?
अत रसवाद को उक्त आवश्यक मोड दे कर नयी कविता की व्याख्या भी
'रसवाद के आधार पर सभव है। रुद्रट और नेमि साधु क उक्त सिद्धात को
परवर्ती आचार्यों न इसलिए स्वीकार नही किया था, क्योकि उनके सम्मुख
अधिकाशत काव्य 'भावविभोरक' ही था। सस्कृत म बहुत अधिक नवीनता

की आशा थी भी नही। उसके काव्य का 'पटर्न' निश्चित सा हो गया था, अत काव्यशास्त्र की भी एक निश्चित परिपाटी है। किन्तु जैसा उक्त विवेचन से स्पष्ट है, उसमे, एक निश्चित परिपाटी के भीतर प्रवाहित होने पर भी, ऐसे 'फ्लशिस' हैं, जिनका विकास कर हम सद्धातिक नैरतय का निर्वाह कर सकते हैं।

स्वय भरत के अनुसार स्थायी भावो मे प्रत्येक, दूसरे स्थायी भाव का सचारी हो जाता है, यथा रति' स्थायी के सचारियो म उत्साह, भय, हर्ष आदि की गणना की गयी है। इसी विधि से सचारियो म 'निर्वेद' को स्थायी बना कर शात रस की सृष्टि की गयी, जिसम निर्वेद के अतिरिक्त अन्य सचारियो का प्रयोग किया गया। इसी आधार पर 'एकाकीपन', असहायता-बोधजन्य अवसाद' आदि को स्थायी बना कर अन्य मानसिक स्थितियो को सहायक बनाया जा सकता है अथवा बिना इस 'पुष्टिवाद' के अन्य किसी विधि से नूतन चित्तवत्तियो का व्यजित किया जा सकता है। निष्कर्ष केवल यह है कि यदि किसी चित्तवत्ति का वर्णन 'आस्वादपरक' है, मार्मिक है या कम से कम वह अभिव्यक्ति 'आकर्षक' है तो उस कवि को नूतन रस सृष्टि का गौरव देन म कृपणता का कोई कारण नही है। 'तीसरा सप्तक' के एक कवि न 'ऊब रस' का उल्लेख भी कर दिया है। अत सामाजिक दृष्टि स नूतन चित्तवत्तियो का औचित्य विवेचित होगा और कला की दृष्टि से यह देखना होगा कि कोई सवेदित धारणा, एन्द्रिय बोध या मानसिक स्थिति किस प्रकार व्यक्त की गयी है और क्या काव उस 'सायक' और 'स्वादिष्ट' बना सका है। यह स्मरणीय है कि स्वाद लोक मे छ प्रकार का और काव्य म अनेक प्रकार का होता है। अत 'आस्वाद अनेकरूपी और अनेक माना वाला भी होता है। प्रश्न अब यह नहीं है कि क्या प्राचीन काव्य सिद्धान्तो द्वारा नूतन का विवेचन होना चाहिए प्रश्न वस्तुत अब यह है कि नूतन काव्य शास्त्र या नूतन सौंदयशास्त्र के निर्माण म प्राचीन धारणाओ का उपयोग किस प्रकार और किस सीमा तक होना चाहिए, यह लेख इसी दिशा मे विचारको को प्रेरित करने के लिए लिखा गया है, किसी पूर्वनिश्चित धारणा के प्रसार के लिए नही—वादे वादे जायते तत्वबोध

साहित्य और विचारवाद[1]

विचारवाद या 'आइडियालॉजी" शब्द अब काफी बदनाम हो गया है। अपने बदनाम अर्थ में विचारवाद "सच्चाइयों को छिपाने के लिए की गई लफ्फाजी" के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। मसलन्, वियतनाम में जाति हत्या के लिए यह तर्क देना कि गुरिल्ला युद्ध में कानून द्वारा संस्थापित सरकारों और संस्थाओं की स्वतन्त्रता का खतरा है, इसलिए गुरिल्ला युद्ध को समाप्त करने के लिए वियतनामियों का जाति हत्या अनिवार्य धर्म है। इस तर्क के पीछे अमरीकी पूंजी और प्रभुत्व की रक्षा का स्वार्थ छिपा हुआ है। इसी प्रकार भारत पर हमला करने के लिए चीन के विचारवादी तर्क गढ़ लेते हैं। किसी विचार-व्यवस्था या व्यवस्थित विचारधारा का प्रयोग जब स्वार्थ के लिए होने लगता है, तब "आइडियोलॉजी" शब्द बदनाम हो जाता है, जैसा कि वर्तमान में हो रहा है।

'आइडियालॉजी' के बदनाम अर्थों में एक यह अर्थ भी है कि अव्यावहारिक या यथार्थ विरोधी व्यक्ति को भी "आइडियालॉग" या विचारवादी कह दिया जाता है। नपोलियन ने इसी अर्थ में 'आइडियालाजी' शब्द का प्रयोग किया था।[2] प्रायः सिद्धान्तवादी यथार्थ की अपेक्षा कर जाते हैं, इसलिए उन पर "विचारवादी" होने के आरोप लगते हैं।

लेकिन 'विचारवाद' का एक शुभ अर्थ भी होता है। इसके भी दो स्तर होते हैं। प्रथम स्तर पर 'विचारवाद' का मतलब यह है कि तथ्य या वास्तविकताओं का कैसे देखा जाए, उनमें एक सूत्रता या संगति कैसे उत्पन्न की जाए। तथ्य असंख्य हैं, वे परस्पर विरोधी भी लगते हैं। तथ्यों के इस विकट वैविध्य में विचारवाद एक तार्किक संगति खोजता है, इससे तथ्य निरर्थक नहीं रह जाते वे 'सार्थक' और "साभिप्राय" लगने लगते हैं। इस तरह विचारवाद इस विराट जगत और मानव जीवन में, मानव के अस्तित्व और उसके संघर्ष में, उसकी अभीप्साओं और व्यवहार में, एक संगति, एक मतलब खोजता है। धर्म, अधिदर्शन,

---

१ आइडियालॉजी

२ आइडियालोजी एण्ड युटोपिया—कार्ल मनहीम

आचार-दशन, आदि इस दृष्टि से प्राचीन विचारवाद या आइडियालॉजी के ही विभिन्न रूप हैं। विचारवाद केवल प्रत्यक्ष तथ्यो तक ही समिति न रह कर, अदृश्य अथवा सीमातीत सत्ताओ (ब्रह्म, ईश्वर, स्वग, नरक, अवतार आदि) की एक पूरी व्यवस्था प्रस्तुत करता है और इस तरह मानव के "अबौद्धिक" चेतना स्तरो के लिए रोचक "आदश" या "टीठनक" या "खिलौनो" को पेश करता है, अन्यथा मानव, अपने जीवन मे जीन योग्य अवलम्बा की प्राप्ति नही कर सकता।

विचारवाद मनोगत सात्वनाओ के सिवा सामाजिक परिवतन का अस्त्र भी बनता है। वास्तविक जगत म जो कुछ कष्ट कर, अप्रिय और विरोधी है, उसे समाप्त करने के लिए विचारवाद "युटोपिया" या "मनोराज्यो" की सृष्टि करता है जसे रामराज्य की कल्पना अथवा साम्यवादी समाज की कल्पना। वास्तविक परिस्थिति जितनी ही विषम और प्रतिकूल होगी, उसके ध्वस के लिए उतनी ही ऊष्मा के साथ 'मनोराज्या की सृष्टि' होगी। मनोराज्य' "सामूहिक अस्तित्व" की चिन्ता से उत्पन्न होते है। मानव समूहो को एक विशेष दिशा म शीघ्र अग्रसर करना इनका लक्ष्य होता है फलत मनोराज्यपरक मानसिक स्थिति व्यापक हो उठती है और एक उग्र आवेश का जन्म होता है जो धमान्धता जसी स्थिति तक जा पहुँचता है। रूस और अन्य साम्यवादी देशो मे साधारण जन की दुरावस्था के कारण ही मनोराज्यपरक मानसिक स्थिति उत्पन्न हुई हैं। तीव्र और व्यापक परिवतन बिना किसी विचारवाद या मनोराज्यपरक मानसिक स्थिति के नही हुआ करते। 'आइडियालॉजी' अपने बदनाम अथ मे प्रयुक्त होकर, इस तरह के विराट परिवतनो या क्रान्तियो को रोकने का भी काम करती है। यथा, अमरीकी व्यावहारिकतावाद या 'प्रगमटिज्म' के नीचे केवल सिद्धान्तवादिता की सीमाओ को दूर करने का ही भाव नही छिपा हुआ है, बल्कि उसमे यह स्वाथ भी है कि लाभ और प्रतियोगिता पर आधारित वणिक व्यवस्था या पूजीवाद कायम रहे और समाजवादी विचार दशन उसे नष्ट न कर सके।

यदि "व्यापक" और "मूलभूत" परिवतन करना है तब विचारवाद से बचना असभव है। इसके लिए वतमान काल मे प्रचलित अनेक विचारवादो का निष्पक्ष अध्ययन आवश्यक है और इस अध्ययन प्रक्रियामे एक "स्वस्थ-सदेह" को बनाए रखना भी आवश्यक है। "वरण" के लिए यह आवश्यक नही है कि प्रचलित का अधानुकरण किया जाए। एसिया, अफ्रीका तथा लातिन अमरीका के देश अपनी स्थिति के अनुकूल ही एक "नवीन" लेकिन

सामाजिक न्याय अथवा मानव मूल्यों पर आधारित विचार व्यवस्था खड़ी कर सकते हैं प्रचलित विचार वादों में 'संशोधन' कर सकते हैं, जिसकी प्रक्रिया छुटभइए साम्यवादी देशों ने शुरू कर दी है। लेकिन—विधि, नीति, राजनीति, समाजनीति, साहित्य और कला किसी भी क्षेत्र में "निरन्तर सन्देहवाद" वाछनीय नहीं माना जा सकता। क्योंकि सन्देहवाद में एक बहुत बड़ा दुःख यह होता है कि वह वास्तविकता को बदलना नहीं सिखाता, उसे सहन करना सिखाता है।

परस्पर विरोधी विचारधाराओं के विराट प्रचार के युग में साधारण व्यक्ति ही नहीं—असाधारण व्यक्ति भी "मूल्यमूढ़" होने लगते हैं (यह स्थिति भारतीय भाषाओं में ही नहीं, सार्वभौमिक है) किन्तु सन्देह के गर्भ से ही, विश्वास फूटते हैं, दृष्टियाँ उपजती हैं, उनको कार्य में परिणत किया जाता है पुनः असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं फिर सदेह उत्पन्न होते हैं, फिर आत्मविश्वास को चुनौती मिलती है। यह द्वन्द्व सनातन है,—सृष्टि का यही स्वभाव है। लेकिन पिछले बीस वर्षों के हिन्दी साहित्य का मात्र विहंगावलोकन ही यह साबित कर देगा कि हमारे तत्त्वदर्शियों ने, विचारवादों की टकराहट, उनके दुरुपयोग आदि को 'मानव नियति" के रूप में स्वीकार सा कर लिया है। पिछड़ी जाति के तत्ववेत्ता प्रायः अग्रगामी जातियों के सन्देहों को भी "आधुनिक" मानकर उन्हें अपनी "नियति" मान लेते हैं और इस सन्देह को यथास्थितिशील अतराष्ट्रीय पूंजी-संस्थान बढ़ावा देते हैं, क्योंकि पिछड़े देशों को यह सदेह गतिशील नहीं होने देता। उन्हें चिंतन की दृष्टि से भी परावलम्बी बना देता है।

यह स्पष्ट है कि जो नियति" पुरानें और नवीन—साम्राज्यवादियों की है वह "हमारी" नहीं हो सकती। हमारी कविता और कथा में निश्चित रूप से असंतोष है, लेकिन धुंध और कोहरा भी बहुत है। राजनीति और समाज में शब्दों के अर्थ लुप्त हो गए हैं यह सही है लेकिन साहित्य में भी बहसों और व्याख्यानों के बाद एक अजीब प्रवचित होने का अहसास श्रोताओं और पाठकों को जकड़ लेता है। यह वैचारिक उलझन कम हो सकती है, अगर सम्पादक, आचार्य और अन्य तत्वदर्शी अपना-अपना स्पष्ट मत, बिना गलतियों से भयभीत हुए, अपने पत्रों, कक्षाओं और पुस्तकों में प्रकट करने लगें। जिस दिन वह स्थिति का विश्लेषण करके—एक असहायता की मुद्रा धारण कर लेता है और अपने ही सहनशील मित्रों और सहायकों को या उनके अभाव में अपने को ही कोसने लगता है। यह "आत्म श्राप"

उत्त सदहवाद का अनिवाय परिणाम है और इस स्थिति के लिए विवेकहीन सम्पादक, आचाय और आलोचक ही सर्वाधिक उत्तरदायी है। कवियो, कहानीकारो आदि से यह आशा नही की जा सकती कि व निस्सग होकर एक वचारिक ढाचा प्रस्तुत कर सकें।

मैं यह नही मान पाता कि बहुसख्यक इस देश अथवा एसिया, अफ्रीका के अन्य देशो म अमरीकी ढग की "वणिक व्यवस्था" कायम हो सकती है। यह सही है कि अमरीकी पूजीवादी चेतना के विचारक यह सिद्ध कर रहे हैं कि "मात्र आधुनिकीकरण' से अथवा केवल नवीन तकनीक के प्रयोग से साधारण जनो का जीवन सुखमय बनाया जा सकता है। एसे विचारक यह नही सोचते कि समस्या इतनी सीधी नही है। असली समस्या यह है कि यन्त्रीकरण किसके स्वाथ के लिए हो ? यत्रा पर स्वामित्व किसका हो ? विराट यत्रा पर वयक्तिक स्वामित्व के कारण ही "सामूहिक सकट" खडे होते हैं क्योकि मुनाफे के लिए वणिक-सगठन "जातिहत्या" तथा विश्वयुद्ध के लिए भी प्रस्तुत हो जाते है (द्रष्टव्य, वातायन, जुलाई ६८ म ज्या पाल सात्र का लेख) अत विशाल निर्माण और उत्पादन के साधना पर निजी स्वामित्व का विरोध, "सामूहिक अस्तित्व" के लिए जरूरी है और निजी स्वामित्व का विरोध व्यक्तिवाद द्वारा सफल नही हो सकता। वह समाजवाद या साम्यवाद अथवा इनके किसी सशोधित रूप से ही हो सकता है।

स्पष्टत साहित्य मे जीवन की तरह अप्रतिबद्ध नही रहा जा सकता क्योकि वही "नवीन" स्थायी हो सकता है, जो 'वाछनीय' हो, मूल्यपरक हो। 'बिन्दु' (अप्रेल जून) मे प्रकाशित साल बला के उपन्यासो की चर्चा इस दृष्टि से दिशा निर्देशक है। कोई उत्तरदायी—विचारवादी, भावात्मक—अभावात्मक स्थितियो, भूत-वतमान - भविष्य, आदि को "समग्रत" देखता है। अणुवादी या क्षणवादी दृष्टि अपूण विचार को ही प्रस्तुत कर सकती है। जिस विचार-वाद म यथासभव प्रत्येक तथ्य को अ य तथ्यो से जोड कर न देखा जाए, किसी काय या रचना क नतीजों पर विचार न हो, जिसमें ध्यान आदि से अत तक न रह वह विचारवाद जीवन दशन का रूप नही ले सकता।

पिछले वर्षो म अनुभववादियो न "अणुवाद" (एटामिज्म) को समग्र जीवन दशन के पयाय के रूप अपनाना चाहा किन्तु उसम वे बुरी तरह असफल हुए। अणुवाद "अनुभव" को व्यक्तिगत मानता है तथा अव्यक्तिगत अनुभवो और धारणाओ मे निजी अनुभवो का विच्छेद मानता है। इसक विरुद्ध आधुनिक मनोविज्ञान, समाजविज्ञान और इनक आधार पर बना हुआ सामयिक ज्ञान किसी भी सवदन, कल्पना, भाव, अनुभव, विचार आदि को "अजनबी" नही

मानता। प्रत्येक हलचल, प्रत्येक अनुभव या अनुभूति एक सम्बन्ध प्रवाह को छिपाए रहती है। इन सम्बन्धों का विश्लेषण विचारक ही कर सकते हैं। अनुभवी तो सृजन या अनुभव क्षण मे सिर्फ "होता" है या सिर्फ "घटित" होता है, वह कारण कार्य शृंखलाओं की खोज द्वारा, अपनी अनुभूति की तीव्रता को कम नही करना चाहता। वह उस 'अद्वितीय" अनुभव की वैचारिक व्याख्या को सशय की दृष्टि से देखता है किन्तु इससे यह भी तो सिद्ध नही होता कि ऐसा रचनाकार पूर्ण है, या उसके लिए सिर्फ सवेदना या अनुभव का माध्यम भर होना पर्याप्त है। साहित्य मे, लघु कविताओ मे तो इस अणुवाद से काम चल भी जाता है लेकिन दीर्घ कविताओं, उपन्यासो, नाटको आदि मे मात्र अनुभववादी बुरी तरह असफल होते है, क्योकि "यथार्थ की पहचान" और "यथार्थ का अहसास" दोनो के बिना बडी विधाओ मे कामयाबी नही हो सकती। कोई भी सवेदना शील व्यक्ति यथार्थ की विसगतियो का दबाव और दुख महसूस कर लेता है, लेकिन उन विसग तियों का स्वरूप क्या है इसे समझे बिना यथार्थ चित्रण हमेशा गलत और भ्रान्त होगा। हमारे साहित्य मे वास्तविक स्थितियो का विशद चित्रण इसलिए नही हो पाता कि उसके लिए 'यथार्थ की पहचान" अनिवार्य है और उसके लिए एक "बौद्धिक स्तर' की अपेक्षा होती है ताकि वस्तुओं, व्यक्तियों और अनुभूतियो के अन्तस्सम्बन्ध को देखा जा सके। इसके अभाव मे मात्र असतोष, आवेश-सन्निपात, कुण्ठा, सनक अथवा "भावुकता" की ही प्रधानता होगी। बुनियादी तब्दीली या व्यापक क्रान्ति के लिये प्रत्येक स्तर पर (और मानव चेतना के स्तर अनेक है।) यथार्थ या सच्चाई की पहचान करने के लिए "समझ" का विकास करना होगा। यह बडे झझट का काम है, इसके लिए सामयिक ज्ञान विज्ञान का परिचय जरूरी है, जो एक दुरूह कार्य है। इस दुरूहता और समस्याओ की सकुलता से घबराकर एक "मसलर" निषेध-वाद को अपना लेना बहुत सुविधाजनक होता है जिसमे हर एक विचार फालतू और अनाचार लगने लगता है तथा जिसमे साहित्य की भूमिकाओ से वैचारिक भूमिका का बहिष्कार कर दिया जाता है। अतएव हिन्दी के "आधुनिक" काव्य और कथा मे 'अन्तरावलोकन" की पद्धति पर, अपनी अनुभूतियो का साक्षात्कार तो अच्छा हो सका है लेकिन "बौद्धिकता" और 'यथार्थ" के नारो के बावजूद, किसी तत्व या तथ्य के अंतरसूत्रो का विवेक बहुत कम मात्रा मे मिलता है, इस तरह की समझ के अभाव के कारण ही साहित्य की विस्तृत भूमिका को, केवल वैयक्तिक सवेदना तक ही सीमित करने पर बल दिया जाने लगता है।

इस "यथार्थ की पहचान" मे विचारवादो का परीक्षण और प्रयोग भी शामिल है। जिस प्रकार वैज्ञानिक जगत मे पूर्व कल्पना के बिना आविष्कार सभव नही होता, उसी प्रकार 'सिद्धात' या 'वाद' पूर्व कल्पनाओ के रूप मे ग्रहण किये जा सकते हैं, जिनका निकष व्यवहार है। व्यवहार मे "पूँजीवादी आधुनिकता" बुरी तरह असफल रही है, दो युद्ध पूँजीवादी देशो की प्रतियोगिता के कारण ही हुए थे। इसके सिवा यह विचारवाद सवदा मूल्यो की अराजकता की ओर ले जाता है, क्योकि यह प्रवृत्ति "मुनाफे की आजादी" की धारणा म ही निहित है। इसके विरुद्ध हमारे देश म किसी न किसी प्रकार के समाजवाद' या साम्यवाद को ही अपनाया जा सकता है, जो योग्यता के क्षेत्र मे तो प्रतियोगिता को बढायेगा, लेकिन शोषण और मुनाफे के क्षेत्र म मनमानी पर अकुश रखेगा। अगर शन शन विकास म प्रतिक्रियावादी तत्व बाधक है (और वे हैं) तो इस "मिश्रित ढाचे" को तोडने की प्रतिबद्धता का विकास होगा। साहित्य इस दूरगामी दृष्टि से एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। जो साहित्य को मात्र "आत्म अभिव्यक्ति" मानते है, वे गलती नही करते। गलती "आत्म" की इकहरी व्याख्या से होती है। जिस "आत्म" को कलाकार अपनी समझ मे सिर्फ अद्वितीय मानता है, वह साधारणता और असाधारणता की एक विशिष्ट सगति होती है और साधारण या सामान्य जीवन, उस 'साधारण चेतनाश' के माध्यम से, उस "असाधारणता" के स्तर का भी प्रभावित करता है। यही कारण है कि बीसवी सदी की असाधारणताओ और अद्वितीयताओ का उद्भव, इसी शताब्दी मे सम्भव था। इसके पूर्व की "मानो" का स्वरूप अपने सदर्भ के अनुरूप था।

इस दृष्टि से साहित्य मे 'विशिष्ट आत्माओं" के माध्यम से, उनकी विशिष्टताओ के साथ साथ, 'साधारण और सामान्य" भी व्यक्त होता है। यह प्राय अनजाने ही हो जाता है—लेकिन बहुत बार जान बूझ कर भी होता है। मसलन सामाजिक यथार्थ को प्रधानतया चित्रित करने वाली अनेक रचनाएँ हैं। और जब सकट गहराता है, कही कोई राह नही मिलती, तब सिर्फ आत्म अभिव्यक्तियो के अतिरिक्त अनेक ऐसे लेखक सामने आते हैं जो मात्र स्थिति का दबाव नही दर्शाते, बल्कि धीरज और साहस के साथ वास्तविकता के उलझे हुए सूत्रो का भी सुलझाते हुए मानव की सम्भावनाओ की खोज करते है। वे उन समूहो और वर्गो के पास जाते हैं जो हताश नही हुए हैं, उन "मरजीवा" लोगो को व तलाशते है, जो सक्रमण काल म भी उखडते नही हैं, वे उन नागो को ढूँढते हैं, जो यथार्थ का वेधकर दूर तक देख सकती हैं। एक उदाहरण लें, अभी हाल तक युद्ध के भय म निमूलता का समर्थन कहे

जोरो से किया जा रहा था। "बलि के ढवर" मृत्यु की क्या चिंता कर? लेकिन गम्भीर विचारक जानते थे कि आदमी में भरोसा रखने स ही वह विजयी हो सकता है। आज लग रहा है कि तृतीय युद्ध टल सकता है, निशस्त्रीकरण भी शायद हो जाए! और उधर नक्षत्र विज्ञान द्वारा अ तरिक्ष युग की अवतरणा सभावित हो उठी है। 'यथाथ म सिफ असगतियाँ हैं, सगतियो की सम्भावना भी नही है, यह दृष्टिकोण सिफ कुछ कवियो और कथाकारो का ह। अच्छाई यह है कि ये लोग बहुत जल्द ऊबने लगते हैं। मसलन ६० के बाद अब पुन 'सामाजिक सत्य' (Public truth) का वणन हो रहा है। लगता है, अभिमन्यु के हाथो म "टूटे पहिया' की जगह गाण्डीव आ गया हो। कदक मोटरो क्लबो होटलो, शराबो और परियो म डूबी सद्‌भ्रात पीढ़ी की कुर्सियो के नीचे, मिट्टी के समक्ष जान वाले गेर, धीरे धीरे "सजीव' होते जा रह हो, और 'तनलेशन' क प्रवाह को प्रतिनियावादी कथ्यो से गँदला करने वाले "पुलपुले' अनेया, और उनके 'चमचो' को, उनके आश्रयदाताओ के महित निगलने का तत्पर हो। इसी तरह हर एक वह प्रवृत्ति जो आदमी की सकुल्पना की चिन्ता न कर उस सिफ 'खोना' समझती है या उस 'मशीना' और "कदी" समझती है उसके विरुद्ध एक तीव्र रोष बढ़ता जा रहा है। 'आधुनिक साहित्य सिफ वही नही माना जा सकता जो सिफ आदमी की कमजोरियो पर नजर गडाये रहे। "आधुनिक" साहित्य मे भ्रमो को तोडा गया है, यह जरूरी भी था लेकिन इन्सानी जिन्दगी का 'भरम' पूरी तरह टूट नहीं सकता। पुराने युगा म भी दु खवादियो क सभी प्रयत्न व्यथ साबित हुए क्योकि 'निलज्ज" जिजीविषा मृत्यु स प्रबलतर है। जो मानवीय व्याख्या इस प्राकृतिक धरातल की उपेक्षा करती है, वह ध्वस्त हो जाती है। मानव जीवन म चाहे कोई अथ न हो लेकिन समस्या यह है कि सब अनथ भी तो नही है। इस स्थिति मे निरतर परिवतन द्वारा या सतत क्रांति द्वारा, जो रूढ है जो निरथक है, विनाशक है अवरोधक है, उसके विरुद्ध सघष मे यदि साहित्य और अधिक सहायक हो तो साहित्य की क्या हानि होगी?

साहित्य यदि एक रचना है तो उसम नवरूपता क्यो न हो? मिट्टी क घरौंदे रचने वाला बालक भी स्रष्टा है क्योकि वह एक रूप की रचना करके जीवन को "आनपक" बनाता है। लेकिन अवरोधका की अधिकता क युग म यदि साहित्य मात्र सौन्दय-सृष्टि के स्थान पर, अधिक "क्रिटीकल' भूमिका भी अपनाए तो क्या उसम एक नवीन साहित्य की सृष्टि नही होगी? और आज तो स्थिति यह है कि 'व्यक्ति' होने की जरूरत म बुरी तरह फँसकर रह गया है, इस सामाजिक ढाँचे को ही तोडना ही होगा लेकिन उसके पूव साहित्य

म उसका स्वरूप तो चिनित हो और यह भी कि इस सडे हुए सांचे मे ढल कर जो आदमी नुमा जन्तु आ रहा है, आ गया है, आकर हमारे ऊपर सवार हो गया है वह ऐसा क्यो है, उसे समझना होगा। सभी तो नही किन्तु अधिकतर व्यक्तिगत समझी जाने वाली न्यूनताएँ इसी साचे के कारण हैं। यह सब समाजवादी 'आइडियालाजी" (अच्छे अर्थ मे !) की सहायता से स्पष्ट हो सकता है और इस बोध से जन्मी रचनाएँ, उस क्रान्ति चेतना को उत्पन्न कर सकती है, जिसके बिना यह "सक्रमण कालीन सकट', स्थायी सकट मे बदल सकता है और सामयिक साहित्य मे व्यावसायिकता से कराहती हुई लेखकीय चेतना उसकी अभ्यस्त हो जाए, इसके पूर्व ही, युवापीढी के असतोष को दिशा देने के लिए यह स्पष्ट करना होगा कि इस सताप का "मूल कारण" हमारे समाज का ढाचा है । केवल साहित्यिक प्रयोग, किसी 'विराट सामाजिक प्रयोग" के बिना सकट से उबार नही सकते। इसलिए साहित्य मे नवीन प्रयोगो और समाज मे नवीन प्रयोगो के मध्य सगति स्थापित करना प्रमुख कार्य है कम से कम मैं ऐसा ही सोचता हू।

आधुनिकता और समसामयिकता

इधर 'आधुनिकता' पर बहुत ऊहापोह हो रहा है। प्रारम्भ में यह नवीन-पुरातन का विवाद सा था किन्तु अब तात्त्विक चर्चाएँ हो रही हैं। यह देन दार्शनिकों की देन है, किसी साधारण शब्द या वाक्य या वस्तु को लेकर अमूर्तीकरण हमें गूढ़ और आकर्षक लगता है। इस तरह दोनों प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं हम वास्तविकता की शोध भी कर सकते हैं और पलायन भी। आधुनिकता पर प्रचलित चर्चाओं में ये दोनों प्रयोजन ढूँढने पर मिल जाते हैं। किसी भी तथ्य या विचार की तीन चार पद्धतियाँ प्रचलित हो गई हैं, शास्त्रीय या परम्परागत मनोवैज्ञानिक प्रायोगिक और ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय। इनमें शास्त्रीय विधि एक मिश्रित प्रणाली है क्योंकि शास्त्रों में सभी प्रकार की यथार्थवादी और अयथार्थवादी दृष्टियाँ हैं। उनमें तर्कशास्त्र है वेदान्त है नास्तिक दर्शन है और भक्तिशास्त्र भी है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शास्त्र में यथार्थवादी और अयथार्थवादी तत्त्व होते हैं अतः शास्त्रीय-विधि से विचार में द्रष्टव्य यह होना चाहिए कि किस दृष्टि से शास्त्र की सहायता ली जा रही है क्रोचे भी शास्त्र की सहायता लेता है और ब्रैडले भी। इनके सिवा अत्याधुनिक व्यक्ति कभी कभी ऐसी बात कहते हैं जो शास्त्रीय या परम्परा में प्राप्त होती हैं और वे समझते यह हैं कि वे 'अत्याधुनिक' कथन प्रस्तुत कर रहे हैं। मनोवैज्ञानिक विधि में, कथन की पृष्ठभूमि में स्थित मनोवृत्ति का उद्घाटन होता है किन्तु यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक, शरीर शास्त्रीय मनोविज्ञान तथा गेस्टाल्ट मनोविज्ञान से भी सहायता लेते हैं और फ्रायडीय विधि से भी यत्र तत्र सहायता लेते हैं। पर फ्रायड अब पुराना पड़ चुका है व्यवहारवादी (वाटसन) मनोविज्ञान अभी हिन्दी में प्रचलित नहीं है उसके दूसरे छोर पर यहाँ व्यवहार-विश्लेषण नहीं आत्मविश्लेषण अधिक होने लगा है। इस विधि में गहराई अधिक आ जाती है अमूर्तीकृत धारणाओं के कारण। किन्तु अनेक आत्मविश्लेषणों में कौन सही है यह समस्या उत्पन्न हो जाती है। समाजशास्त्रीय (मार्क्सवादी भी इसी में शामिल हैं) विधि को पुराना घोषित

किया गया है किन्तु मनहीम के आइडियोलोजी एण्ड यूटोपिया' जैसे ग्रन्थो के अध्ययन मे अब पुन समाजशास्त्रीयविधि अत्याधुनिक' होने जा रही है क्योंकि मनहीम न 'संदेहयुग' के संदेह और संकटग्रस्त चेतनाओ का अध्ययन, ग्रुप या समूह के आधार पर किया है जिसमे कि व्यक्ति' बनता और विकास करता है। इसके सिवा क्रान्ति या परिवर्तन का प्रश्न भी उसके सम्मुख है।

अत आधुनिकता और सामयिकता' पर विचार करते समय यह देखना होगा कि वक्ता या लेखक किस दृष्टिकोण से विचार कर रहा है अन्यथा इस बिन्दु पर कभी निर्णय नही होगा। जैसाकि होता है—उलझन की स्थिति मे या तो हम अनुपम और व्यर्थ तीव्रता का विकास करेंगे अथवा लेखक या वक्ता की विद्वत्ता' या गहराई' की प्रशंसा कर अप्रभावित होने पर भी प्रभावित होने का स्वांग कर मौन हो जायेंगे।

मेरी विधि प्रारम्भ से ही समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक रही है जिसमे मनोविज्ञान नृविज्ञान तथा अन्य ज्ञान अनुशासनो का प्रयोग किया जाता है जिसमे व्यक्ति' को निरपेक्ष दृष्टि से नही देखा जाता। एक शब्द मे मैं सापेक्षतावादी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता आ रहा हूँ और क्योंकि ज्ञान-अनुशासन रोज तथ्यो पर नया प्रकाश प्रक्षिप्त कर रहे है अत वास्तविकता मे परिवर्तनधर्मा की दृष्टि से विचार करने वाले लेखक के सम्मुख, 'संशोधन' की समस्या रहती है ताकि मूल दृष्टि अंधविश्वास न बन जाय। इस प्रकार चिंतन एक निरंतर शोध और समाधान की प्रक्रिया बन जाती है क्योंकि वास्तविकता क्षण-क्षण परिवर्तनशील है और समाजविकास के जिस चरण मे हम उसकी गति के लिए मतव्य प्रस्तुत करते है और उसके लिए तथ्यो की अन्तर्निहित व्याख्या करते है, वह चरण आगे बढ़ते ही नई असंगतियां उत्पन्न हो जाती है और उन्हे दूर करने के लिए हम अपनी व्याख्या और व्याख्या-विधि मे संशोधन करते है, मार्क्स से मैनहीम तक इस विकास को स्पष्ट देखा जा सकता है, समाजशास्त्रीय और इतिहासवादी विधि का 'अत्याधुनिक' रूप यही है, आलोचना के क्षेत्र मे भी लुकाच, फिशर [नेसेसिटी ऑफ आर्ट] जैसे नवीन' लेखक इस तथ्य के प्रमाण है।

अतएव मेरी दृष्टि से 'आधुनिकता' देशकालातीत धारणा नही हो सकती। कालातीत होने का अर्थ केवल यह हो सकता है कि हम किसी काल मे अस्तित्व प्राप्त तथ्य या विचार की सीमाओ के प्रति सावधान रहे परन्तु 'अस्तित्व' का अर्थ ही है कि हम किसी काल मे स्थित और किसी देश (स्पेस) मे स्थित तथ्य पर विचार कर रहे हैं। काल के प्रवाह मे आधुनिक युग', 'मध्ययुग', प्राचीनयुग' जैसी संज्ञाओ का बोध होता है, किन्तु 'काल'

'क्रिया' पर भी विचार कर, ये सनाएँ बनती हैं। आधुनिक युग योराप मे पुन र्जागरण युग से अस्तित्व मे आया, इस कथन का अभिप्राय यही हो सकता है कि योरोप के कई देशो मे औद्योगिक, बौद्धिक और सास्कृतिक न्राति हुई। वस्तुत विज्ञान ने 'चर्च' द्वारा प्रसारित मध्ययुगीन धारणाओ को और नवीन राजनैतिक विज्ञान ने पुरानी राज्य व्यवस्थाओ को ध्वसोन्मुख कर दिया। पूँजीवाद की असगतियो से पीडित आधुनिक युग मे, आधुनिकतर' समाजवाद या साम्यवाद की धारणाओ को जन्म दिया। प्रतियोगिता पर आधारित औद्योगिक समाजो ने दो विश्वयुद्ध प्रस्तुत किये, जिसमे साम्यवादी रूस को भी भाग लेना पडा। प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्वयुद्ध तक पूँजीवादी जनतन्त्र और साम्यवादी व्यवस्था की असगतिया तटस्थ' विचारको के सम्मुख आ गई और सामूहिक प्रयत्नो के विरुद्ध, तथा किन्ही विशिष्ट गन्तव्या के प्रति मोहभग होने लगा अत मार्क्सवाद को भी 'पुराना' घोषित कर नवीन मूल्यो और आस्थाओ के अनुसधान का प्रश्न उठा। निराशा, उलझन अस्तित्व-आशका, अनिर्णय, व्यक्ति की निरपेक्ष स्वतन्त्रता, वरण और एकाकीपन जसी धारणाओ को सार्वकालिक सत्य के रूप मे प्रस्तुत किया जाने लगा जबकि ये स्थितिया स्वय देश काल के आघात मे ही उत्पन्न हुइ है। अत स्वय विचार-प्रक्रिया, विचार से प्राप्त गतव्या, मान्यताओ और मूल्या की सजन प्रक्रिया पर विचार आवश्यक हो उठा और इस तरह 'ज्ञान का समाज शास्त्र' सम्मुख आया। दूसरे धृ्वान्त पर आदर्शवादियो और अध्यात्मवादियो ने निरपेक्ष दृष्टि से ज्ञान शास्त्र प्रस्तुत किये।

भारतवर्ष म 'आधुनिकयुग' १६ वी शताब्दी के मध्य से और विशेष रूप से १६ वी शताब्दी के अतिम भाग से प्रारम्भ हुआ। इस देश मे योरोपियन विधियो के प्रयाग से ही आधुनिकता का जन्म हुआ। अर्थ के क्षेत्र मे औद्योगिकता आधुनिक' कहलाइ, राजनीति म 'जनतत्र' और समाज के क्षेत्र मे 'मानवन्याय' आधुनिक' सज्ञा प्राप्त करने लगे। सस्कृति और कला के क्षेत्र मे 'मानववाद' को आधार बनाया गया, 'ईश्वर' धर्म' पुरान आचार सस्कार और मान्यताओ का महत्त्व कम होने लग गया। आजादी के बाद एक ओर रचनात्मक काय आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के रूप म सम्मुख आया दूसरी ओर राष्ट्र के अस्तित्व और रक्षा के प्रयत्नो मे प्राचीन भारतीय मानस या 'सामूहिक अवचेतन' का भी प्रयोग करना पडा। अत प्राचीनता और नवीनता की धाराएँ एक दूसरे को काटती हुई प्रचलित रहा हैं। इसके सिवा समाजशास्त्रीय दृष्टि से भारतवर्ष मे आज भी प्रागतिहासिक काल से लेकर आज तक के अनेक मानव समूह मिलते हैं। यहा आरण्यक जातिया हैं ग्रामीण समूह हैं, नागरिक समूह हैं और इनमे भी अनेक स्तर भेद हैं, जो एतिहासिक

विकास के विभिन्न चरणों पर हैं अतः 'आधुनिकता' के विषय में इन विभिन्न स्तरों से विभिन्न प्रतिक्रियाएँ व्यक्त होती हैं। क्योंकि समाज जब तक समग्र रूप में, 'सामूहिक अवचेतन' और 'आधुनिकता' में सामञ्जस्य नहीं बैठा पाता तब तक 'आधुनिकता' केवल बहुत सीमित समूह या विशिष्ट बौद्धिकवर्ग की ही वस्तु रहती है और उस विशिष्ट बौद्धिकवर्ग के व्यक्ति, अपनी अपनी चेतनाओं को सामूहिक अवचेतन' तथा ग्रुप-अवचेतन' से अलग नहीं कर पाते अतः जब तक अधिकांश समाज, सामाजिक विकास की एक ही मंजिल पर खड़ा नहीं हो जाता, तब तक यह विवाद शान्त नहीं होगा। दूसरे शब्दों में आधुनिकता का विवाद हमारे विकसित समाज की आत्म जागरूकता का प्रतीक भी है और उस छटपटाहट का प्रतीक भी जिसमें हमारे समाज के अनेक स्तर गुजर रहे हैं। अभी तो हम देश में तकनीकी विकास भी पूरा नहीं हुआ, न शिक्षा सार्वजनिक हो पाई है तब 'आधुनिकता' और प्राचीनता' का सहअस्तित्व तब तक रहेगा, जब तक समाज को समग्रतः हम उसी स्तर पर नहीं ले आते, जिस पर स्थित होकर हम विचार कर रहे हैं।

इस प्रकार कालक्रमण आधुनिकता का बोध इतिहास में और विशेषकर अपने इतिहास में, कुछ वर्षों का बोध है और उस बोध का जिम्मेदार बाह्य विकास है, जिसने इस आंतरिक बोध को जन्म दिया है अतः बोध की परिधि से हम बाह्य संदर्भों को बिस्तृत नहीं कर सकते। समसामयिकता का बोध 'इस समय' का बोध है, अपने वर्तमान का बोध, उस क्षण का बोध, जिसमें हम जी रहे हैं। अतएव सामयिकता वर्तमान बोध है और वर्तमान बोध उस आधुनिकता का ही एक अंग है, जिसका प्रारम्भ कुछ पूर्व हो चुका है। आधुनिक युग में उत्पन्न होकर और आधुनिक युग की उपलब्धियों और असंगतियों पर विचार करके ही हम समसामयिक बोध को समझ सकते हैं क्योंकि समसामयिकता के बोध में आधुनिक युग के वे तत्व शामिल हैं जिन्होंने समसामयिकता को जन्म दिया है। तकनीकी युग आधुनिक युग है। इस आधुनिक तकनीक ने मनुष्य के सम्मुख मौलिक प्रश्न उपस्थित कर दिये हैं जैसे क्या 'विकास' की धारणा सही है? यह आधुनिक प्रश्न है और समाजवाद की एक ही काल में स्थिति और विकास देख कर यह प्रश्न उठा है कि क्या हम सचमुच सामाजिक दृष्टि से 'विकास' कर रहे हैं, या ह्रासोन्मुख हैं? यह समसामयिक प्रश्न है। क्या अब तक की सभी प्राचीन-नवीन धारणाएँ काल के प्रवाह में अपर्याप्त, मोहभंगकारिणी नहीं साबित हुई हैं? कला और काव्य के क्षेत्र में यह उलझन अमूर्त कलाओं और अमूर्त काव्य में प्रकट हुई है, यह "समसामयिक" प्रवृत्ति है। इसके औचित्य और अनौचित्य पर विचार

चल रहा है, कोई निर्णय नहीं हो पा रहा है, केवल घूसबात प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

आधुनिक और समसामयिक में आधुनिक अधिक व्यापक है, क्योंकि समसामयिकता जल्दी बदलती है। भारतेन्दु युग से आज तक का युग 'आधुनिक युग' है, किन्तु नयी कविता, ताजा कविता, वास्तविक कविता, नवीनतम अन्य विधाएँ, नए प्रयोग, नई आलोचना नई कथा या अकथा आदि 'समसामयिक' और आधुनिक प्रवृत्तियां हैं।

'आधुनिकता' एक जीवनदृष्टि के रूप में भी प्रयुक्त होती है। किसी भी क्षेत्र में 'वास्तविकता' के साथ संघर्ष में जब अस्त्र-शस्त्र अपर्याप्त या अकारगर साबित होने लगते हैं तो नये 'टूल्स' की खोज 'आधुनिकता' मानी जाती है। यहां 'आधुनिकता' एक दृष्टि के रूप में स्वीकृत है। ये 'टूल्स' ज्ञान के क्षेत्र में नूतन तर्क विधि को जन्म देते हैं, कला के क्षेत्र में नवीन कलारूपों को और समाज के क्षेत्र में नए मानव सम्बन्धों को। इस प्रकार 'वास्तविकता' की पहचान करते रहना और उसके अनुसार अपने चिन्तन और सृजन का उपयोग करना 'आधुनिकता' है। इस बिन्दु पर 'रुचि' का योगदान कला के क्षेत्र में विचारणीय है। प्रायः ऐसा होता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही युग में, काल के उस विशिष्ट प्रवाह में, जिसमें उत्पादन के साधन और मानवीय सम्बन्ध एक समान की स्थिति में हैं क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में कलारूपों का विकास होता है और इन परिवर्तनों से समाज के मूलभूत परिवर्तनों का सीधा सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए विज्ञान के कारण तकनीक में बहुत शीघ्र परिवर्तन हो रहे हैं, यह एक 'समसामयिक' प्रवृत्ति है, फलतः कला-साहित्य के क्षेत्र में रोज नवीन नवीन विधियों और अभिव्यक्तियों का अम्बार लग रहा है। किन्तु मशीनों के नित्य नवीनीकरण का प्रश्न जहां बाह्य वास्तविकता के साथ है वहाँ कला साहित्य के क्षेत्र में नवीनता का प्रश्न 'आन्तरिक वास्तविकता' और रुचि का प्रश्न है फलतः समसामयिक युग में कला-साहित्य के क्षेत्र में एक शैली से लोग शीघ्र ऊब उठते हैं और प्रायः एक ही कवि अपनी प्रत्येक नवीन रचना में एक 'सर्वथा नवीन' तकनीक का प्रयोग करता है। इस तरह नित्य नये फैशनों की तरह, कला-साहित्य में भी फैशनों की बाढ़ आ जाती है और 'तत्व' पर ध्यान न रह कर केवल 'रूपों' पर ही ध्यान केन्द्रित होने लगता है अतः अधिक 'स्थायी' तत्ववादी विचारक उत्पन्न होते हैं, जिनमें कुछ तो 'रूपवाद' को कुत्सित रूप मानकर पुरानी तकनीक का पक्ष समर्थन करने लगते हैं, और कुछ 'बौद्धिक विभिन्नता' और 'रूपवादी' पूर्वाग्रहों को महत्व न देकर यह कहने लग जाते हैं कि अततः

परिवर्तन की इस आपाधापी में मनुष्य का कम परिवर्तनशील' पक्ष कौन-सा है और इस विधि से वे मानव सवेगों या मूल प्रवृत्तियों पर आधारित भावनाओं को ही महत्व देते हैं और उनकी उपेक्षा को 'आधुनिकता' न मानकर उसे 'विक्लाग आधुनिकता' मानते हैं। इस प्रकार कलाओं और साहित्य-सृजन चिंतन के क्षेत्र में, यह उलझन चीखों, चिल्लाहटों, गारेबाजी, गालीगलौज और आरोपों प्रत्यारोपों को जन्म देती है, अत्याधुनिको द्वारा इस प्रकार के साहित्य' की जो सृष्टि हुई है वह समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों के लिये बड़े काम की सामग्री है।

आज के समसामयिक' साहित्य को यदि अलग से देखें तो उसमें हिंदी साहित्य के विकास के प्रत्येक सोपान के कवि मिल जाते हैं। आज हिन्दी में वीर' कवि हैं भक्त' कवि हैं, रीतिकालीन बोध के कवि हैं और द्विवेदीयुगीन पद्धति पर महाकाव्यों के ढेर लगाने वाले कविराज हैं। स्वच्छंदतावादी या छायावादी अत्याधुनिकों द्वारा पुराने घोषित हो चुके हैं और लोकायतन' जैसे काव्यों के कर्त्ताओं ने सारित कर दिया है कि वे चुक गए हैं या कला चुक गई है किन्तु फिर भी स्वयं नए' कवियों में अनेक छायावाद से प्रभावित हैं कथाओं और उपन्यासों में 'प्रेम' सम्बन्धों की व्याख्याओं में, छायावाद से न अज्ञेय ऊपर उठ सके न जैनेन्द्र न राजेन्द्र यादव न मोहन राकेश न निर्मल वर्मा। फिर भी योरोप के रोमांसविरोधी' आधुनिक' दृष्टिकोण का प्रयोग हिन्दी में बहुत बढ़ा है। सामकालिक स्तर पर, दार्शनिक स्तर पर मनुष्य के अस्तित्व और उसके स्वरूप से सबंधित चिंताओं और आकांक्षाओं से ओतप्रोत रचनाएँ समसामयिक युग की एक विशेष उपलब्धि हैं। परम्पराओं के प्रति तीव्र घृणा भी एक समसामयिक प्रवृत्ति है किन्तु यदि आधुनिकता' एक दृष्टि है तो एक ही आज' में प्रचलित और प्रयुक्त विभिन्न शताब्दियों की सवेदनाओं की ये अभिव्यक्तियाँ क्या 'आधुनिक' भी हैं?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए वस्तुतः इस निबंध के प्रारम्भिक भाग को ध्यान में रखना होगा कि किन्हीं मानसिक स्थितियों, सवेदनाओं और मान्यताओं की 'आधुनिकता' का निर्णय कैसे हो? यदि बाह्य सन्दर्भ में हम किसी रचना को रखकर न देखें तो मात्र 'रुचि' से ही निर्णय करना होगा और 'रुचि' एक प्रवंचक चीज है, धूमिल और अबुद्धिसंगत। पता नहीं, रुचिवाद हमें कब धोखा दे जाए और जैसाकि ऊपर दिखाया गया है 'रुचि' भी वास्तविकता से अलग करके नहीं समझी जा सकती। 'रुचि' के भीतर की परिधि विभिन्न "अवचेतनों' के धन्धों से अंकित रहती है अतः कौन मानसिक स्थिति 'आधुनिक' है, कौन पिछड़ी हुई इसके निर्णय के लिए एकमात्र उपाय 'समसा

मयिक' बोध का इतिहासबोधपरक अध्ययन है, क्योंकि कलात्मक और साहित्य-सृजनात्मक–बोध जीवन के अन्य सन्दर्भों के समानान्तर नहीं चल सकता। साहित्य और कलाओं की वस्तुनिरपेक्षता को ही जो 'आधुनिक या माडर्न' मानना चाहते हैं, उन्हें प्रणाम किया जा सकता है। उनकी उनकी दृष्टि में उत्पन्न अंतर्विरोधों और वस्तु–प्रतिकूलताओं को उनके सम्मुख रखकर समझाया नहीं जा सकता क्योंकि वे सोचने और दायित्व से सरोकार नहीं रखना चाहते और सच तो यह है कि इस निरपेक्षतावाद का कारण भी यह इतिहास है कि हिन्दी में प्रगतिवादी दौर में जो प्रचारवादिता और वस्तुपरकता की अतिशयता हुई, निरपेक्षतावाद अपने को 'आधुनिक' कहकर उसी की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। जब जब साहित्य के सौष्ठव की हानि होती है तब तब सौष्ठव हानिकारक तत्वों को साहित्येतर कहकर संघर्ष शुरू हो जाता है और यह प्रतिक्रिया यदि अधिक तीव्र हुई तो दूसरे ध्रुवान्त पर पहुँच कर यह घोषणा होने लगती है कि साहित्य सर्जना सर्वथा व्यक्तिगत सर्जन है और व्यक्ति वस्तु से अप्रभावित रह सकता है अथवा यह कि मनुष्य में यह क्षमता है कि वह देश और काल का अतिक्रमण कर सकता है और इस प्रवृत्ति को ही 'आधुनिक' कहा जाने लगता है तथा अन्य समसामयिक सापेक्षतावादी दृष्टियों को 'गतानुगतिक' की संज्ञा दी जाती है।

व्यक्ति को अद्भुत अनुपम और निरपेक्ष इकाई मानकर सोचने वाले विचारकों के लिए 'अत्याधुनिक' समाजविचार का यह सिद्धान्त ध्यातव्य है कि हममें चिंतन की प्रेरणा, कुछ संवेग' जगाते हैं या अन्य 'इन्ट्रेस्टस' हमें सोचने की विशिष्ट विधि का आविष्कार करने के लिए प्रेरित करते हैं। ये 'संवेग' (इम्पल्स) और 'स्वार्थ' (इसमें 'परमार्थ' भी शामिल है) चिंतन का स्वरूप निश्चित करते हैं और इन पर ध्यान दिए बिना, चिंतन की आधुनिकता और गतानुगतिकता का निर्णय असम्भव है। यदि ये संवेग' और स्वार्थ बाह्य वास्तविकता के अनुकूल हैं, या बाह्य वास्तविकता की 'समसामयिक असंगतियों के बुद्धिसंगत दूरीकरण से सम्बन्धित हैं तब चिंतन 'आधुनिक' होगा अन्यथा वह यथार्थ' का पथभ्रष्टक होगा। अतः आधुनिकता का बोध इस प्रश्न में निहित है कि मनुष्य की सामूहिक रूप में गति और गन्तव्य के साथ उसका सम्बन्ध गत्यात्मक है या यथास्थितिशील। अतएव यथास्थितिशीलता आधुनिकता का विपरीत बोध है और यह 'यथास्थितिशीलता' अनेक रूपों में समसामयिक कलारूपों और साहित्य के अंतस्तल में कितनी मात्रा में है, यह स्वतन्त्र अनुसंधान का विषय है। 'समसामयिक' साहित्य में जिसे अत्याधुनिक' कहा जाता है उसमें 'यथास्थितिशीलता' के अनेक तत्व हैं और गत्यात्मक तत्व

भी हैं, इस प्रकार आधुनिकता और समासामयिकता का स्वरूप द्वन्द्वात्मक वास्त विकता की समझ और उसके प्रतिविम्बीकृत रूपो और अभिव्यक्तियो की समझ का प्रश्न है। दृष्टि के औचित्य, अनौचित्य, कृत्रिमता और वास्तविकता पर विचार किए विना सृष्टि का स्वरूप निश्चित नही हो सकता,

हिन्दी आलोचना म चिन्तन दृष्टियो क वाहुल्य के कारण 'सम्मति' उपस्थित हो गई है। विश्व के कुछ देशो म भी यह स्थिति बहुत पहले से ही है अत 'सहमति' अनाधुनिक' होती जा रही है और विना सहमति के गति को दिशा मिल नही सकती, स्वय 'गति' भी नही हो सकती। गति के स्थान पर हम एक समसामयिक परिधि म चक्रान्त रूप म घूमने लग जाते हैं फलत 'व्यापकता' का लोप होने लगता है और यह व्यापकता का लोप आधुनिकता और सम-सामयिकता की विपन्नता को व्यक्त करता है, उपलब्धि को नही। हिन्दी मे तलस्पर्शी तत्वो के वस्तुपरक अध्ययन के विना प्रतीतियो की आधुनिकता पर ही वल दिया जा रहा है। प्राचीनकाव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या करने वालो के सम्मुख इसलिए दो प्रश्न हैं, क्या इस नवीन या आधुनिक मन स्थितियो की नवीन अभिव्यजना की परीक्षा पुराने मानदण्डो से सम्भव है ? इस प्रश्न के उत्तर म एक दल नवीन या अत्याधुनिक को नकार कर पुराने मापदण्डो का समर्थन करता है, दूसरा दल सशोधनवादी है किन्तु यह सशोधन अभी व्यव-स्थित रूप मे सम्मुख नही आ सका है। सकेतात्मक सशोधन अवश्य सम्मुख हैं परन्तु सकेतो से काम नही चलता अध्ययनप्रविधि को व्यवस्थित होना ही पडेगा। प्राचीन साहित्य पर आधारित मापदण्ड के विषय म अत्याधुनिको मे दो दल है कुछ प्राचीन को नकारते हैं कुछ प्राचीन को अदात स्वीकार करते हैं। एक दल का कथन है कि भौतिकी रसायन जसे क्षेत्रो मे जिस तरह अरस्तू की मान्यताए पूर्णत वदल चुकी है उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे नही हुआ क्योकि मानवविधाओ के क्षेत्र म प्राचीनो की अतर्दृष्टि बहुत विकसित थी प्रायोगिक क्षेत्र म वे अवश्य पिछड गए है और समाजशास्त्र भी यह मानता है कि मूलसवेगो की दृष्टि से अभी मनुष्य बहुत नहीं वदला है शायद वह कभी भी पूर्णत नहीं वदलेगा अत इस सवेगात्मक धरातल के मूल्याकन म प्राचीन सहायक है उसी प्रकार जिस प्रकार 'युद्ध' का प्रश्न महाभारतकार के मन को उसी तरह झकझोरता है जस वह हमारे मन को अत आधुनिक आलोचना', वनानिको की तरह प्लेटो अरस्तू भरत और अभिनवगुप्त की उपेक्षा करके चल नही सकती,

अत मेरी दृष्टि स तो वास्तविक आधुनिकता वही है जो समसामयिक' चिंताओ, सकटो और प्रश्नो का निराकरण कर सके और कला और साहि-

त्यसृजन के क्षेत्र मे भी आधुनिकता वही होगी जो यथास्थितिशील मानसिक
स्थितियो और मनुष्य की समसामयिकता' से जन्य विपन्नताओ को चीर कर,
उसे गतव्यपरक स्वरूप दे। यदि गतानुगतिक 'आदश' और 'स्वप्न' ध्वस्त हो
रहे हैं और पूजीवादी जनतन्त्र समाजवादी जनतन्त्र तथा साम्यवादी ग्यद-
स्थाए तथा जीवनपद्धतिया और 'दशन' यदि अपयाप्त सावित हो रहे हैं तो
इस 'सक्रान्ति' की अभिव्यञ्जन। तो आधुनिक और समसामयिक होगी किन्तु
'अत्याधुनिक' कला और चितन वही कहला सकता है जो इस 'सक्राति' मे
धनात्मक तत्वो और मन स्थितियो की खोज करे और उसे व्यञ्जित करे।
प्रसन्नता का विषय यह है कि हिन्दी मे मानव जिजीविषा और मानव की
मूलभूत अभावजन्य चेतना काव्य और कथादि मे पुन व्यक्त होने लगी है।
आज हिन्दी मे केवल निराशा, अनिणय, अस्तित्व-आशका के ही
स्वर नही है, आशा और आत्मविश्वास के स्वर भी मुखरित होन लगे ह
और वे भी आधुनिक' शली का अपनाकर ही चल रह हैं। यही नही, यारोप
की ह्रासशील चिता से भी हम सावधान होन जा रह हैं क्योकि हम एशिया
अफ्रीका के देशो के लगक ठीक उसी वास्तविकता म नही जी रह हैं, जिसमे
अस्तित्ववादियो को जीना पडा है अत दायित्व' और 'वरण की शब्दावली
अब नए सदभ पा रही है और अत्याधुनिक कला और साहित्य का भविष्य
इस 'दायित्ववाद' पर ही आधारित है। यह सच ह कि 'सक्रान्तिकालीन'
कला और साहित्य क्रान्तिवादियो के आवेश को कम करती है किन्तु यह भी
सच है कि सक्रान्ति की ही अभिव्यञ्जना आधुनिक' नही होती, उससे बच
निकलन के उपाय के लिए प्रयत्नशील होन की प्रक्रिया से उत्पन्न चितन और
कला मे 'अत्याधुनिक' हो सकती है अत सक्रान्तिबोध' समसामयिक तत्व
है और उससे मुक्ति का उपाय ही 'अत्याधुनिक' तत्व है,

आधुनिकतावाद और समाजवादी यथार्थवाद

आज राजनीति के क्षेत्र मे पूँजीवाद और साम्यवाद (समाजवाद), दर्शन के क्षेत्र मे अद्वद्वात्मक अभौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा साहित्य के क्षेत्र मे आधुनिकतावाद और यथार्थवाद का सघर्ष अपने तीव्रतम रूप मे चल रहा है। हिन्दी मे आधुनिकतावाद या माडर्निज्म की आवाज सन १९४० ई० के बाद, प्रथम तारसप्तक (१९४३ ई०) के पश्चात् अधिक बुलन्द हुई है, इस आधुनिकतावाद या नवीनतावाद को प्राय राजनीति निरपेक्ष, शुद्ध सौदर्यवादी आदोलन माना जाता है किन्तु कभी-कभी किसी आदोलन को अधिक कारगर बनाने के लिए उसे "राजनीति रहित" कहने या उसे शुद्ध सौदर्यवादी घोषित करने की आवश्यकता होती है, विरोधी विचारधारा और जीवनविधिगत मानव मूल्यो के विरुद्ध अपनी मान्यताओ के प्रचार का यह अधिक सूक्ष्म ढग है।

पश्चिमी पूँजीवादी देश आधुनिकतावाद' के प्रचारक है और समाजवादी (साम्यवादी) देश यथार्थवाद के। हिन्दी मे 'नई कविता', 'नए उपन्यास', 'नई आलोचना', 'नई कहानी', आदि मे बहुत से तत्व जाने या अनजाने, पश्चिमी पूँजीवादी सभ्यता के विचारो और मूल्यो से आये हैं। इनके विरुद्ध रूस मे १९ वी शताब्दी के यथार्थवादी लेखको तोलस्तोय चर्निशेविस्की, वैलिस्की, पिसारोव, गोगोल, चेखव आदि के "जीवन के यथावत चित्रण' के सिद्धान्त का अधिक अनुसरण हुआ है। यह वस्तुत 'महाकाव्य परम्परा' (Epic Tradition) कहलाती है जिसमे जीवन की वास्तविक छवियो तथा समस्याओ का चित्रण होता है। समाजवादी यथार्थवादी युग मे आकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से जीवनगत यथार्थ का चित्रण होने लगा। इस प्रकार यथार्थवादी परम्परा मे ही समाजवादी यथार्थवाद का विकास हुआ है, जिसकी विशेषता है वस्तुनिष्ठ रूप मे जीवन का प्रस्तुतीकरण। जबकि आधुनिकतावाद की विशेषता है, विशृखलित मानसिक स्थितियो का 'सब्जेक्टिव' वर्णन अर्थात् आधुनिकतावाद, यथार्थवाद की स्थूलता के विरुद्ध विद्रोह है। और यह विद्रोह वर्ण्यवस्तु या उसके प्रति दृष्टिकोण तथा शिल्प दोनो क्षेत्रो मे है। उदाहरणत

मनुष्य में आस्था–प्रयत्न द्वारा, मानवसमाज को वर्ण वर्गविहीन स्थिति में पहुँचाने की अदम्य निष्ठा, आत्म विश्वास, वीरता शौर्य, धैर्य, कष्ट सहन आदि मानवीय गुणों की प्रशंसा, अत्याचार-सामाजिक वैषम्य के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष और शिल्प के क्षेत्र में 'आधुनिक प्रयोगों' को स्वीकार करके भी मुख्यतः विवरणात्मकता पर बल यथार्थवाद की विशेषता है। इसके विपरीत आधुनिकतावाद की विशेषता है अब तक विकसित सभी मानवीय मूल्यों (Human Values) की अस्वीकृति मनुष्य के स्वर्णिम भविष्य में अविश्वास, निष्क्रिय रहकर आत्मदाहमहत्व सामूहिक प्रयत्नों में अनास्था, लघुमानव के सीमित जीवन पर बल महामानव वाद का विरोध परम्परावाद के सभी रूपों और मान्यताओं का विरोध और शिल्प के क्षेत्र में प्रतीकवाद, बिम्बवाद और गूढ व्यंजनाओं का प्रयोग आदि।

प्रायः हिन्दी में उक्त दोनों परम्पराओं का शिल्पगत संघर्ष ही सामने लाया जाता है और आधुनिकतावाद के कथ्य विषय या 'कन्टेन्ट' के प्रतिक्रियावाद पर विचार नहीं किया जाता। शिल्प की चकाचौंध में पड़कर सामान्य पाठक और महत्वाकांक्षी नवलेखक 'कथ्य' का आकर्षक शिल्प के साथ विष-संयुक्त शक्कर के समान पी जाता है। फलतः आधुनिकतावादी, सन् ४० के पश्चात यथार्थवादी परम्परा के विरुद्ध पाठकों का ध्यान अधिक आकर्षित कर सके हैं। यथार्थवादियों ने भी आधुनिक शिल्प' को स्वीकार कर लिया है बल्कि बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था। मायकोवस्की की प्रयोगवादी कविताएँ प्रमाण है। फिर भी जिस प्रकार मायकोवस्की पश्चिमी पूँजीवादी देशों के आधुनिकतावादी अर्थों में माडर्न' नहीं माना गया उसी प्रकार आज के बहुत से आधुनिकतावादी लेखकों में, यदि कथ्य' की दृष्टि से आप समाज-वाद विरोधी परम्परावाद विरोधी नहीं हैं तब आपको शुद्ध माडर्न' की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। नवलेखन पर लिखी आलोचनाओं और शोध ग्रंथों में इस भेदक तत्व की प्रायः उपेक्षा होती आ रही है।

इस आधुनिकतावाद के विषय में सामाजिक यथार्थवादी प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री कांस्टंटिन फदिन (Kanstantın Fedın) के विचार आव-श्यक हैं। उनके अनुसार आधुनिकतावादी पूँजीवादी देशों के लेखक सोवियत रूस के लेखकों के विरुद्ध यही प्रचार करते रहे कि समाजवादी देशों में साहित्य, संस्कृति, कला का अस्तित्व ही नहीं है। आधुनिकतावादी कलाकारों का सैद्धा-न्तिक आधार, 'रूपवाद' है। किन्तु सबसे अधिक रोष आधुनिकतावादियों को

इस बात पर है कि रूसी लेखकों और वहाँ के साम्यवादी दल में सहयोग और सद्भाव है।

पश्चिमी आधुनिकतावादियों की एक विशेषता यह है कि वे कला और साहित्य के विकास में ऐतिहासिक तत्व' को महत्व नहीं देना चाहते। इसके सिवा पश्चिमी लेखकों और कलाकारों का यह भी विचार है कि उन्हीं के कला रूप ही अनुकरणीय हैं। वे अन्य कलारूपों को सहन ही नहीं कर पाते क्योंकि आज भी योरोपीय प्रवृत्ति संस्कृति और कला के क्षेत्र में अपने को श्रेष्ठ मानने की है।[1] श्री फदिन ने पूछा है कि क्या इस प्रकार का पश्चिम से प्रेरित साहित्य एसिया, अफ्रीका के उन देशों में अनुकरणीय हो सकता है जो विदेशी दासता, विदेशी प्रभाव और शोषण के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं? जिस प्रकार की आधुनिकता योरोप और अमेरिका में प्रचलित है, वह अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद से भयभीत पूँजीवादी देशों के लिए ही उपयुक्त हो सकती हैं क्योंकि मरणासन्न स्थिति में निराशावाद, अनास्थावाद, आत्महत्यावाद, आदि प्रवृत्तियाँ ही पनपती हैं किन्तु शताब्दियों के बाद दासता तथा वर्ग वैषम्य से पीड़ित नवदेशों में यह आधुनिकतावाद इसलिए अधिकांशतः लोगों के गले नहीं उतरता क्योंकि नए एसिया अफ्रीका के देशों में या तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष चल रहा है अथवा नव निर्माण। ऐसी स्थिति में निराशावाद और 'एक क्षण' का चित्रण विचित्र और जिस विकास-सोपान से वे गुजर रहे हैं, उससे असम्पृक्त और अनुपयुक्त लगता है। अतः फदिन ने इस एक प्रश्न पर विचार आवश्यक है कि क्या प्रत्येक राष्ट्र का इतिहास उसके लिए एक विशिष्ट कलामार्ग का निर्माण नहीं करता है?

श्री फदिन का कथन है कि रूस में समाजवादी यथार्थवाद अपने देश की समस्त कलाविधियों और स्वीकृत मानव मूल्यों को अपने में समेट कर चला है अतः यथार्थवाद और साम्यवादी दल इतिहास के एक ही तात्पर्य को पूर्ण करने में एक साथ संलग्न हैं। उनमें आधुनिकतावादियों द्वारा फूट पैदा करने की चाल कामयाब हो नहीं सकती, क्योंकि यथार्थवाद साम्यवादी दल द्वारा घोषित विधि नहीं है, वह परम्परा प्राप्त विधि है (और चेखव, तोल्

1—According to this view the literature and art of any nation which does not repeat the current western fashion must be regarded as immature—

Soviet literature speech by Fedin Page 4, 1963 No of issue—8

स्तोय प्रेमचन्द आदि द्वारा उनकी सामर्थ्य प्रमाणित हो चुकी है) इसलिए आधुनिकतावादी 'यथार्थवाद' और 'परम्परा'—इन दो बातों के घोर विरोधी हैं। हिन्दी में 'नई कविता' के पश्चिमवादियों ने इन्हीं दोनों तत्वों पर अधिक कशाघात किये हैं हमारे भोले लेखक इस प्रचार का प्रयोजन नहीं समझ पाये। पश्चिम में आधुनिकतावादी जब अपनी यथार्थवादी परम्परा का विरोध करते हैं तब हिन्दी के आधुनिकतावादी यदि उनका अनुकरण कर, क्या ही इस दशा में करते हैं तो यह कोई कमाल नहीं है और न इस पर गर्व किया जा सकता है।

रूस में मायकोवस्की और हिन्दी में निराला ने मुक्तछन्द का प्रयोग किया था किन्तु 'नई कविता' के 'पूर्णतः मुक्तछन्द' या 'गद्य छन्द' और उक्त मुक्त छन्द में यह अन्तर है कि व्यक्तित्व की पूरी अभिव्यक्ति होने पर भी मायकोवस्की और निराला-पन्त आदि में उस घोर 'अन्तर्मुखता' का अभाव था जो आज के 'नव' लेखकों की विशेषता है। निराला आदि में एक सामाजिक परिप्रेक्ष्य सजग है, जिसका 'नई कविता' के पश्चिमवादियों (अज्ञेय के शिष्यों) में अभाव है।

श्री फदिन के अनुसार आधुनिकतावाद वस्तुतः प्रगतिवाद के विरुद्ध विद्रोह है। प्रगतिवाद पर सबसे बड़ा आक्षेप है कि उसमें कवि और कलाकार के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता क्योंकि 'पार्टी' का अंकुश लेखक को स्वतन्त्रता नहीं देता किन्तु 'सोवियत' साहित्य में जो वैविध्य मिलता है वह असम्भव होता यदि 'पार्टी' का अंकुश उसी मात्रा में होता जिस मात्रा में उसे बनाया जाता है। फिर रूसियों ने स्तालिन युग के लौह अनुशासन को संघर्ष कर के समाप्त कर दिया है। अब 'पार्टी' लेखकों को रूस में समझाती है धमकियाँ नहीं देती—न हत्या करती है। किन्तु नव स्वतन्त्रता प्राप्त, कई देशों में पूरी वैचारिक आजादी है—भारतवर्ष में तो उस प्रकार का कोई विशेष संकट नहीं है (यद्यपि यहाँ भी अंकुश है अवश्य) तब हिन्दी के राजनीतिक संघर्ष से नफरत साहित्य का उद्देश्य क्या हो? अततः साहित्यकार के स्वप्नों को, राजनीति और सामाजिक आन्दोलन ही कार्य रूप में परिणत कर सकते हैं। यदि राजनीतिज्ञ भ्रष्ट हैं तो भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष करो, राजनीति मात्र का विरोध तो सतत है। अतः भारत जैसे नव स्वतन्त्रता प्राप्त देशों में व्यक्तित्व के विकास में कोई विचारगत बाधा नहीं है (आर्थिक, सामाजिक बाधाएँ अवश्य हैं) साम्यवादी देशों में भी व्यक्तित्व का ही चमत्कार है। निर्माण के प्रत्येक क्षेत्र में क्या साम्यवाद और क्या पूँजीवाद, सर्वत्र प्रतिभाशाली, मौलिक विचारक,

आविष्कारक और कर्मयोगी महापुरुष ही आदर के पात्र हैं, वे ही अनुकरणीय है अतः व्यक्तित्व की उपेक्षा इस दृष्टि से समाजवादी देशों में सम्भव नहीं है। समाजवादी देशों में व्यक्ति समाज से और समाज व्यक्ति से सम्पृक्त हैं [1] पूँजीवादी देशों में आर्थिक वैषम्य के कारण व्यक्तित्व के विकास में अवश्य बाधाएँ हैं और विचारगत आजादी होने के कारण, चिल्लाने पर भी कुछ न कर सकने के कारण पूँजीवादी देशों में 'नवीन अमानवीय' और दिशाहीन शोध परक दृष्टिकोण अधिक प्रबल हुआ है।

यह समझना गलत होगा कि पश्चिम में सभी 'अति आधुनिकतावादी' हैं। वस्तुतः पश्चिमी पूँजीवादी देशों में समाजवाद से प्रभावित कलाकार ही केवल आधुनिकतावादी 'कथ्य' के विरोधी नहीं हैं, अपितु परम्परावादियों के विरोध का भी आधुनिकतावादियों को सामना करना पड़ रहा है, क्योंकि समाजवाद की तरह 'आधुनिकतावादी' परम्परा का ग्रहण-त्याग नहीं करते, वे केवल 'त्याग' ही करते हैं। इस नकारात्मक दृष्टि के कारण ही परम्परावादी उनके विरोधी हैं। स्वयं आधुनिकवादियों में कुछ टी एस इलियट जैसे परम्परावादी भी हैं जो ईसाई मत द्वारा ही आधुनिक सभ्यता के अन्तर्विरोधों और संकट को दूर करना सम्भव मानते हैं। हिन्दी में भी आधुनिकवादियों का विरोध, समाजवादी-परम्परावादी दोनों ने अपने अपने तर्कों से किया है और जो समाजवादी और परम्परावादी 'नवतावादी' कहलाते भी हैं, वे अपने दृष्टिकोण के कारण नहीं केवल शिल्पगत नवीनता के कारण ही 'नवीन' कहलाते हैं। इतिहास का यह वचित्र्य ही है कि परस्पर विरोधी परम्परावादी और समाजवादी (साम्यवादी भी) आधुनिकतावाद के विरुद्ध चाहने या न चाहने पर भी एक ही मंच में संघर्ष कर रहे हैं अतः हिन्दी में भविष्य उस 'आधुनिकवाद' का है, जिसमें सामाजिक उत्तरदायित्व का निषेध न हो और शिल्प नवीन हो, वस्तुतः नयी कविता में ऐसा मोड़ आ गया है। हमारे आधे से अधिक 'नए' लेखक जनवादी लेखक हैं।।

1—The individual is not divorced from society and society uses the examples of its best members (वही पृष्ठ ७)

साहित्य मे सार्वभौमिक तत्व

"कला की आवश्यकता" नामक पुस्तक म श्री फिशर का कथन है कि मार्क्सवादियो को भी स्पष्टत कला और साहित्य म सार्वभौमिक और सर्वकालिक तत्व को स्वीकार करना चाहिए क्योकि वह एक वास्तविकता है—

The function of art in a class Society at war within itself differs in many respects from its original function But nevertheless, despite different Social situations there is something in art that expresses an unchanging truth It is this that enables us who live in the twentieth century, to be moved by prehistoric cave paintings or very ancient songs [1]

प्राचीन ग्रीक साहित्य क्यो प्रिय लगता है जबकि वह ग्रीकसमाज दास प्रथा, स्त्रियो की दुदशा तथा श्रम से घृणा जसी विकृतियो से पीडित था ? मार्क्स के अनुसार ग्रीक समाज और उसका प्रतिबिम्ब ग्रीकसाहित्य मानवता की शिशु-अवस्था की स्थिति का परिचायक है अत समाज की बाल्यावस्था क्यो "शाश्वत आकषण" का विषय न बने ? श्री फिशर न मार्क्स की इस व्याख्या स इस सिद्धात का निष्पीडन किया है कि यह विवादास्पद होने पर भी कि ग्रीक नामल शिशु थे, मार्क्स की उक्त व्याख्या से यह अवश्य सिद्ध होता है कि ग्रीक साहित्य और कला म मनुष्यता का एक 'क्षण" चित्रित हुआ है, अत वह आज भी आकषक लगता है—

What matters is that marx saw the time conditioned art of an underdeveloped social stage as a Moment of humanity and recognised that in this lay its power to act beyond the historical moment to exercise an eternal fascination

अत फिशर के अनुसार किसी ऐतिहासिक क्षण" की भी सष्टि होती है जो आगे के सभी ऐतिहासिक क्षणो मे आकषण का विषय रहती है अत

---

1 The Necessity of art—A Marxist Approach,—(अ० फिशर)

वगसघप मे ऐतिहासिक निरतरता का महत्व कम नही आँकना चाहिए और कला और साहित्य मे वगसघर्षात्मक और सावकालिक दोनो तत्वो पर बल देना चाहिए ।

स्पष्टत प्रगतिवाद के प्रारम्भिक सोपान मे वगसघर्षात्मक तत्व पर अधिक बल दिया गया। सामाजिक क्राति की बलवती भावना के कारण साहित्य क स्यायी तत्वो की कुछ अवश्य उपक्षा हुई है ।

अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि जीवन की तरह साहित्य में भी सघप और निरतरता (Continuity) चलती रहती है। हिदी के प्रगतिवादी लेखको ने इस निरतरता तत्व की पहचान प्रारम्भ मे ही कर ली थी और उसे वह 'अपेक्षाकृत अधिक स्थायी तत्व" कहा करते थे। उदाहरणत वदिक साहित्य म चित्रित समाज एक पिछडा हुआ समाज था। मनुष्य मे तब आशा, उल्लास था विजय की भावना थी, मगलमय भविष्य के लिए प्राचीन आय आश्वस्त थे। वचारिक उलझनो से आय अधिक पीडित नही थे। अस्तित्वरक्षा और अस्तित्व प्रतिष्ठा के लिए सघपरत आर्यो के कबीलाई तथा प्रारम्भिक कृषि-व्यवस्थाप्रधान समाज के सम्मुख एक चुनौती का वातावरण था जिसे उन्होने स्वीकार किया था अथवा उस वह स्वीकार करने को विवश थे अत वदिक साहित्य म आय दस्यु सघप मिलता हैं और स्वय आर्यों के कबीलो म शासक शासित पुरोहित शासक आदि सघर्षो के रूप चित्रित हुए है किन्तु साथ ही आर्यो का आशावाद और उल्लास, कम करने का उत्साह, प्रकृति के प्रति आश्चयमिश्रित प्रेम और जीवन के प्रति दुदमनीय आसक्ति, ये प्रवृत्तिया वदिक साहित्य को आज भी प्रिय बनाये हुए है। उत्तर वदिक काल म वास्तविक सघर्षों की प्रतीकवादी व्याख्या प्रारम्भ हुई, महाकाव्यो मे कौरव-पाडव युद्ध तथा राम रावण युद्ध को पाप पुण्य के शाश्वत सघप के रूप मे समझाया गया जो आज भी मनुष्य मे यह विश्वास भरता है कि पाप का नाश अवश्यम्भावी है। यह एक वास्तविकता है कि मनुष्य-समूह अपनी अस्तित्वरक्षा के लिये कल्याणकारी मूल्यो को स्वीकार कर लेता है अत प्रत्येक समाज मे यह धारणा शाश्वत रूप से बस गई है कि पुण्य अतिम रूप से विजयी होगा। इन 'पुण्यो' मे परोपकार, सत्य, दया, करुणा प्रेम आदि तत्वों की गणना होती आई है और प्राचीन साहित्य एक स्वर से इन मूल्यो की अतिम विजय के विषय मे आश्वस्त है अत पिछडे समाजो का यह प्राचीन साहित्य हमे आज भी प्रभावित करता है और करता रहेगा।

एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वगसघप और नरन्तयपरक

एक माथ किस प्रक्रिया से एक ही ऐतिहासिक क्षण मे जन्म लेते है ? सस्कृत-साहित्य वाल्मीकि से लेकर आजतक मुख्यत ब्राह्मणवादी तत्वो द्वारा लिखा गया है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से उच्च वर्ग" का निर्माण करते हैं । वाल्मीकि, कालिदास, माघ भारवि, श्रीहर्ष आदि महाकवियो ने उच्चवर्गीय ब्राह्मणदर्शन के वृत्त के अन्तर्गत रहकर ही काव्य नाटकादि लिखे हैं । यह ब्राह्मणो द्वारा निदेशित समाज सामतवादी समाज था, जिसम करोडो सेवको के वर्ग का एक सद्धान्तिक व्यवस्था द्वारा (स्मृतियाँ धर्मशास्त्र) सदा के लिए 'सवक'' अधदास" और 'शम ' बनाया गया था और जिसे शताब्दियो के प्रचार द्वारा शूद्रवग ने स्वीकार भी कर लिया था । जातिप्रथा द्वारा निम्नवर्ग के असतोष को एक बडी सीमा तक समाप्त कर दिया गया था और कर्मवाद पुनर्जन्मवाद के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति निश्चित कर दी गई थी अत ऐसे समाज मे प्रत्येक वर्ग के आदर्श पुरुषो का चित्रण किया गया क्योकि यही एक उपाय था, जिसके द्वारा तकनीकी दृष्टि से पिछडे समाज को स्थिरता और निरन्तरता मिल सकती थी ।

अतएव सस्कृत नाटको काव्यो म मानव जीवन की नियति पूर्णत निश्चित है नए प्रश्न सस्कृत काव्यकारो को कष्ट नही देते । भाग्यवाद कर्मवाद पुनर्जन्मवाद द्वारा प्रत्येक प्रश्न का समाधान जसे सभी व्यक्तियो को प्राप्त है इसीलिए सस्कृत साहित्य म ' स्थायी रस' की सृष्टि पर बल दिया गया । जब सघर्ष मुखरित नहा है मान्यताएँ व्यापक हैं, असतोष का कारण होने पर भी कोई नया सामाजिक सिद्धान्त सम्मुख नही है तब मनुष्य का वही रूप सस्कृत मे चित्रित हो सका है जो सार्वकालिक है अर्थात मनुष्य के 'स्थायी' भावो की व्यजना पर ही सारा जोर दिया गया है ।

स्पष्टत हम सामतीसमाज की धारणा अस्वीकृत कर चुके हैं आज समता का युग है । करोडो शूद्रा और अन्य श्रमकर वर्गों को वधानिक स्वतन्त्रता प्राप्त है । राजे महाराजे मध्यवग के नेताओ के सम्मुख गौरव और सम्पत्ति भी खो चुके हैं । राजमहलो पर अब जो साहित्य लिखा भी जाता है वह श्री हर्ष की "रत्नावली" से भिन्न है । रत्नावली को पढ कर आज राजा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नही होती, बल्कि सागरदत्ता और वासवदत्ता के झगडे दूतियो के षडयन्त्र आदि निरर्थक और सन्दर्भ हीन लगते हैं । इसी प्रकार द्रौपदी को नग्न करने के पक्ष म कौरवो द्वारा प्रस्तुत तर्क दास प्रथा" पर आधारित है जो आज बबर प्रमाणित हो चुके हैं । राजाओ के परस्पर युद्ध आज उस युग की पिछडी राजनीति पर प्रकाश डालते हैं किन्तु इस "सघर्ष"

और ऐतिहासिकता के सदर्भ म आज निरर्थक लगने वाले तत्वो के अतिरिक्त सस्कृत साहित्य मे मनुष्य के राग विराग का आकर्षक वर्णन है जो आज भी रुचता है। अपनी एतिहासिक सीमाओ म सिमटा, परिस्थिति को अपने अनुकूल करने के सभी उपाय करते हुए, अपनी वर्गीय स्थिति का पुष्ट करने के लिए तरह तरह क सिद्धान्त गढते हुए सस्कृत के उच्च वर्गीय कवि मे भी एक धरातल ऐसा है, जिस पर वह "मानवमात्र" के स्वरूप के विषय मे सोचता है। रस साहित्य मे सामान्य मानव की धारणा ही कार्य करती रही है। सघर्षों की कोटि से परे भी एक ऐसा सन्दर्भ है, जहा शासक शासित, पडित मूर्ख, सबल दुर्बल "एक" हैं यह धरातल ह, भाव का धरातल।

चिंतन स्तरा पर मनुष्य म विभिन्नता को स्वीकार किया गया है मुडे मुडे मतिर्भिन्ना कहा भी गया है, किन्तु 'भाव" के धरातल पर मानव मात्र की एकता घोषित की गइ है, यही 'तत्व" निरतरता का तत्व है। दूसर शब्दो म जसा कि सभी प्रगतिवादी मानत आए है, सामाजिक व्यवस्थाएँ बनती बिगड्ती ह इतिहास म सभी कुछ 'कटीशड" होता हुआ चलता ह भाव' भी इस बाह्य परिस्थिति म प्रभावित होता है, एक ही भाव का चित्रण दो इतिहास युगा म भिन्न भिन्न प्रकार से होता है तथापि स्थायी ' भावो म मूल परिवर्तन बहुत कम होता ह क्योकि शृ गार, वात्सल्य क्रोध भय हास्य ग्लानि आदि भाव मनुष्य क जवी अस्तित्व" के रक्षक ह, उनम मौलिक परिवर्तन पिछले हजारा वर्षा क इतिहास म बहुत कम हो पाया है अत ये भाव मनुष्य के मूल रूप के रक्षक रह है मानवीय इतिहास की यह मूल सामग्री है। जवीसम्पत्ति, जा प्रकृति स प्राप्त है, इतिहास की आँच मे तपकर नए रूप धारण करती है नए साहित्य का जन्म देती है किन्तु इसम मौलिक परिवर्तन कम होता ह या इतना धीरे होता है कि उसे लक्ष्य करना भी कठिन हो जाता है।

सस्कृतसाहित्यने इस "मूल मनुष्य" का सस्कार भी किया है किन्तु वहाँ ब्रह्मवादी दर्शन का एक वत्त है, जिससे बाहर जाने का उपक्रम किसी लेखक ने नहा किया। ईश्वर, राजा, ब्राह्मण, वेद, स्मृतिया, जाति आदि के प्रति श्रद्धा समाज की यथास्थिति म अपरिवर्तन की भावना की सृष्टि ही इस साहित्य का लक्ष्य है किन्तु इस "वर्गस्वार्थ" के साथ-साथ महाकविया का मानवमात्र की सवेदनाओ और भावनाओ से प्यार भी कम नही है इसीलिए अभिज्ञान शाकुन्तल म रमणीय शृगार, वेणीसहार मे वीरता और दर्प, नागानन्द म करुणा और भूतदया, शिशुपालवध म अत्याचार का विरोध और पौरुष, और मेघदूत म देश की प्राकृतिक सुषमा म सभी मनुष्य

आज भी आनन्द दे सकते हैं। मान्यताएं बदलती हैं पर हृदय की मनुहार इतिहास की कोटियों का उल्लंघन करके भविष्य मानव का भी आह्लादित करती रहती हैं। भावनाओं के स्वतन्त्र वर्णन के अतिरिक्त मानव संवेदना (Sensibility) से सम्बन्धित अनेक काव्यस्थल आज भी आकर्षक लगते हैं, क्योंकि साहित्य में केवल विचार और भाव ही नहीं होते अपितु शब्द, स्पर्श रूप, रस और गंध के चित्रण भी होते हैं। प्राचीन साहित्य अपनी अभिव्यक्ति कुशलता और भाषासामर्थ्य में भी प्रभावित करता है, कला और साहित्य का यह अंश 'जादू'' का अंश कहला सकता है। "कुशलता" सामाजिक दृष्टि से एक आवश्यक तत्व हैं, अतः वह सर्वदा प्रभावित करती है, यह अवश्य है कि नवीनता के प्रति प्रेम के कारण हम नवीन कुशलताओं के अनुसंधान में दत्तचित्त रहते हैं। ऐसी स्थिति में भी हमारी प्राचीन कुशलताएँ प्रेरक प्रमाणित होती हैं क्योंकि उन्हीं का अध्ययन हमें नवीन कुशलताओं की ओर उन्मुख करता है और प्रायः साहित्यकार प्राचीन कुशलताओं की सहायता से नवीन "जादू" की सृष्टि करते दिखाई पड़ते हैं।

यह सत्य है कि मनुष्य के राग विराग का संस्कृत साहित्य में चित्रण "निरपेक्ष" रूप में हुआ है पर 'जैवी अस्तित्व" के एक स्तर पर ये भाव स्वतन्त्र रूप में भी आनंददायक होने हैं। सूरदास का बाल वर्णन' उस काल में एक सामाजिक प्रयोजन को लेकर किया गया ऐसा समाजशास्त्री सिद्ध कर सकते हैं। किन्तु बाल्यावस्था के सौंदर्य, सरलता, भोलापन, क्रीडाएँ आदि आज भी उसी रूप में आकर्षक लगती हैं जिसके मूल में "जैवी अस्तित्व" काम करता है अतः बिना किसी सामाजिक आग्रह के भी हम बच्चों से प्रेम करते हैं या बच्चों से प्रेम एक सामाजिक कार्य भी है अतः यहां "प्रवृत्ति" और सामाजिकता में विरोध नहीं है। हम सभी बच्चों से प्यार कर सकते हैं किन्तु सभी स्त्रियों से प्यार नहीं कर सकते क्योंकि वहां शृंगार" में प्रजनन अंतर्भूत होने के कारण, प्रवृत्ति और सामाजिकता में द्वन्द्व उठ खड़ा होता है अतः शृंगार के चित्रण में निषेध और स्वीकृति के दोनों पक्ष चलते हैं, मर्यादाएँ अपना प्रभाव डालती है, नैतिकता का प्रश्न उपस्थित हो जाता किन्तु फिरभी शृंगार के ऐसे चित्रण जहां निषेध आवश्यक नहीं होता, स्थायी साबित होते है, क्योंकि ऐसे स्थलों में मनुष्यमात्र अपने प्रेम की प्रतिध्वनि सुनता है। मेघदूत में यक्ष और यक्षिणी की स्थिति के साथ संयोग वियोग में हमारा तादात्म्य आज भी हो जाता है और मेघदूत आज भी रूस, भारत, आदि सभी देशों के युवकों की प्रिय रचना हो सकती है।

आज की विपम स्थिति म शृ गार भय, शाघ आदि के चित्रण निरपेक्ष नही हो सक्त, यह भी सच है क्योकि आज का युग प्राचीन युगो की तरह सरल नही है, सकुल है। प्रश्न प्रवत्तिया से अधिक प्रवल सावित हो रहे ह और साहित्य का प्रयोजन "सौदय" की सृष्टि न रहकर, "साथकता" की खाज होता जा रहा है। साथक साहित्य म "मूलमनुष्य" को यथावत रूप मे चित्रित नही किया जा सकता, अपितु परिस्थिति और व्यक्ति के बीच, परिस्थिति और समूह के बीच सकुल और विपम असामजस्य का दूर करने के सदभ मे "मूलमनुष्य" का चित्रण किया जाता है फलत एक जटिलप्रक्रिया का प्रयोग होन लगता है और पुराना 'रससाहित्य" मात्र प्रवृत्तिगत" प्रिमिटिव" प्रतीत होने लगता है। किन्तु यदि मनुष्य इतिहास को अपने अनुकूल कर लेगा तो पुन भावो के निरपक्ष चित्रण पसन्द आ सकते हैं, कम से कम सम्भावना तो यह है ही। मनुष्य ने जहां तकनीक के क्षेत्र मे अभूतपूव सफलता प्राप्त की है, अर्थात् बाह्य प्रकृति पर उसन जिस सीमा तक विजय प्राप्त की है, उस सीमा तक आतरिक प्रकृति" पर वह विजय प्राप्त नही कर सका इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि उत्तम सिद्धा ता और आदर्शों को वह काय रूप म परिणत करत समय अपन लाभ, क्रोध आदि असगतियोसे विकृत कर देता है। चीनी साम्यवाद म माक्सवाद की परिणिति के पीछे चीनी साम्यवादियो की मानवीय कमजोरियाँ मिथ्याहकार, अधराष्ट्रवाद, रूस से ईर्ष्या आदि तथ्य प्रमाण है किन्तु यदि कभी मनुष्य आतरिक प्रकृति पर भी विजय पा सका तो वह सामान्यमानव के रागविराग के चित्रण को पुन प्रिय मानेगा ही यो वह उच्चतर धरातल पर ही सम्भव होगा। आल्डुअस हक्सले का यह कथन कि भविष्य म "सकुल सरलता" का विकास होगा, सही लगता है। आज सकुलता और जटिलता का युग है, कल इस जटिलता से आदमी ऊब भी सकता है, आज ऊब से प्रेम है, कल इस ऊब और उदासी पर वह विजय भी प्राप्त कर सकता है और पुन वह प्राचीन आनन्द का अनुसधान कर सकता है। आज के इतिहास का यह "मानवीय क्षण" आज के इतिहास से अनुकूल है, कल इतिहास मे परिवत्तन होने पर "मानवीय क्षण" भी बदल जायगा। निषेधपरक प्रवृत्तियो की प्रवलता का अथ है कि भावात्मक प्रवत्तिया (po itive Tendencies) अवसर मिलते ही पुन प्रवल होगी। मनुष्य के व्यक्तिगत मन म जिस प्रकार परिस्थिति के अनुरूप भाव अभाव का सघष चलता है, इतिहास के मन मे भी यही प्रवत्ति चलती है।

साहित्य और कला मे सावभौमिक और सावकालिक तत्व का एक अन्य रूप भी ह। "मनुष्य मरणशील है" यह एक सावकालिक कालनिद सत्य

है । प्राचीन साहित्य में मनीषियों ने मनुष्य जीवन का अध्ययन करके "सामान्यमनुष्य" के विषय में सार्वकालिक धारणाओं को पकड़ने का प्रयत्न किया है । सत्य क्या है, असत्य क्या है, धर्म क्या है, अधर्म क्या है, इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए महाभारत ने अनेक परिस्थितियों में मनुष्य को रखकर समाधान देने का प्रयत्न किया है और अंत में कोई उत्तर नहीं मिलता। सार्वकालिक तत्व यों उभर कर सामने आता है मनुष्य की जिजीविषा इतनी प्रबल है कि वह बार बार निराश होकर भी निराश नहीं होता, वह एक अनवरत यात्रा में संलग्न है।" इसी प्रकार मनुष्य के सामान्य स्वरूप के विषय में प्राचीन काव्यों और कलाओं में उपयोगी धारणाएँ मिलती हैं शेक्सपियर महान इसलिए है कि उसमें मनुष्य के 'सामान्य रूप" पर गहरा प्रकाश पड़ता है । इसी प्रकार पशुओं, स्त्रियों, बालकों, शासकों, शासितों, पंडितों, मूर्खों, वीरों, कायरों, दुराचारियों, सच्चरित्रों आदि के विषय में सामान्य निष्कर्ष अनेक प्रयोगों को देखकर प्राप्त निष्कर्ष हैं, जिन्हें आधुनिक मनो विज्ञान भी स्वीकार करता है। मानव व्यवहार के विषय में प्राचीनों की अंतर्दृष्टि बड़ी गहरी थी यह तत्व भी प्राचीन साहित्य को सार्वकालिक स्पर्श देता है । जब हम पढ़ते हैं कि 'हम एक दूसरे की मृत्यु को जीते हैं और एक दूसरे के जीवन को मारते हैं' तो एक सामान्य मानवीय सत्य के दर्शन करते हैं, नवीनों में भी ऐसे सामान्य सत्य कम नहीं हैं अतः कला और साहित्य का यह आयाम भी उसे स्थायित्व देता है ।

साहित्य और जीवन दोनों अस्थायी और स्थायी समसामयिक और 'शाश्वत" तत्वों की संगति का नाम है । महान साहित्य वही है जिसमें इन दोनों तत्वों का दूध शकरा की तरह समन्वय हो । प्रायः समसामयिकता की खोज में स्थायीतत्व स्वयं प्राप्त हो जाते हैं और जैसाकि प्रायः होता है कि स्थायीतत्वों को सीधा अंकित करने पर समसामयिक युग उनमें झलकने लगता है जैसाकि ऐतिहासिक रचनाओं में देखा जाता है। इसका कारण है मनुष्य के मन की द्वंद्वात्मक स्थिति, जिसमें दोनों तत्व साथ चलते हैं अतः साहित्य में वर्गसंघर्ष जैसे तत्वों का अनुसंधान करते समय स्थायी तत्वों का अनुसंधान द्वंद्वात्मक सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं जाता क्योंकि अस्थायी और स्थायी तत्व एक ही वास्तविकता के दो पहलू हैं ।।

प्रतिभा

भारतीय आगम शास्त्रों में शरीर के प्रत्येक अणु-परमाणु को शक्ति का एक एक स्वतन्त्र स्रोत माना जाता है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त शक्ति सूक्ष्म रूप धारण कर, हमारे शरीर में अवस्थित होती है। शक्ति से युक्त होने से प्रत्येक शरीर शक्तिमान है। निम्न कोटि के जीवों में भी यह शक्ति रहती है परन्तु वे उस शक्ति का विकास नहीं कर सकते किन्तु मनुष्य में आकर शक्ति, उसके प्रति उन्मुख होते ही स्फुरित होने लगती है और तब व्यक्ति शक्तिमान बन जाता है, स्फुरण की विभिन्न विधियों को ही विभिन्न शिक्षा प्रणालियों के नाम से अभिहित किया जाता है। जो आप से लेख लिखने के लिए कहता है, वह लेख लिखने की प्रसुप्त शक्ति को स्फुरित करने में सहायता देता है, यदि आप लिखने के लिए प्रयत्नशील हों। अतः व्यक्ति को शक्ति रहित मानकर चलना सर्वांश तक दृष्टि से गलत है। शक्ति का स्फुरण कभी तो स्वतः या कभी किंचित प्रयत्न से अथवा कभी अनवरत और दीर्घ प्रयत्न से करना पड़ता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति वह है जिसकी शक्ति किंचित् प्रयत्न से ही स्फुरित हो जाय। परन्तु ऐसे व्यक्ति कम हैं शायद बहुत कम। अतः दूसरा उपाय है शक्ति का स्फुरण प्रयत्न। शिक्षा के द्वारा ही यह सम्भव है और शिक्षा वस्तुतः आत्म प्रयत्न है। शिक्षा आपको शक्ति विकास के लिए प्रेरित कर सकती है बलात् शक्ति का स्फुरण नहीं कराया जा सकता। संसार में शायद ही कोई विचारधारा ऐसी हो जो यह मानने से इन्कार करे कि व्यक्ति में अन्तर्निहित शक्तियाँ अवश्य होती हैं केवल हमारा काम उनका विकास करना भर है। तब प्रतिभा का अर्थ क्या है ?

यदि प्रतिभा का अर्थ प्रसुप्त अवस्थित शक्ति (Potentiality) से लें तब सभी प्रतिभावान् हैं और यदि प्रतिभावान् से अर्थ लें कि किंचित प्रयत्न से ही शक्तियाँ विकसित हो जायें तो इसका अर्थ है कि प्रयत्न करने पर शक्तियाँ विकसित हो ही सकती हैं। तब प्रयत्न में कृपणता क्यों हो ? अतः आज जो "प्रतिभा" (Talent) को प्रदर्शन की वस्तु बना कर दूसरों को आतंकित किया जाता है, वह एक समष्टिगत अन्याय है। ऐसे आतंक से आप दूसरे के हृदय में यह भाव पैदा करना चाहते हैं कि आपके अतिरिक्त

प्रसुप्त, अस्थित शक्ति (Potentiality) किसी मे है ही नही, और प्रयत्न के तो आप स्वय शत्रु हैं ही। औरो से भी ये लोग कहते हैं कि प्रयत्न से कुछ नही होता सब स्वत होता है। और तारीफ यह है कि आप अपने को प्रगतिशील भी मानते हैं क्योकि आस्तिक दर्शनो का विश्वास यह है कि शक्ति का स्फुरण प्रयत्न से भी होता है और शिव की कृपा से अकस्मात् भी होता है। इसे 'शक्तिपात' का सिद्धान्त कहते है। जब आप शक्तिपात' से तो प्रयत्न और प्रतिभा का विश्वास कर नही सकते जो करते हैं वे ही अधिक सुखी हैं। अत आपको प्रयत्न और प्रतिभा से अविच्छिन्न सम्बन्ध मानना ही होगा।

प्रतिभा की जागृति के लिए सयम की सर्वाधिक आवश्यकता है। किञ्चित सफलता से ही मदोन्मत्त होकर, अपनी रचना को सवश्रेष्ठ सिद्ध कराने के हथकण्डे प्रयोग करना प्रतिभा की निशानी नही जडता की निशानी है। इस सिद्धान्त से जो अपनी यश प्राप्ति के लिए जघन्यता पर उतर आते हैं आत्म विज्ञापन आपाधापी व उखाड पछाड करते है, वे देश द्रोही जनद्रोही नही वस्तुत आत्मद्रोही हे क्योकि विज्ञप्तिवादी कभी भी आत्म सस्कार मे सयम नही रख पाता। वह उस अधय का प्रदशन करता है जिसमे कोई कलाकार मूर्ति का एक सुन्दर हाथ बनाकर बाजार मे चिल्लाता फिरता है कि देखो ! यह मूर्ति कितनी सुन्दर है। जब तक अन्तर स्थित शक्तियो का—रचनात्मक या समीक्षात्मक पूण विकास नही होता तब तक लेखक की मूर्ति (उसका व्यक्तित्व) अधूरी है वह महान सम्मान का पात्र नही है। और जब वह स्वय वस्तुत आश्वस्त हो जाता है कि उसकी मूर्ति पूण हो गई है उसकी शक्ति का अनन्त स्रोत प्रवहमान हो गया है तो वह स्वय सन्तुष्ट होकर ऐसे आनन्द को प्राप्त करता है कि उसे किसी प्रकार के विज्ञापन की आवश्यकता नही रहती।

आकाश और रचयिता के चित्त की स्थिति एकसी होती है। आकाश तब तक निर्मल नही होता जब तक उसम मेघखण्ड इधर उधर उडते रहते हैं किन्तु जब आकाश उन्हे अपरिमित विस्तार व घनता देकर बरसाता है तो मेघ लुप्त हो जाते हैं। कूची गिर पडती है, लेखनी विश्रान्त हो जाती है और आकाश के समान रचयिता का चित्त शान्त और निर्मल हो जाता है। अभिव्यक्त हो जाने पर शक्ति की श्रीण सामने होने पर, प्रतिमान का फिर और क्या चाहिए ? साहित्य म यह महान उपलब्धि इसीलिए नही होती क्योकि स्रष्टा में असयम रहता है और असयम से चित्त का विकल्प उसे चैन नही लेने देता, तब स्रष्टा इधर-उधर के झूठ उपायो से प्रचार से फूलमालाओ मे निमन्त्रणो आदि से अपने चित्त को शान्त करना चाहता है—जो असम्भव है

क्योंकि आनन्द तो पूर्णता में है, अपूर्णता में आनन्द की जगह प्रमोद व रञ्जन मिल सकता है परन्तु साहित्य को मनोरंजन मात्र कहीं भी नहीं माना गया। अत प्रतिभा की समस्या के साथ शक्ति–विकास का प्रश्न लगा हुआ है।

आपको आश्चर्य होगा कि बिना ब्रह्म के जगत के विस्तार व जीवन के सभी अनुभवों की व्याख्या कर सकने का विश्वास करने वाले बहुत से लेखकों का मत उक्त मत से मिल जाता है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं, मात्र बात को कहने के ढङ्ग में अन्तर है। भारतीय बिना एक चेतन-बिन्दु के कुछ भी नहीं समझ पाते, क्योंकि समझाने का कार्य स्वयं एक चेतन करता है जबकि ईश्वर के बिना भी काम चलाने वाले विचारक चेतना को विकास का परिणाम बताकर पुन उस चेतना से वही कार्य लेते हैं जैसे हम चैतन्य की व्याख्या करते हैं। एण्टन चेखव ने एक जगह लिखा है—

"Do you know what talent is ? It is courage, an independent mind, wide range फिर आगे चेखव कहते है कि—"He has great talent but no knowledge of life whatever, and where there is no knowledge, there can be no courage." इस प्रकार चेखव के अनुसार प्रतिभा जीवन के ज्ञान का नाम है, स्वतन्त्र होकर सोचने का नाम प्रतिभा है। अत प्रतिभा का अस्तित्व ही आवश्यक नहीं, उसे धार पर रखना भी आवश्यक है अन्यथा जो बीज उगता नहीं फल फूल नहीं देता वह वृक्ष कैसे कहलायगा ? लोग सामर्थ्य व उपलब्धि में अन्तर या तो जानते नहीं या दोनों को मिलाकर एक मान लेते हैं। "यह व्यक्ति बहुत योग्य है, यह अमुक कार्य कर सकता है" परन्तु शक्ति की विद्यमानता तो विशेष बात नहीं, उसका फल सम्मुख आना चाहिए और वह भी परिपक्व फल। हिन्दी के बहुत से प्रतिभाशाली लेखक शीघ्र ही महान बन जाने के प्रयत्न में, पाल के फल बनकर भी, पके फल के भाव बिकना चाहते हैं, परन्तु यह सम्भव कैसे हो सकता है ?

चेखव ने बार-बार कहा है कि काम करो, काम ही प्रतिभा है। संस्कृति का आधार कार्य है, वही शक्ति का परिणाम है, परिणाम को देखकर ही शक्ति का निर्णय होता है। कार्य मत करो, या रद्दी कार्य करो परन्तु हमें महान् स्रष्टा मान लो" यह माँग गलत है। चेखव ने लिखा है कि प्रतिभा स्वतन्त्रता का नाम है। किससे स्वतन्त्रता ? पाशविक इच्छाओं से।

---

† A P-Chekhov, Vladimir yeormilov (Page 160-161)

"Talent is freedom freedom from passions" (वही पृष्ठ १६१)। गोर्की ने चेखव के विषय में जो लिखा है वह हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है और वह भी आज के इस संक्रांति युग में जहाँ, काम के स्थान पर आत्म विज्ञापन को ही रचनात्मक व सांस्कृतिक प्रयत्न माना जा रहा है। गोर्की ने चेखव के विषय में लिखा है—

"I never met anyone who feel the significance of work as the basis of culture so profoundly and thoroughly as Anton Pavlovich" (पृष्ठ–१६१)

अर्थात, मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो ए०पी० चेखव के समान इतनी गहराई व पूर्णता के साथ काम के महत्व को संस्कृति का आधार समझता हो। चेखव रात दिन काम करता था उसके अनुसार लेखक बिना काम के जीवित नहीं रह सकता। साथ ही कृत काम से जितना ही असंतोष होगा उतना ही काम अच्छा होगा।

Dissatisfaction with the oneself is one of the funudamental qualities of every true talent" प्रतिभा एक उत्तरदायित्व को अनुभव करती है उसका सृष्टा होने के नाते एक निश्चित कर्त्तव्य है उसे पूरा न करने पर और प्रशंसा न पाने पर, जब लेखक पुरानी पीढ़ी व नवीन पीढ़ी में जन्मजात वैर मानकर अनाप शनाप प्रलाप करते हैं तो चेखव का स्मरण हो आता है। आज के हिन्दी लेखक को अपनी रचनाओं से कुछ भी असन्तोष है, ऐसा कभी न सुनने में आया, न पढ़ने में। प्रतिभा अहं नहीं है, वह सर्वदा इस ओर ध्यान देती है कि किधर से क्या कमी है, पर हमारे यहां लोग "जो नहीं हैं" उसका भी डंका पीटते फिरते हैं, अनवरत काम की शाण पर वे रचनात्मक शक्तियों का तेज नहीं करते। पुस्तकों की संख्या की चिन्ता अधिक है, उनके गुण की चिन्ता नहीं, यह खेद का विषय है।

गेटे ने लिखा है कि वही व्यक्ति प्रतिभाशाली कहा जा सकता है जो प्रतिभा के लिए प्रत्येक दिन लड़ता है। परन्तु हमारे वीर, वाक् वीर, अपने नाम को दीप पर देखने के लिए अक्षौहिणी सजा रहे हैं, भारती के सपूत 'महाभारत' मचा रहे हैं।

आप समझते हैं कि कला के लिए प्रचार आवश्यक है ! परन्तु आप तुलसी, सूर व प्रसाद के विरुद्ध प्रचार कीजिये और परिणाम देखिये। प्रेमचन्द में सच्ची प्रतिभा थी, उनका काम गवाह है, अतः उनको इस देश की जनता

ने कौन-सा आसन दिया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी और महादेवी ने काय किया है, अत उनका महत्व "हिन्दी क आदिकाल' सूर साहित्य, कबीर तथा नाथसम्प्रदाय, नीरजा, दीपशिखा आदि पर स्थिर हो चुका है। आप चाहते है कि भारतीय जनता सस्त प्रचार मे बह, परन्तु इस देश मे यही तो वचित्र्य है कि यह कृतघ्न नही है। इसे आप क्या कोई भी कभी कृतघ्न बना पाएगा, यह असम्भव है। क्योकि यह देश सहस्रा वर्षो के अनक ज्ञात अनात स्रष्टाओ को श्रद्धा देना जानता ह परन्तु इसकी श्रद्धा गम्भीर है, वह जल्दी नही मिलती। आप खूब दलबन्दी कीजिये, भारतीय जनता चुपचाप अलग रहेगी। आप कुछ दीजिये और मौन हो जाइए, आपका नाम ले लेकर यह जनता युगो-युगो तक चिल्लाती रहेगी, आपको ईश्वर तक बना देगी, आपकी मूर्तियाँ बनाएगी, आपके नाम व्रत, पूजा कराएगी। यदि आप काठ की हाडी एक बार चढाना चाह, शौक से चढाइए परतु इस देश मे आपकी पहचान हो चुकने पर आप कुछ भी कहिए, कोई न सुनेगा। यह देश धीरे धीरे विश्वास करता है, आपके काय को देखता है केवल सम्भावना को नही। अत आप चुपचाप काय कीजिये। जिनका सम्मान मिल गया है मिलने दीजिये, ईर्ष्या से पेच मत खाइए। ईर्ष्यालुओ पर नही, दयालुओ पर यह जनता दया करती है। अह के साथ आप कुछ भी दीजिये, इस देश की जनता मौन रहेगी। रावण विद्वान था, क्या हुआ? अत मौन गम्भीर साधना के परिणाम पर रीझने वाले देश म भी यदि आप भूकम्प बन कर आएँगे ता अस्तव्यस्तता से आप को क्या मिलेगा? यदि प्रतिभा ह तो काय द्वारा जनता को प्रभावित कीजिये, मित्रो द्वारा प्रशसा कब तक चलेगी?

साहित्य में सौन्दर्य

कला मे रागात्मक सूत्र की सत्ता अनिवाय है, कल्पना और बुद्धितत्व अपने स्वतन्त्र रूप मे उच्चतम कोटि की सृष्टि मे असमथ है। कला विश्लेषण के लिए प्राचीन ध्वनिवाद को ध्वनन व्यापार के रूप में समझना चाहिए और रसवाद के प्राचीन रूप का यथावत स्वीकार न कर, उसमे परिवतन वाछनीय है कि जहाँ रसवाद कलाकार से भिन्न इतर विषयो को ही काव्य का विषय बनाने पर जोर देता है, वहा कलाकार अपनी सामान्य मानसिक स्थितिया और बौद्धिकता की व्यञ्जना भी कर सकता है।

मान्यता सम्बन्धी तीसरा सिद्धान्त है 'सौन्दय' का अर्थात 'रूप का। रूप' की अवहेलना इधर बहुत हुई है। प्रथम तो यह स्वीकाय होना चाहिए कि सौन्दय स्वय मनुष्य की ऐन्द्रिय सवेदना का शिक्षित करता है। रग, ध्वनि स्पश आदि का अनुभव करने वाली वृत्तियो को सूक्ष्म और सुरुचिपूण बनाना रूप का काय है।

मनुष्य उपयोगिता व सौन्दय दोनो के लिए प्रयत्न करता आया है। पशु भी सौन्दय मे मुग्ध हो जाते हैं परन्तु मनुष्य ने तो सस्कृति में 'सुरुचि' को अधिकाधिक स्थान दिया है। अत रूपो की सृष्टि स्वत जन-कल्याण के विरुद्ध नही जाती। कुत्सित व्यक्ति सौन्दय को तटस्थ दृष्टि से देख ही नही सकता। सौन्दय के सृजन को, कुत्सित ऐन्द्रिय भाव के विरुद्ध जिहाद समझना चाहिए। सौन्दय और जन-कल्याण मे विरोध नही है। यह ठीक है कि गुणो का सौन्दय भी होता है परन्तु उसका विचार 'रागतत्व' मे होता है यहाँ केवल बाह्य रग, रूप, आकार ध्वनि आदि के सौन्दय से अभिप्राय है।

सौन्दय का दूसरा रूप, उपकरण को विशेष प्रकार प्रस्तुत करने मे दिखाई पडता है। साहित्य के उपकरण हैं—बुद्धि, राग, कल्पना, शब्द व अर्थ।

सन्तुलन, सगति, सामञ्जस्य आदि नियमो को ध्यान मे रखने से इन्ह विशेष आकषक रूप दिया जा सकता है। कथा, उपन्यास, काव्यादि मे पात्र, परिस्थिति, का सन्निवेश किस प्रकार होना चाहिए, यह प्रश्न विचार का विषय बनता है। कुछ उपन्यास सुगठित नही होते, उनमें वणना का मनमाना रूप मिलता है। पात्रा की सख्या और उनके उचित विकास पर भी ध्यान नही दिया जाता। नाटको म सबसे अधिक समस्या हेलना उपकरणो के प्रस्तुतीकरण की ही होती है अत शली म जो आकषण आना चाहिए, वह नही आ पाता। तब लेखक केवल वक्तृत्व शक्ति से ही काम चलाता है। पर वाक्शक्ति, विन्यास के अभाव मे प्रलाप-सी लगती है। और विन्यास का विचार जितना होना चाहिए उतना आज नही होता। दृष्टिकोण महान् होने पर भी लचर कृतियो की भरमार का कारण सौन्दय के सामान्य नियमो की उपेक्षा ही है।

उपयु क्त मान्यताओ को ध्यान मे रखने पर स्वत ही विशिष्ट परन्तु साधारणीकरण म सक्षम, शली का विकास होगा। यह युग वशिष्ट्य प्रदशन का है, प्रत्येक व्यक्ति किसी भी मूल्य पर मौलिकता का दावा पश कर रहा है अत सन्तुलन का अभाव अनिवाय है। मनुष्य के मन को विज्ञापनवादियो की प्रवृत्ति पर किसी भी प्रकार अपनी ओर खीच लेने की प्रवत्ति बढ जाने से ही वशिष्ट्य-प्रदशन की होड लगती है और सजन का काय "वात्स्यायन" की कला का पर्याय बन जाता है। अत वशिष्ट्य प्रदशनवादियो को उपयु क्त तथ्यो पर विचार करना चाहिए। विचित्र के सृजन म सन्तुलन न रहने पर, उपहासास्पद सृष्टि हो रही है और यह मान लिया गया है कि साहित्य म रागात्मकता का पर्याय है चित्तवृत्तियो का स्वतन्त्र प्रवाह और तटस्थता का अथ है एक विशेष रुचि के पाठको के लिए साहित्य सृजन। सामयिकता व शाश्वतता मे उच्चकोटि का कलाकार अन्तर केवल इस दृष्टि से मानता है कि वह सस्ते प्रचार को महत्व नही देता, किन्तु सामयिकता को शाश्वत बना देना ही वह मुख्य काय समझता है। युग सत्य से बचकर, उसे न समझ कर, साहित्य की सृष्टि नही हो सकती और न साहित्य मे प्राचीन सिद्धान्तो के विपरीत चला जा सकता है इसलिए नही कि वे प्राचीन है अत आदरणीय है, अपितु इसलिए कि उनम तथ्य है, वे विचारपूण हैं अपनी परिस्थिति म उन्हे हम किस रूप म स्वीकार करें, कसे उनका पुननवीकरण करें, यही हमारा काय है।

रस और राग की समस्या को सुलझाकर हम साहित्य सृष्टि मे बुद्धितत्व पर विचार करना चाहते है। प्रश्न यह है कि क्या सत्य

के लिए आवश्यक है, सत्य का कौन-सा रूप कला मे व्यक्त होता है और किस पद्धति पर, इस सम्बन्ध मे भी अनेक सिद्धात हैं। यूनानी विचारकों ने 'सम्भावित सत्य' की अभिव्यक्ति पर जोर दिया था। कला मे चित्रित परिस्थिति पूर्णतया वास्तविक हो, यह आवश्यक नही। परन्तु यह सम्भावित सत्य का सिद्धान्त कला की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। अत इसे हम यहां छोड सकते हैं। मुख्य प्रश्न यह है कि कला क्या किसी 'सत्य' को प्रेषणीय बनाती ही है? क्या उसके बिना कला का काय नही चल सकता? उत्तर है कि बुद्धि सत्य का दो प्रकार से कला म प्रयोग होता है, एक—राजनक्षणो म एक प्रकार की बौद्धिक जागरूकता के बिना, अभिव्यक्ति पागल का प्रलाप बन जाती है बुद्धि अभिव्यक्ति की सफलता का निर्णय देती चलती है, वह उक्ति मे मूर्तित विचार (आइडिया) या रूप की सार्थकता और निर्वाह के लिए भी कलाकार को प्रेरित करती है। बुद्धि सत्व का दूसरा रूप सृष्टि के उद्देश्य से सम्बन्धित है। अतत कलाकार क्या कहना चाहता है उसका सदेश क्या है, मात्र रूप चित्रण तो सवदा सम्भव नही अत साहित्य मे सत्य या सन्देश पर विचार करना पडता है। यहा सत्य के इसी रूप पर विचार करना है।

दार्शनिक के लिए सत्य निरपक्ष है, परन्तु मनोरजक तथ्य यह है कि यह निरपेक्ष सत्य भी युगानुरूप परिवर्तित होता है। उपनिषद् युग मे एक वग सत्य को निरपक्ष मानता था परन्तु शङ्कर के निरपक्ष सत्य पर युग का प्रभाव स्पष्ट है। यही निरपक्ष सत्य अरविन्द दशन मे दूसरे रूप मे स्वीकृत है। अत युग का प्रभाव थोडा बहुत विचार और कल्पना पर अवश्य पडता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि भले ही निरपक्ष सत्य की कल्पना पर युगानुरूप प्रभाव हो, परन्तु जड जगत के पीछे चेतनसत्ता की कल्पना के सम्बन्ध मे तो वही की भाति नही दिखाई पडती? इसका उत्तर यह है कि कार्य-कारण के सिद्धान्त से मनुष्य जब सृष्टि के पीछे किसी चेतन सत्ता की कल्पना करता है, तब एक तो इस सहज विश्वास के अनुसार कि अतत योजनाबद्ध जगत् के पीछे कोई नियामक होना ही चाहिए, दूसरे मनुष्य मे इतना धैय नही है कि वह तब तक प्रतीक्षा करे, जब तक विज्ञान द्वारा किसी चेतना तत्व की सत्ता सिद्ध या असिद्ध न हो जाय। तीसरे, वह यह भी नही सोच पाता कि निरपेक्षसत्य का विश्वास केवल परम्परागत संस्कार है और सस्कार दार्शनिक उसे प्रथम स्वीकार करके ही आगे चलते हैं। परीक्षा के बाद प्रतीति मे वे विश्वास नही करते। अत निरपेक्ष सत्य म सदैव सस्कारी मन विश्वास ही नहीं करता, वह उसे प्रमुख करने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न भी करता है, यही भ्रम है।

प्राचीन युगो से लेकर वर्तमान युग के पूव तक मनुष्य के ये दार्शनिक विश्वास व धार्मिक भावनाएँ उनको एक विशिष्ट प्रकार की सृष्टि करने मे प्रेरक रही ह । मध्य युग की सारी कलाएँ धार्मिक भावनाओ की अभिव्यक्तियाँ हैं । हमारे यहाँ दार्शनिको ने ही काव्य कला पर भी विचार किया है । अत कला का आनन्द भी उसी निरपेक्ष सत्य से प्राप्त आनन्द का ही सहोदर स्वीकृत हुआ है । वाल्मीकि स लेकर छायावाद तक दशन या धम के सत्य कला द्वारा व्यक्त होते रह हैं । यहा तक कि रीतिकाल मे भी लौकिक वासना का भी वणन उसी सत्य' क नाम पर किया गया ह । यह 'सत्य' चूकि नाना रूपो मे अवतरित होता ह अत उसकी विभिन्न छवियो, मुद्राओ, घटनाओ का चित्रण कला का प्रिय विषय रहा है । जो अवतारवादी नही हैं, वे मानवीय प्रेम भावना को भी उसी सत्य से जोड कर रहस्यवाद का वणन करते है । जो अवतारवादी हैं उनके लिये तो जसे कम रूप और विचारो के लिये विपुल क्षेत्र मिल गया है । इस अचिन्त्यसत्ता से माध्यम के सारे जीवन को अभिव्यक्त किया गया है । अत यह अचिन्त्यसत्ता जहाँ एक ओर पलायनवाद अन्ध विश्वास, भाग्यवाद तथा साम्प्रदायवाद का दृढ करन म मुख्य कारण है वहीं इसी के माध्यम से कलाकारो न अद्भुत रूप सृष्टि की है अनक मानवीय सत्यो का उद्घाटन किया है, जनता को अनेक बार इसी सत्ता के नाम पर क्रान्ति के पथ पर लाकर खडा कर दिया है, समाज विरोधी तत्वो व कुरीतियो का विरोध किया है, एक शब्द मे अचिन्त्य सत्ता अपने युग की क्रान्ति का भी माध्यम रही है । अत प्राचीन व मध्ययुगीन कला और कलाओ म ईश्वर और निरपेक्ष ब्रह्म के इन दोनो रूपो को हम देखना चाहिए । हिन्दी के भक्तियुग म ये दोनो रूप पूर्णत स्पष्ट रूप स देखे जा सकते ह । छायावाद म भी सामाजिक चेतना को मोडने मे इसी "अचिन्त्यसत्ता" का सहारा लिया गया था ।

छायावाद के बाद वैज्ञानिक चिन्तन स्पष्ट होता जा रहा है । विज्ञान और समाजदशन न अचिन्त्य सत्ता को जगत का मूल कारण न मानकर उसे मनुष्य की कल्पना सिद्ध कर दिया ह और शोषासन की स्थिति मे दृश्यमान सत्यो को अस्वीकार कर मनुष्य को यथाथ सामाजिक समस्याओ की ओर उन्मुख कर दिया है । सामाजिक समस्याओ का समाधान व वयक्तिक चेतना की शिक्षा साहित्य का मुख्य विषय बनता जा रहा है अत समस्याओ को पाठको के सम्मुख प्रस्तुत करन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसे यथाथवाद कहा जाता है । 'यथाथवाद' के पीछे मनुष्य को अधिक बुद्धिमान बनाने का प्रयत्न है । कल्पना के पीछे न दौड कर इसी जगत को सोचने, समझने और इसे

अधिक समृद्ध और सुखी बनाने का प्रयत्न ही यथार्थवाद का उद्देश्य है। अत आदर्श के आकाशगामी रूप आज पसन्द नही किये जाते न वयक्तिक कचियो का चित्रण आज आवश्यक माना जाता है।

अत आज के कलाकार के सम्मुख यह स्पष्ट होना चाहिए कि आज का युग सत्य क्या है ? आज कोई भी रचना केवल सौन्दय शास्त्रीय नियमो का पालन करके उच्चकोटि की कलाकृति नही बन सकती क्योंकि सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप और तथा वस्तु से होता है। रूप विन्यास के बिना जसे वस्तु, कला की सज्ञा नही पा सकती वैसे ही 'वस्तु' या सत्य की पहचान के बिना विन्यास आत्मा रहित शरीर के समान रह जाता है, वह प्रभावित नही करता। अत जब हम कहते हैं कि कला की आत्मा भाव है, व्यापार कल्पना है, तब प्रश्न होता है कि केवल प्रकृति के सुन्दर दृश्यो का ही वणन क्यो न कर परन्तु जसा कहा कि मात्र रूप-दर्शन अपर्याप्त है (यद्यपि वह भी आवश्यक है क्योंकि उससे ऐन्द्रिय जगत समृद्ध होता है) तब प्रश्न होता है कि अतत वह कौन-सा युग सत्य है जो उपेक्षणीय नही है। हमने देखा है कि मध्ययुग की तरह निरपेक्षसत्य कला का विषय बन कर मध्ययुग की पुनरावृत्ति करेगा और हम कबीर व तुलसी की तरह ब्रह्म से अपील करके सफल हो भी नही सकते अत आज कलाकार के लिये समाज का अध्ययन अनिवार्य सा हो गया है। समाज को तभी प्रभावित किया जा सकता है जब कलाकार समाज के अतमन को समझता हो, उसकी आवश्यकताओ से परिचित हो।

नाना रमणीय रूपो के सृजन और प्रेमगीतो का बहिष्कार हम नही चाहते साथ ही हम कलाकारो का समाजिक वास्तविकता से प्रति परिचित होना अनिवाय मानते हैं। अपने देश मे स्वतन्त्रता के पश्चात निर्माण का प्रश्न है परन्तु निमाण के पूव निर्भ्रान्त लक्ष्य होना चाहिए। फिर निर्माण कृत्रिम, सतही और रुक रुक कर भी हो सकता है। अत जनता के असन्तोष को, उसकी आशा आकाक्षाओ को भी व्यक्त करने की आवश्यकता है। निर्माण के लक्ष्य के रूप में कल्याणकारी राज्य की घोषणा हो चुकी है परन्तु वग विहीन राज्य की स्थापना बिना वग सम्बन्धो का समझे हुए हो नही सकती, क्योंकि कुछ वग प्रतिगामी और कुछ प्रगतिकामी होते हैं। फिर प्रतिगामी वग को या तो क्रान्ति के द्वारा नष्ट कर दिया जाय अथवा उस पर दबाव की दिन प्रति दिन वृद्धि होती जाय। इसके लिये भी साहित्य को सपष्ट होना पडेगा। जन कल्याण के लिये जनता की इन सच्ची समस्याओ का चित्रण अनिवाय है। परन्तु हमारे कवि शाश्वत मूल्यो की आराधना म तत्पर हैं, उपन्यासकारो म कितने हो लेखक मानवीय दुबलताओ को उत्तेजित करने मे ही आनन्द पाते हैं

और यौन समस्याओ को सुलभाने मे ही ध्यानावस्थित रहते हैं । वे सवम भ्रांति का शांति मानते हैं । उनकी समझ मे नही आता कि यौन समस्या भी समाज की मुख्य समस्याओ के साथ सम्बद्ध है । समाज मे परिवतन मुख्य बात है, उसके बिना सारे परिवतन मात्र सुधार हैं, सच्ची शांति नहीं । आर्थिक ढाचे को बदलने म जनता की चेतना को बदलने की आवश्यकता है । और साहित्यकार जनता की चेतना को यह मोड सहज ही दे सकता है । परन्तु हमारे कई कवि "यौन" वजनाओ से पीडित होकर पशु मुद्रा म अपने रुग्ण चित्त में मच पर आने वाली दमित मनोवृत्तियो के अभिनय को मूत करने म तत्पर है । वह यथाथ नही है जो दिशा निर्देश नही करता । यदि मानवीय चेतना आर्थिक अभाव व यौनवजनाओ से पीडित होकर साहित्य मे प्रकट होना चाहती है तो क्या यह आवश्यक नही है कि उनके कारणो का पता लगाया जाय और असामाजिक तत्वो के विरुद्ध सगठित प्रयत्न किया जाय ।

'युग-सत्य' का प्रश्न उपेक्षणीय नही है । "सामयिकता से बचो" यह नारा दो कारणो से सामने आया एक—उन प्रगतिशील लेखको की रचनाओ के कारण जो साहित्य को विज्ञापन के स्तर पर उतार लाए और जिनके समथको ने सौंदय शास्त्र के सामान्य नियमों की, अवहेलना की वे युग सत्य को समझ कर भी उसे सुदर नही बना पाये अयथा उसकी प्रतिक्रिया मे प्रतिगामी शक्तियो को यह कहने का अवसर न मिलता कि प्रगतिवाद मर गया है । दो—'शाश्वतवाद' के प्रचारक या तो प्राचीनतावादी हैं जिनका दृष्टिकोण गतानुगतिक है या घोर प्रतिक्रियावादी है । वस्तुत इन प्रतिगामियो ने ही 'शाश्वत वाद' का प्रचार अत्यधिक किया है । आज सभी देश भक्त शक्तियों के सगठन और "युग सत्य" पर विचार करने की सबसे अधिक आवश्यकता है । "युग सत्य" म इन तत्वो की स्वीकृति चाहिए—

१—जगत् और जीवन के सम्बध म अवज्ञानिक मायताओ का विरोध ।

२—वैषम्यहीन समाज की स्थापना के लिये मानम सम्बधो का अध्ययन ।

३—देश के निर्माण मे सहायता ।

४—प्राचीन सस्कृति व सिद्धान्तो का पुनर्नवीकरण ।

५—दृष्टिकोण को अधिकाधिक मानवीय बनाने का प्रयत्न ।

६—समाज की वस्तु स्थिति का चित्रण तथा अतर्विरोधो का उद्घाटन ।

—जन कल्याणकारी शक्तियो के सगठन व क्रियाशीलता की आवश्यकता ।

परम्परा के जीवित रूप

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात पश्चिमी योरोप में 'आदर्श भंग' और स्वप्नभंग की स्थिति उत्पन्न हुई, द्वितीय विश्वयुद्ध ने उस अधिक व्यापक बनाया अत पश्चिमी योरोप म इस प्रकार के ग्रन्थ प्रकाशित हुए, जिनमे पश्चिमी सभ्यता के पतन', ,'अंत'', 'ह्रास', समाप्ति', 'अवनति', 'मृत्यु' की चर्चा अधिक मिलती है।[1] ओस्वाल्ड स्पैंगुलर का 'पश्चिम का ह्रास''[2] इस उक्त प्रवृत्ति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। स्पैंगुलर ने वर्तमान पश्चिमी सभ्यता के ह्रास की कथा परम्परा के आधार पर कही है और उसने गढे म इस कथन को अपने चिंतन का प्रेरकतत्व माना है कि परमसत्य जीवित मे अथवा होने' तथा परिवर्तन' मे प्रभावशाली होता है विगत' और 'स्थिर' मे नही अतएव मानवीय विवेक 'होने' और 'जीवित' के माध्यम से ही पूर्णता की ओर उन्मुख होता है और इस क्रिया म विगत' और 'स्थिर' का वह उपयोग करता है।[3] स्पैंगुलर ने आधुनिक सभ्यता से दिग्भ्रमित होकर प्राचीन और मध्ययुगीन सभ्यताओ और संस्कृति को मनुष्य का विकास और आधुनिक सभ्यता को ह्रास की स्थिति स्वीकार किया है, परम्पराप्रियता का यह विस्मयजनक दृष्टान्त है। रोचक तथ्य यह है कि स्पैंगुलर ने पूर्व की सभ्यताओ का सम्मानित दृष्टि से देखा है। साहित्य के क्षेत्र मे टी० एस० इलियट योरोप की समाप्ति (Waste land) से मुक्ति का उपाय पुरानी 'ईसाई आस्था' मे पाते हैं, वह भारतवर्ष के 'गीता' और बौद्धमत' की ओर भी ललकभरी दृष्टि से देखते हैं।[4] अस्तित्ववाद काट, हीगेल और अन्य ज्ञान व्यवस्थितकर्त्ताओ के

---

1 Ideology and Utopia—Karl Mannheim Preface Louis Wirth, London 1963, I Edition

2 Decline of the west Page 13

3 The Godhead is effective in the living and not in the dead, in the becoming and the changing not in the become and set fast and therefore similarly the reason is concerned only to strive towords the divine through the becoming and the living and the understanding only to make use of the become and the set fast — The decline of the west, Vol I Page 19

4. फोर क्वारटेट्स

विरुद्ध या विवेकवाद के विरुद्ध, आतरिक आस्था विश्वास के आधार पर जन्मा, जिसम आगे नास्तिक अस्तित्ववादियो न विवेकवाद और सामूहिकतावादी (मार्क्सवाद) दार्शनिक विचारधाराओ का उग्र विरोध किया। कीर्केगार्द ने सत्य को 'आत्मगत अभिज्ञा' कहा था, अत वस्तुगत और विवेकगत आधार न रहने से सत्य' वैयक्तिक विषय बन गया, इसस अनिश्चयात्मक निश्चय वरणज-प्रदर्शन, सदेह, मृत्युबोध निरर्थकता बोध और आत्महत्या जसी धारणाओ और अनुभूतिया ने युद्ध जन्य परिस्थिति मे 'परम्परा' के प्रति निस्सग दृष्टिकोण का असम्भव बना दिया।

मार्क्स क द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद म परम्परा को ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर परखा गया। हीगेल के द्वन्द्ववाद को मूत स्थितियो के आधार पर प्रतिष्ठित करके मानवीय चेतना को यथार्थ का प्रतिबिम्ब माना गया। अर्थात अमूर्तचिंतन भौतिक शक्तियो का प्रतिबिम्ब प्रमाणित हुआ। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार वर्गहीन समाज मे जिस प्रकार पूजीवादी व्यवस्था का तकनीकीपक्ष तिरस्कृत नही होता उसी प्रकार 'परम्परा' क उपयोगी अश भी स्वीकृत होत हैं अत मार्क्सवाद का परम्परा के प्रति दृष्टिकोण न अतीत पूजक था न निषेधवादी। किन्तु विचार की "शुद्धता" न मानन, और चिंतन की पृष्ठभूमि मे "उद्देश्या", (Motives) की जान या अनजान म स्थिति सिद्ध करने के कारण (जीवशास्त्र, मनोविज्ञान, विकासवाद आदि की सहायता स) एवम् सामतवादी पूजीवादी सस्कृति, धर्म विधि, चिंतन और शोषण परक परिस्थिति म आधारभूत (Structural) सम्बन्ध स्थापित कर देन के कारण, अधिक परम्परावादी विचारको के लिये साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था म मार्क्स द्वारा घोषित 'कल्पित मनाराज्य' (यूटोपिया) की पूणता न होने के कारण, पश्चिमी जनतत्रो मे मार्क्सवादियो के कथन और कार्यों की असगतियो का वसा ही पर्दाफाश किया गया जसाकि मार्क्सवादियो ने पूजीवादी जनतत्रा का किया था (जो आज भी प्रचलित है) अत एशिया, अफ्रीका लातिन अमरीका[1] के देशा म परम्परा' सस्कृति, कला, व साहित्य के प्रति पश्चिम योरोपीय, अमरीकी या मार्क्सवादी दृष्टियाँ, समानान्तर अथवा मिश्रित रूप म प्रसारित हो रही है और परस्पर 'पर्दाफाशीकरण' के व्यापक प्रचार तथा दाना सभ्यताओ मे सामाजिक विज्ञानो और मानवीय विज्ञानो को

---

1 इन देशा म 'विकासवाद' को भी पूर्ण स्वीकृति नहीं मिल सकी, प्राटस्टट मत की प्रधानता ही रही।

पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त न होने के कारण[1] तथा इस सब के ऊपर तृतीय विश्व युद्ध की भीषण छाया मे, 'परम्परा', सस्कृति, कला और साहित्य पर विचार भी एक सदेहवाद से पीडित होता चला जा रहा है, और सदहवाद विनाश का कारण है, यह भारतीय परम्परा ने अनुभव से सीखा था। आद्रे जीद के एक उपन्यास मे एक पात्र कहता है कि सदेहवाद कभी वरेण्य नही रहा क्योकि यह असगतियो को "सहन" करना सिखाता है।[2]

इस 'सदेहवाद' से जहा अन्याय वषम्य-महत्शक्ति का दुष्ट विकास होता है, वही इससे एक लाभ भी यह हुआ कि हम किसी विचार या व्याख्या को अपनाने के पूर्व अधिक सावधान और सूक्ष्म बनते है, सतही पक्षधरता के स्थान पर समृद्धपक्षधरता विकसित होती है।

सदेह युग मे 'परम्परा' क्या है, उसके मृत और जीवित रूप क्या हैं, यह भी विवादस्पद हो उठता है। किस आधार पर हम इन धारणाओ का विवेचन कर? केवल एक ही विषय शकास्पद नही है कि हम मनुष्य है, कि हम आत्यतिक दृष्टि से असहमतिया म जी कर भी, स्वत प्रमाणित है कि हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व है और सभी खतरो उलझनो तथा दिग्भ्रमो के बावजूद मनुष्य की जिजीविषा पर्याप्त प्रबल है,[3] जीवन की

---

1 It is virtually impossible for instance even in England and America to inquire in to the actual facts regarding communism, no matter how disinterestedly without running the risk of being labelled a communist these subjects are still for the most part subsvemed under what the Japanese call kikenshiso or dangerous thoughts —Preface, Ideology and Utopia, XVII

2 Scepticism has never been very good one knows for that matter where it leads—to tolerance ! I consider sceptic people without imagination without ideals, fools —(The coiners—Andre Gide, 354

3 Unamuno related that when he was young he was shown a picture of hell but did not impress him very much, and it seemed to be preferable to complete oblivion and extinction—A History of Philosophy Mayer 597

निरर्थकता, उसके अस्तित्व की प्रयोजनहीनता और ब्रह्माण्ड मे मनुष्य की स्थिति की असहायता के तीव्रतम बोधप्राप्तकर्ता भी जी रहे हैं, स्वतन्त्रता, प्रतिबद्धता और नवीन मानव मूल्यो के अनुसधान मे रत है,[1] यह एक आशाजनक प्रवृत्ति है। काल कडाह मे रधित होने पर भी मनुष्य जीना चाहता है, युधिष्ठिर को यह देखकर 'द्वापर' (मदह युग) मे जो विस्मय हुआ था, वह मृत्यु बोध पर जीवन प्रियता की विजय की स्वीकृति थी और वह सत्य आज भी जीवत सत्य है।

अत जिजीविषा हमारे चिंतन का उद्देश्य और अवलम्ब बन सकती है। जिजीविषा जीवो मे परिस्थिति के प्रति अनुकूलीकरण उत्पन्न करती है, और उक्त मानव-परिस्थिति मे ही हम परम्परा से प्रेरणा ले सकते हैं। अत परम्परा के जीवत रूपो का अध्ययन सन्दर्भगत (Situational) ही हो सकता है।

मध्ययुगो तक सामाजिक व्यवस्था अधिक परम्परायुक्त रहती है किन्तु तकनीकी विकास के कारण आर्थिक क्षेत्र म औद्योगिक क्रांति के पश्चात् 'परम्परा' का वह अश अस्वीकृत होन लगता है जो पिछडी हुई उत्पादन विनिमय व्यवस्था को याय सगत सिद्ध करता था किन्तु आर्थिक और वैज्ञानिक क्षेत्रा मे परम्परा की यह समाप्ति समाज विज्ञान और मानव विज्ञान के क्षेत्र में उस सीमा तक नही दिखायी पडती राजनीति शास्त्र, विधि शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र, नीति शास्त्र और मूल्य मीमासा मे ग्रीक रोमन विचारको और भारत मे वेद, उपनिषद्, पुराण, नागार्जुन, शकर, भरत, कौटिल्य, अभिनवगुप्त आदि का आज भी उपयोग है।

इसका कारण है, मनुष्य द्वारा मनुष्य क सवसामान्य, आयामो का निरीक्षण, मानवीय सम्बन्धो के गभीर अध्ययन म एक सीमा तक तटस्थता निर्वाह

1 ज्यो पाल सात्र के "अस्तित्ववाद और मानवतावाद", उनामूनो के The tragic sense of life म दायित्वपूर्ण चिंतन और मूल्यो का विकास — We should welcome suffering and anguish, for, through pain, we become more conscious of the tragic sense of life and of the limitations of our existence Such suffering develops a spirit of compassion, makes all men our brothers and shows us that mere reason is not adequate but that we need faith to sustain our heart .0S वही)

को मानवीय शक्ति और प्राचीन सभ्यताओं में अनेक प्रकार की जीवन स्थितियों और घटनाओं के घटित होने और उनसे जूझकर निकलने वाली मानवीय चेतना की क्रमशः विकसित अन्तर्दृष्टि तथा घटनाओं की पुनरावृत्ति।[१] प्राचीन सभ्यताओं के पास इसीलिये मानवीय अनुभवों की एक विराट राशि होती है जो भविष्य में भी उपयोगी होती है क्योंकि आर्थिक और तकनीकी मानव "मूलजवीमानव" को एक ही आघात में नहीं बदल सकता। इसके सिवा 'आधुनिक' कहे जाने वाले 'मनुष्य' की चेतना की ऊपरी सतह ही आधुनिक हो पाती है क्योंकि उसका 'अवचेतन' परम्पराग्रस्त होता है। यह 'सामूहिक अवचेतन' शताब्दियों की अवधि में किसी देश और जातिगत चेतना का 'स्थायी' अंश बन जाता है और वह उसके लिये 'सहज', सुरक्षादायक और निजत्वपूर्ण प्रतीत होता है। इस सामूहिक अवचेतन में पूर्वजों के कृतित्व, आस्थाओं के प्रतीक, सौन्दर्यबोधों के रूप, जीवन विधियाँ और अन्य अनेक प्रकार के आदर्श स्वभावगत हो जाते हैं। निर्माण और संकटकाल में दल इसी अवचेतनमानस का प्रयोग करते हैं। साम्यवादी देशों में भी साधारण जनता के इस "सामूहिक अवचेतन" का कुशल प्रयोग किया जाता है और जनतन्त्रों में तो अबौद्धिक वफादारियों और आस्थाओं की रक्षा के लिये विशेष उपाय भी किये जाते हैं, यद्यपि उनके बौद्धिक विवेचन और विवेकपूर्ण समीकरण के उपाय भी प्रचलित रहते हैं।

इस प्रकार मनुष्य के बौद्धिक और अबौद्धिक दोनों स्तरों पर परम्परा दूधनीरवत मिली रहती है। परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्वात्मक, संघर्ष, एक दीर्घकालीन संघर्ष और समन्विति बन जाता है।

विज्ञान और उक्त सामूहिक अवचेतन का विरोध, इधर आधुनिकता की विशेषता होती जा रही है किन्तु विज्ञान की बहिर्मुखता और मानव चेतना के 'आत्मगत तत्व' में पुनः असंगति उत्पन्न हो जाती है। आत्मगति या अन्तर्मुखता के क्षेत्र में विज्ञान सभी प्रश्नों का पूर्ण समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाता, अतएव परम्परा में पूर्वजों की अन्तरावलोकन पद्धति पर प्राप्त अनुभूतियाँ और अन्तर्दृष्टियाँ संस्कृति के क्षेत्र में पथप्रदर्शक प्रमाणित होती रहती हैं। कभी वे चुनौतियों का रूप धारण करती हैं और कभी समाधान प्राप्ति में सहायक तत्वों

---

१ इतिहास में मूल मानवीय समस्याओं की निरंतरता के अतिरिक्त घटनाओं की पुनरावृत्ति भी, मात्रात्मक अन्तर के साथ अवश्य होती रहती है। प्रकृति से संघर्ष एक निरंतर प्रक्रिया है युद्ध विप्लव विरोध, समीकरण आदि इसके प्रमाण हैं।

था। भारत म तो अभी तक इतिहास के प्राय सभी विगत युग समसामयिक हैं[1]। यहाँ आरण्यक, अटनशील, क्बीलाई, सामन्ती व्यवस्थाएँ अभी भी मिलती हैं अत शिक्षित वग के भी एक 'अति प्रबुद्ध' समह का छोडकर[2] यहाँ परम्परा का प्रबल दबाव मिलता है, यहा तक कि भारतीय सस्कृति के नाम पर, यहाँ प्राय प्रत्यक प्रकार के विश्वास और रीति का समथन हाता है। इसके सिवा इस देश म ग्रामो का बहुमत ह जहा भारतीय परम्परा अपन सुहृत विकृत रूपो म प्रतिष्ठित है। ग्राम चेतना परम्परा म सुरक्षा अनुभव करती है और जडता की स्थिति म रहकर भी वह अपनी विशिष्टता की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहती है। इतिहास म आक्रमणो क समय जननेताओ न साधारण जनता की इसी परम्परा प्रियता को उत्तेजित कर अपने आस पास लक्ष्मण रेखा खीचकर सुरक्षा का भावना दृढ की है। दसवी शताब्दी के बाद भारतीय जीवन विधि पर प्रहार हान पर, यह सकीणता भारतीय सस्कृति के नाम पर बराबर बढी है या सतो, भक्तो के आन्दालनो न इसे काफी उदार बनाया है, पर वह उदारता साधना और भक्ति तथा कला के क्षेत्र म ही अधिक रही है जाति, आचार, आस्थाप्रतीक, तथा रोटी-बेटी के क्षेत्र मे नही अत विज्ञान आर मानव न्याय के आन्दोलन अभी चेतना की सतह को ही प्रिय लगत हैं, अनुभूतियो, सवेदनाओ और विचारो तक ही वे स्वीकाय हा सके हैं, पुरान सस्कार, पूवाग्रह पक्षपात, आचार और जातिगत सम्बन्ध अभी तक स्थित है, बल्कि विभिन्न जातियाँ आजादी के बाद अपने म पूव से अधिक जाति जागरूक

---

१ Whatever chronology might say Thucydides world and my world had now proved to be philosophically contemporary—Arnold Toynbee—Theories of History

Edited by
P Gardiner
(U S A)

२ साधारण जनता के अनेक समूहो से लम्बाकार (Vertical) गति से, बुद्धि जीवियो के आगमन होने पर उन समूहो से प्राप्त 'सामूहिक अवचेतन' बुद्धिवादियो का अबौद्धिक चेतनांग बनता है जिसका विनयन और विगलन एक दीर्घ और कष्ट साध्य क्रिया है।

हो गई है। भारतवर्ष की इस प्रहेलिकापरक स्थिति को देखकर और एक बार पुन राष्ट्रीय विघटन के भय से, अमेरिका के जनतन्त्र प्रेमी भी चिन्तित है। "भारत वर्ष की खतरनाक दशाब्दिया" जसी अनेक पुस्तको का यही विषय बन गया है।[1]

अतएव सार्वभौम वैज्ञानिक शिक्षा, पूर्ण तकनीकी विकास द्वारा शारीरिक और मानसिक श्रम का अन्तर विनाश तथा मानव न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के पूर्व अनवरत रूप से परम्परा की परिस्थिति सापेक्ष पुनर्व्याख्या आवश्यक है। और वस्तु स्थिति यह है कि इसके बाद भी मानव जीवन को, सतत जागरूक रखने के लिए, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे मूल्य अनुसधान के लिए परम्परा से जीवन्त रूपो का दोहन करते रहना होगा। सौभाग्यवश इस देश मे पुनर्व्याख्या की भी एक जीवन्त परम्परा है। इतिहास, पुराण, साहित्य, दर्शन और कला ही नही, धर्म और गृह्य सूत्रो की देशकालानुसार व्याख्याएँ यहा स्वीकृत रही है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि इतिहास-पुराणो से अर्थात पुनर्व्याख्याओ से अनभिज्ञ व्यक्ति से वेद भयभीत रहते है कि कही ऐसा अनाडी व्यक्ति मुझ पर प्रहार न कर दे।[2] धर्म का यहाँ एक धर्म निरपेक्ष secular) रूप भी है जो जनअभ्युदय और सफल लोक यात्रा से सम्बन्धित रहा है। धर्म का यह रूप न्यून या व्यवस्था विशेष से सम्बन्धित नही है, अपितु यह सार्वकालिक धारणा है, जिसमे मनुष्य मात्र का हित और अभ्युदय ही अभीष्ट है।[3]

इसी प्रकार भारतीय मूल्य मीमासा भी मानव हित पर आधारित की गई है, अहिंसा सत्य, दया, आदि मानव मूल्य मनुष्य के चरम आदर्श हैं किन्तु जीवन मे इनका चरम प्रयोग सभव नही है अत नीति, अनीति, पाप, पुण्य,

1 India, the most dangerous decades--Harrison

२ इतिहास पुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्
बिभेत्यल्प श्रुताद वेदो, मामय प्रहरिष्यति। महाभारत, गीताप्रेस,
१९५५ ई० जिल्द १, वर्ष १, आदिपर्व श्लोक २६८

३ अ–सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वय गतिम्–आदिपर्व
प्रथम अध्याय
ब–सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य, बहुशाख्या ह्यनन्तिका–आदिपर्व
स–धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजा
यत स्याद् धारणसयुक्त स धर्म इति निश्चय–कर्णपर्व
द–न्यायाधर्मवद् धर्म प्रवचन कृतम्–शान्तिपर्व

हिंसा-अहिंसा के द्वन्द्व उपस्थित होने पर 'मानवहित'[1] को ध्यान में रखकर ही निर्णय सम्भव है, गीता में हिंसा और अहिंसा पर विचार परिस्थिति सापेक्ष है, निष्काम कर्म योग में व्यर्थ हिंसा अथवा अन्यायपूर्ण हिंसा न होकर अन्याय विरोध के लिए दुर्योधनादि का वध गीता में उचित ठहराया गया है किन्तु यहाँ भी सर्वसंहारक अस्त्रों के प्रश्न पर दोनों पक्षों में सहमति प्राप्त कर ली गई थी अन्यथा कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र न कहलाकर सर्वसंहारक युद्ध के कारण अधर्म क्षेत्र कहलाता, अतः आज के तृतीय विश्व युद्ध के सन्दर्भ में भी भारतीय परम्परा के पास जीवन्त सुझाव हैं।

इसी प्रकार वेद की पुनर्व्याख्याओं में सर्वाधिक यथार्थवादी और जीवन वास्तविकताओं के सन्दर्भ में सिद्धान्तों और मूल्यों पर विचार करने वाला महाभारत पुराण बावजूद परस्पर विरोधी कथनों तथा ब्राह्मणवादी वर्ग स्वार्थ के, 'मानव प्रेम' और यथार्थपरक मूल्य मीमांसा का बहुमूल्य सन्दर्भ ग्रन्थ है, महाभारत में जन्म से जातिवाद का विरोध,[2] प्रारब्ध से पुरुषार्थ की श्रेष्ठता[3] दैन्य और पलायन का विरोध, वेदों की अपूर्णता की स्वीकृति[4] वर्ण वर्गहीन आदिम साम्यवाद की स्वीकृति[5] मानव द्वारा मानव के दासत्व का विरोध,[6] आदि इनकी जीवन्त धारणाएँ और मूल्य हैं।

महाभारत वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों की पुनर्व्याख्या है, अतः उसका प्रथम उल्लेख किया गया। आधुनिक युग में वेदों की प्रबल प्राणवत्ता जीवन से प्रेम, ब्राह्मण ग्रन्थों में जीवन की व्याख्याएँ और प्रतीकों का सृजन, उपनिषदों द्वारा उच्चादर्शों के लिए नचिकेताओं का चित्रण, बुद्ध द्वारा रूढ़ि, व्यर्थ हिंसा, अतिवाद, जातिवाद, औरब्राह्मण पौरोहित्य का विरोध, जैन धर्म द्वारा

---

१ यद् भूतहितमत्यन्त तत् सत्यमिति धारणा
विपर्ययकृतोऽधर्म पश्य धर्मस्य लक्षणम्—आदिपर्व

२ (अ) जातिरत्र महासर्प, मनुष्यत्वे महामते
संकरात सर्ववर्णाना दुष्परीक्ष्येति मे मति —वनपर्व
(ब) द्रष्टव्य अनुशासन पर्व–श्लोक १४३–५०

३ शांतिपर्व,

४ श्रुति धर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जना
न च तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते—शांतिपर्व

५ न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्वं ब्राह्ममिद जगत्—शांतिपर्व

६ पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्ता न संशय
मनुष्या मानुषरेव दासत्वमुपपादिता —शांतिपर्व

दया, सयम और अनुशासन का प्रचार—य सब परम्परा के जीवन्त रुप हैं जो इस देश का ही नही अन्य देशो का भी पशु जीवो से उच्च जीवन की ओर प्रेरित करते रहेंगे।

दर्शन के क्षेत्र में जिस प्रकार प्रौढ दार्शनिको के विचार रक्तबीज योरोप के आदर्शवादी भौतिकवादी विचारको के लिये प्रेरक प्रमाणित हुए, उसी प्रकार अस्तित्ववाद में आस्तिको पर हमारे मर्मी सन्तो का प्रभाव पड़ा है। भारतीय पुनर्जागरण के युग में उपनिषदो के अद्वैतवाद ने तथा शकर और सन्त वष्णवो राममोहनराय रामकृष्ण, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पन्त, निराला, प्रसाद महादेवी को प्रभावित किया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का द्वन्द्ववाद प्रौढ दार्शनिक हिराक्लिटस[1] और हीगेल के चिन्तन की मार्क्सवादी परिणति है। क्रोचे का दर्शन बौद्ध विज्ञानवाद और अस्तित्ववाद, स्वय प्रकाश्य ज्ञानवाद तथा अनुभूतिवादी चिन्तको की परम्परा की पुनर्व्याख्या है। भारत के दर्शन मे मनोविज्ञान की महत्वपूर्ण सामग्री है। न्याय वैशेषिक, लोकायत, साख्य, आगम और वेदान्त आदि परम्पराओ में अभिद्ध धारणाओं के अतिरिक्त, नीति शास्त्र और मूल्य मीमासा तथा भाषा विज्ञान के लिये पुष्कल उपकरण हैं।

साहित्य में मध्य युगो तक, परम्परा की पुनर्व्याख्या द्वारा ही हिन्दू-मुस्लिम सघर्ष और समीकरण के सदर्भ में सौन्दर्य की सृष्टि हुई। सिद्ध नाथ सन्त परम्परा अत्यन्त अधिक क्रान्तिकारिणी थी किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के अभाव में, उनकी उग्रता और प्रखरता, आगे चलकर, साम्प्रदायिक साहित्य में कुण्ठित हो गई। भारतीय सभ्यता ने परम्परा की पुनर्व्याख्या करके सकटकाल मे आत्मरक्षा की है यह प्रवृत्ति अग्रेजी राज्य में और भी स्पष्ट रूप मे व्यक्त हुई। पुनर्जागरण और पुनरुत्थानवाद, साहित्य मे योरोपीय प्रविधियो और भारतीय साहित्यिक शलियो के मिश्रण तथा योरोपीय दृष्टि को भारतीय चेतना वृत्त मे ही ग्रहण करने की प्रवृत्ति में छायावाद तक का साहित्य परम्परा से सर्वथा विलग नही दिखाई पड़ता। जिस प्रकार मध्य युगो में प्राचीन मूल्य प्रतीको की पुनर्व्याख्या हुई थी,[2] उसी प्रकार आधुनिक युग में भी प्रिय प्रवास, साकेत राम की शक्ति पूजा कामायनी, दीपशिखा, हिमकिरीटनी, आदि में परम्परा से ही नवप्रेरणाएँ ली गई। योरोप के रोमानी काव्य से, अभिव्यक्ति के नये रूपो की वहा में एक परम्परा ही बन चुकी थी किन्तु

---

१ History of Modern Philosophy—Mayer Page 435

२ रामचरित मानस सूरसागर,

यहाँ वह सवथा नवीन प्रतीत हुई, प्रसाद जी ने इस नवीन 'लाक्षणिकता' को प्राचीन शब्द शक्तियो और वक्रोक्तिवाद के आधार पर ही विवचित किया है।[1] इस सन्दभ म यह भी स्मरणीय है कि योरोप के रोमांटिक काव्य के कथ्य की 'सववादी' दाशनिकता पर—विशेषकर जमनी मे—भारतीय सववाद का पर्याप्त प्रभाव पडा था।[2] फिर भी छायावाद युग तक के साहित्य न पश्चिमी योरोप के जनतन्त्रात्मक नव मानव मूल्यो का स्वीकार किया आर द्विवेदी युग ने दृढता के साथ रीतिकालीन परम्परा से अपन को मुक्त किया। इस प्रकार यहाँ भी द्रष्टव्य यह है कि नये तनावा की स्थिति म भारतीय परम्परा का एक रूप तिरस्कृत होता है तो उसके किसी अ य शुभ पक्ष का पुनरुद्धार कर लिया जाता है—रीतिकालीन सौंदय बोध और मूल्या के स्थान पर, आधुनिक युग ने उपनिषदो, आगमो और वेदान्त से अधिक प्रेरणा ली ह किन्तु उस रूप मे नही, जिस रूप मे उन्हे मध्य युगीन दाशनिको और कवियो न व्याख्यायित और रूपायित किया था।

प्रगतिवादी दशन के क्रान्तिकारी साहित्य मे भारतीय परम्परा क शुभ मूल्यो का कभी निषध नही हुआ। कथा, काव्य और आलोचना म भारतीय जनता के मन मे स्थायी रूप स स्थित आशावाद पाप पर पुण्य की अतिम विजय, सघष करन की अदम्य शक्ति तथा "शोक श्लोकत्वमागत" की मानवतावादी साहित्यिक धारा को, मुक्त रूप म अपनाया गया। किन्तु प्रगतिवाद ने सवप्रथम भारतीय परम्परा के जडताग्रस्त अधविश्वासात्मक और वषम्य समथक, कमवादी, भाग्यवादी, पुनजन्मवादी, परमसत्तावादी, मरणोन्मुख रूपो पर उग्र प्रहार किये, एक नवीन मानव मूर्ति की प्रतिष्ठा के प्रयत्न मे परम्परा की पुनर्व्याख्या का प्रयत्न भी किया गया, जो अब तक प्रचलित है। फिर भी प्रगतिवाद मे कवियो, कथाकारो मे अधिकाशत विशुद्ध क्रान्तिकारी नही थे, पन्त जी के युगान्त, युगवाणी, प्रेमचन्द जी क 'गोदान' क पूव के उपन्यासो, प्रसाद जी के ककाल ओर तितली और नाटको मे भारतीय आदशवाद और

---

१ काव्य कला और अन्य निबन्ध

2 Among the intellectual excitements of the nineteenth century was the rediscovery of Indian thought which was congenial especially to German Romantics and American Transcendentalists —The Uses of the Past-

Herbert J Muller
1954, New york, Page 313

यथार्थवादी प्रभावों के रंग रूपों मिले जुले रूप में ही हैं उन्हें तिलतंदुलवत साफ तौर पर देखा जा सकता है। चूंकि आलोचना में 'अवचेतन' पर अपेक्षाकृत अधिक सरलता से विजय प्राप्त की जा सकती है अतः प्रगतिवादी आलोचना के 'सैद्धान्तिक पक्ष' पर अधिक मतैक्य दिखाई पड़ा किन्तु मार्क्सवाद के निकष पर भारतीय साहित्य की परीक्षा में उग्र मतभेद, प्रगतिवादी आलोचना की विशेषता है, संस्कृति की व्याख्या में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, साहित्य में यह विवाद वस्तुतः परम्परा के जीवन्त रूपों के अनुसंधान का प्रयत्न है। प्रो० हबीब द्वारा इलियट और डाउसन के इतिहास की भूमिका, प्रो० कोशाम्बी का भारत का इतिहास,[१] राहुल, रांगेयराघव, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि द्वारा भारतीय इतिहास, संस्कृति और साहित्य की पुनर्व्याख्याओं में तीव्र मतभेद यह प्रमाणित करता है कि 'परम्परा' के जीवन्त रूपों की शोध का प्रश्न शीघ्र समाधानित प्रश्न नहीं है और इस विषय पर बहस के रूप भी सर्वदा जीवन्त रहेंगे। एक ही दृष्टि से परम्परा से प्रेरणा ग्रहण और पुनर्मूल्यांकन के इन प्रयत्नों में वविध्य के मूल में, लेखकों की मानसिक रचना पर परम्परा के कुलक्रमागत, जातिगत, धर्मगत, भाषागत और संस्कारगत विभिन्न रूपों के उत्तराधिकारों का ज्ञात-अज्ञात प्रभाव प्रमाणित होता है और प्रगतिवादी साहित्य की उपलब्धि का कारण भी वस्तुतः यही है।

प्रायः साहित्य में पूर्व साहित्यिक परम्पराओं के निषेध द्वारा 'नवीनता' की सृष्टि प्रारम्भ होती है। प्रयोगवादी कविता में छन्दमुक्ति और वर्जनाओं की अभिव्यंजना द्वारा और मनोविश्लेषण परक उपन्यासों में अवचेतन के उद्घाटन द्वारा यह निषेध सम्मुख आया। नयी कविता में यह परम्परा निषेध-सर्वाधिक तीव्र रूप में व्यक्त हुआ है। काव्य और कथा में, अत्याधुनिक लेखकों में इस निषेध बोध ने वर्ण्य विषयों, छन्द, भाषा, बिम्ब और विषय निर्वाह में अद्भुत विप्लव उपस्थित किया। काव्य में 'अकविता', 'विद्रोही कविता', 'ताजी कविता', और कथा में 'अकथा' जैसे शब्दों के प्रयोग, परम्परा के प्रति विप्लव के साक्षी हैं। पिछले बीस पच्चीस वर्षों में हिन्दी में 'स्वीकृति' से अधिक 'अस्वीकृति' का साहित्य अधिक लिखा गया है। सत्य के सर्वसहमत तत्वों, भाव के सार्वजनिक स्पन्दनों और संवेदनाओं के सर्वस्पर्शकारी रूपों के स्थान पर, *आत्मगत पद्धति पर क्षणवाद'* और 'निजमूल्यानुसन्धान' की प्रवृत्ति ने

१ An Introduction to Indian History
—D D Koshambi

परम्परागत मूल्यों और अभिव्यक्ति रूपों को हतप्रभ कर दिया है, असहमति और शीघ्र परिवर्तन, रुचि का उत्थान पतन, और कथन भंगिमा में नित्य नवीन प्रयोग अत्याधुनिकता की विशेषता है।

किन्तु यह समझना गलत होगा कि अत्याधुनिक साहित्य में कोई परम्परा नहीं है। जसा कि कहा जा चुका है, परम्परा, चेतना के गहन स्तरों में स्थित रूप इच्छा शक्तियों और दृष्टियों पर भीतर का अज्ञात प्रभाव डालती हैं। दूसरे, प्रेषणीयता के प्रश्न ने परम्परा से प्रतीकों को ग्रहण करने पर लेखकों को विवश किया है। सवप्रथम द्रष्टव्य यह है कि अत्याधुनिक साहित्य पर पश्चिमी योरोप अमेरिका के चिंतन और प्रयोगों का अत्यधिक प्रभाव है, साम्यवाद से प्रभावित शिविरों म दृष्टि क्रांतिमूलक है अत वहाँ अत्याधुनिकता अधिकतम क्रांति की आवश्यकता प्रदशन क लिए प्रयुक्त हुई है जसे मुक्तिबोध, शमशेर, केदार और त्रिलोचन में। अज्ञेय में यद्यपि इधर भारतीय "विराट" के स्वर पुन बोलने लगे हैं, फिर भी अज्ञेय ने पश्चिमी योरोप की दृष्टियों से तत्य को सत्य बनाकर देखने की परम्परा का अधिक प्रयोग किया है। धमवीर भारती के अधायुग" और "कनुप्रिया" में महाभारत की ओर भागवत म राधा की पुनर्व्याख्याएँ हैं। "संशय की एक रात" में नरेश मेहता ने राम को अस्तित्ववादी के रूप में प्रस्तुत किया है, देवराज की "उसकी न कहो" और 'इतिहास पुरुष" में सांस्कृतिक चेतना को आधुनिक सदभ में व्यक्त किया गया है। इस प्रकार परम्परा का स्वगत प्रयोग अत्याधुनिक साहित्य की भी विशेषता है। कथा के क्षेत्र में भी सदेह सक्रान्ति बोधों की ही प्रवृति है किन्तु यहाँ भी मूलदृष्टि के आधार पर ही इस सक्रान्ति बोध को वाणी मिली है उदाहरणत प्रगतिवाद से प्रभावित राजेन्द्रयादव, मोहन राकेश कमलेश्वर मार्कण्डेय शिवप्रसादसिंह के स्वर ',परिमल" समूह के लेखकों के स्वर से भिन्न है।

इस अत्याधुनिक साहित्य के विषय में यह ध्यातव्य है कि लेखकों के व्यक्तित्वों और सृजन में पूर्ण सगति नहीं है मुक्तिबोध, आलोचना और काव्य में एक सीमा तक दो प्रकार के मुक्तिबोध हैं काव्य में अ तरावलोकन पद्धति और अनुभूतियों क साक्षात्कार में भारतीय परम्परा ने भीतर से अपना जोर दिखाया है अत मूल भारतीय प्रवृत्ति ने भीतर से कवियों लेखकों को प्रभावित किया है अत भारतीय परम्परा के सार मानवप्रेम और छायावाद के सवे-गात्मक पक्ष से बहुत कम रचनाएँ बच सकी है। सब कुछ एब्सड है, निरथक है, की धुन में ऐसीबहुत कम रचनाएँ है जो इन दोषों का सफलता के साथ व्यक्त

कर पाई हैं क्योंकि भारतीय परम्परा म काव्य साहित्य और धनात्मक दर्शना ने शताब्दियो तक अज्ञानवादियो, उत्तरदायित्वहीन वैराग्यवाद, निरर्थकतावाद के विरुद्ध संघर्ष किया है, शायद परम्परा का यही घनीभूत रूप रचनाकारो के अतर्मानस मे बैठ कर उन्हे परम्परा से अधिक विलग नही होने देता ।

प्रयोजनहीनता और निषेध वर्तमान दुर्गति और व्यक्ति की विसंगति के सूचक है किन्तु अद्याधुनिक साहित्य परस्पर अविरोधी—विरोधी दृष्टियो और संवेदनाओ का आवर्त बनता जा रहा है। नवतावाद के पुरोधा अज्ञेय 'के इत्यलम और 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए' की रचनाओ मे दृष्टिगत अंतर है। 'इत्यलम' मे क्षणवाद उतना नही है, जितना "इन्द्रधनुष रौंदे हुए मे।[1] यह स्मरणीय है कि विचार की दृष्टि से यह क्षणवाद भी भारतीय परम्परा के लिए कोई अपरिचित चेतना सिद्धान्त नही है। 'आंगन के पार द्वार' मे एक रहस्यवाद की आहट सुनाई पडने लगती है जो आयु का अनुरोध है अथवा वस्तुगत चिंतन के निषेध की स्वाभाविक परिणति है।[2] ' सुनहरे शैवाल" म भावात्मक चित्तवृत्तियो की अभिव्यक्ति पुन मिलने लगी हैं, अत अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' म रोमानी तत्व और विश्वदर्शनवददर्शन एक साथ हैं, और 'अपने अपने अजनबी' का मृत्युबोध और इधर का नवरहस्यवाद भारोपीय परम्पराओ की प्रतिध्वनियो से सन्निविष्ट है।

वस्तुत अद्याधुनिक साहित्यस्रष्टाओ के आगत्य वक्तव्यो और सृष्टि मे सर्वत्र संगति न रह पाना स्वाभाविक है क्योंकि हमारे परम्परागत संस्कार प्रासंगिक रचना के अंग हैं, यह भीतर से अज्ञात रूप म अभीप्साओ विश्वासस्वप्नो और अतृप्तिया अवसादो म व्यक्त होते रहते है। सूर्योदयी कविता [3] और 'सचेतन" कहानी तो विधिपरक तत्वो से समन्वित है ही किन्तु 'संक्रात" [4]

१ इत्यलम् मे सारी भारतमाता है यह देखकर हिन्दी को एक क्षणिक आघात लगता है इन्द्रधनु रौंदे हुए म क्षणवाद वृद्धि पर है—

एक क्षण क्षण म प्रवहमान व्याप्त सम्पूर्णता
इससे कदापि बडा नही था महाम्बुधि जो पिया था अगस्त मे।
आज क इस विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें आत्मसात कर लें।

२ 'महाशून्य वह महामौन अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित अप्रमेय, जो शब्दहीन सब म गाता है —' आंगन के पारद्वार'

३ भारती (बम्बई) म प्रकाशित अनेक कविताएं

४ कैलाश वाजपेयी

जसे सग्रह जो सीधे सत्रातिबोध के उद्बोधक काव्य हैं, उनमे भी विरोध का रूप भारत की विद्रोहिणी चेतना की ही आधुनिक शृ खला जान पडती है। कबीर के पास आस्था का अवलम्ब था परन्तु उसका विद्रोह व्यापक विद्रोह था जिसमे अस्वीकृति भी कम नही थी, किन्तु स्वतन्त्रता के बाद का स्वप्न भग (Disillusionment) सृष्टाओ को इस रस के लिए विवश करता है कि वे "पूर्णनिराशा" पूर्णसदेह पूर्णअविश्वास और पूर्ण अस्वीकृति को एक जीवन-दर्शन के रूप मे अपनाकर आत्ममग्न हो जाएँ वे इस विधि द्वारा कथनी और करनी की एकता की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, जो भारतीय परम्परा की सबसे बडी दुबलता रही है। नवसाहित्य की उत्तरदायित्वहीन घोषणाएँ अपने को प्रतिष्ठित करने की इच्छा, पश्चिमी योरोप के निराशावादी दर्शन की स्वीकृति तथा ध्यानाकर्षण के इरादा के बावजूद आज के क्रोधित नवयुवक की कलागत सक्रियता यह साबित करती है कि वे परिस्थितियो से असतुष्ट हैं। असतोष की दिशाहीनता यह साबित नही करती कि असतोष का अभाव है दिशाहीनता इसलिए है कि मध्यवर्गीय अहकार और महत्वाकांक्षाएँ अत्याधुनिको को भी उनकी अपनी करनी और कथनी मे सगति के लिए प्रयत्न से रोकती है और प्रयत्न के लिए किसी स्तर पर सहमति और सगठन अनिवार्य तत्व है। दिशाहीन विद्रोह से हानि यह होती है कि सामान्य व्यक्ति जो मध्यवर्ग से नेतृत्व चाहता है, यथास्थिति के विरुद्ध असहायता का अनुभव करने लगता है और प्रतिक्रियावादी शासन और वर्ग इस दिशाहीन क्रोध को आइडियोलॉजी के रूप म प्रयुक्त करते हैं। जो साहित्य मे किसी भी प्रकार के युटोपियन तत्व को पनपने नही देना चाहते और बिना यूटोपियन तत्व के यथास्थिति मे क्रान्ति असम्भव है।[1]

किन्तु आधुनिक काव्य मे इतिहासपुरुष[2] आत्मजयी[3] जसी ताजी

---

१ A State of mind is utopian, when it is in congruous with the state of things, within which it occurs which transcends reality and which at the same time breaks the bonds of the existing order Ideology and Utopia Mannheim page 173

(२) डॉ० देवराज (३) कु वरनारायण

(३) यह आत्महत्या का बिन्दु, जिस तक नचिकेता पहुँचता है, मुझे अत्य त महत्वपूर्ण लगा, प्राचीन और आधुनिक दोनो ही सन्दर्भो मे। भारतीय

कृतियाँ भी हैं और गजानन मुक्तिबोध नागार्जुन, केदार, भारतभूषण अग्रवाल (अनुपस्थित लोग) इत्यादि अनेक प्रगतिशील कवियों का आधुनिक काव्य भी सम्मुख है इनमें सभी आंतरिक तनावों की अभिव्यक्ति के बाद भी जिजीविषा प्रबलतम रूप में प्रकट हो रही है। आत्मजयी में आधुनिक नचिकेता मृत्युबोध से जीवन की पहचान करता है, आस्था पाता है, और इतिहास पुरुष में भारतीय सांस्कृतिक चेतना की निरंतरता की स्वीकृति है।[1] इसके अतिरिक्त पूर्व हिन्दी केन्द्रों के अतिरिक्त राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश की धरती से उगे हुए नए अंकुर[2] नवीन स्वर और नवीन आस्था के कवि हैं। आत्म विरोधी तर्कों से स्वयं को उबार लेने के लिए "विद्रोही पीढ़ियों" की आवाजें भी उठने लगी हैं।[3] इनके सिवा भारतीय दर्शन के शांतिवादी काल अतिक्रमणकारी किन्तु मंगलेच्छाओं से ओतप्रोत पुराने स्वर भी युद्ध विभीषिका में परम्परा की जीवंत शक्ति को प्रमाणित कर रहे हैं।[4] अत्याधुनिक काव्य का एक वह

दर्शन की तो शायद ही ऐसी कोई महत्वपूर्ण धारा हो जिसका प्रवर्तक इस वीतराग स्थिति से नहीं गुजरता। मृत्यु को विचारते हुए सहसा जीवन से उपराम होजाते हुए बुद्ध की निराशा, नचिकेता की निराशा से बहुत भिन्न नहीं, इसी प्रकार गीता में, युद्ध नहीं करूंगा, कहकर अर्जुन जब हथियार डाल देता है, उस समय जीवन की असारता के प्रति अकस्मात सचेत हुए अर्जुन की वैर्वना का कोई अंत नहीं इस बिन्दु से हम देखते हैं, कि प्रत्येक चिंतक लौटता है, फिर एक बार जीवन की ओर, वह फिर से जीवन को जीता है, किसी ऐसे सत्य के लिए जिसे वह समझता है अमर है नचिकेता (भूमिका, ६)

१ किसी भी उल्लेख्य लेखक पर उस समूचे अतीत का भार रहता है जिसमें आलाप संलाप करते हुए उसकी चेतना गठित होती है।

(इतिहास पुरुष भूमिका, पृष्ठ ७)

२ "अंकुर की कतमता" (दिनकर सोनवलकर) "नीलजल सोई परछाइयाँ" (रामसिंह मीरज) कौनसे संदर्भ दूं? (सुरेन्द्र) किन्तु' (मृत्युंजय उपाध्याय) 'कविता' (अलवर में प्रकाशित) 'निष्ठा' (जयपुर के कवि) 'वातायन' (बीकानेर के कवि) धूपभरी सुबह (जुगमंदिर तायल) मैं आंगिरस (ऋतुराज) 'वे सपने ये प्रेम (रणजीत)

३ विद्रोही पीढ़ी—केसनी प्रसाद चौरसिया इलाहाबाद १९६६

४ अनागता की आँखें (वीरेन्द्रकुमार जैन), लोकायतन (सुमित्रानंदन पंत)

स्तर भी है जिसमे परम्परागत प्रकृतिप्रेम व लोकछविया अभिव्यक्त होती है। प्राय प्रत्येक काव्य सग्रह और पत्र पत्रिकाओ मे प्रकाशित रचनाओ मे प्रस्तुत अप्रस्तुतो के रूप मे यह "सौदय चयन" जीवन और प्रकृति की पुरानी घोषित एकता का ही प्रमाणवर्ता है।

रघुकथा पर हुई बहसो मे [1] परम्परा का जो निषेध मिलता है, वह सतही ही है। किन्तु उसमे खरी खरी सुनाने की प्रवृत्ति के नीचे पुराने स्वानुभववाद को ही प्रमाणिक माना गया है। [2] कथाकारो मे सबसे अधिक निषेधवादी दूधनाथसिंह रवीन्द्र कालिया, विमल और रमेश बक्षी "बुद्धिवाद विरोधी-परम्परा" के आधुनिक सस्करण लगते है। यद्यपि प्रगतिकामी मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, शिवप्रसादसिंह ने भी स्वानुभूतिवाद पर बल दिया है, परन्तु वह सामाजिक दायित्व से अपने अनुभवो को जोड लेते हैं जब कि बाह्य परिस्थिति मे इच्छानुसार परिवतन न पाकर अतिवादी ऐसा रुख अपनाते है जसे साहित्य एक निरुद्देश्य निरथक और निणयहीन क्रिया हो, उसी प्रकार जिस प्रकार वह सारे जीवन को एक अभिशाप मानते है और अभिशाप मुद्रा मे वे दूसरो को अभिशाप देने की मुद्रा अपनाते है। [3] किन्तु रोचक तथ्य यह है कि किसी न किसी स्तर पर हिन्दी का अतिवादी से अतिवादी कथा लेखक प्रतिबद्धता को स्वीकार करता है, वस्तुत पूण निषेधवाद साधना का विषय है, साहित्य और जीवन का नही। विराग के प्रति राग को एक राग ही माना गया ह, किन्तु वराग्य के लिए चित्तवत्ति प्रवाह को जडमूल से काटना

---

१ द्रष्टव्य—भारतीय सस्कृति ससद द्वारा कलकत्ते मे आयोजित कथा पर परिसवाद का ज्ञानोदय, फरवरी १६६६ मे प्रकाशित विवरण।

२ "भारतीय समाज नितान्त असभ्य और असास्कृतिक हो चुका हैं कोई चीज प्रामाणिक नही है, न इतिहास, न भविष्य, न आसपास की चीजें कुछ भी प्रामाणिक है तो अपना अनुभव! (श्रीकान्त, वर्मा, ज्ञानोदय, फरवरी ६६ पृष्ट ११४)

३ अ– 'हम अपना रास्ता डिस्कवर नही कर पाते रास्ता ढूँढने की कोशिश भी कहीं दिखाई पडती आज का कथाकार हर स्थिति को तीव्रता से भोगता है" (रवीन्द्र कालिया पृष्ठ १२०)

ब– 'स्वतन्त्रता के बाद हमारे सामने कोई लक्ष्य नही रह गया, जिसके लिए हम सब एक मत होकर फाइट कर सकें, ऐसी स्थिति म हमारा सारा सघष इटरनल हो गया (दूधनाथसिंह, पृष्ठ ११८)

पडता है अत स्वय सीमित अनुभूतिवाद मे विराग के माध्यम म उव और वितृष्णा के माध्यम से आसक्तिभोग द्वारा नए मूल्यो का अनुसधान, विसगति के विरुद्ध गठित सघष के अभाव मे एक आत्मताप की स्थिति है, स्वप्न विच्युति और दिवास्वप्न की शीर्पासनावस्था है।

हिन्दी के उपयास नाटक और अय विधाओ मे परम्परा का नवीन व्याख्याओ मे शुभ पक्षो का निषेध उतना नही है।[1] आलोचना तो परम्परा के मृत रूपो से भी अभी तक पीछा नही छुडा सकी है विशेषकर सद्धान्तिक आलोचना मे परम्परा की पुनप्रस्तुति ही अधिक हुई है। किन्तु अय ज्ञाना नुशासनो के प्रकाश मे भारोपीय काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्याएँ इधर अधिक होने लगी है। इस क्षेत्र मे भारतीय काव्यशास्त्र के ध्वनिसिद्धान्त को नयी कविता के भी कतिपय लेखक सम्भावना पूण मानते है, और तटस्थ विचारको का मत है कि इस सिद्धान्त के आधार पर कलामात्र का परीक्षण सम्भव है बशर्ते कि आधुनिक ज्ञानानुशासनो से उसका शोधन किया जाए। रस सिद्धान्त को कलामात्र के निकपम्प मे प्रस्तुत नही किया जा सका, पर प्रयत्न हो रहा है।[2]

प्रत्येक समाज की परम्परा मे एक रूप गतानुगतिक और एक तत्काल का अतिक्रमण करने वाला होता है, इस काल अतिक्रमण रूप मे, मनुष्यमात्र के हित के लिये शुभेच्छाएँ, भविष्य की सम्भावनाएँ और चरममूल्यो का विधान होता है, *मानवता के इन्ही स्वप्नो से वतमान सह्य बनता है और अस्तित्व* साधक बनता है, प्राचीन भारत मे ऐसे विश्वासो की एक महाराशि है, जिन्हे प्राप्त करने के लिये त्याग और तप के महान आदश मिलते हैं। परम्परा के ये

—१ हिन्दी मे अभी तक यथायवादी उपन्यासकार प्रबल हैं, यशपाल नागर भगवती बाबू, भरवगुप्त, नरेशमेहता, राजेन्द्र यादव राकेश, कमलेश्वर, रेणु उदयशकर भट्ट आदि के अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासो मे भारतीय इतिहास की पुनव्याख्या से परम्परा के जीवत रूपो का वृन्दावनलाल वर्मा ने सबसे सशक्त ढग से प्रस्तुत किया है। गुरुदत्त के उपन्यासो मे तो परम्परा के मृत रूप भी व्यक्त हो रहे हैं। नाटक के क्षेत्र म लक्ष्मी नारायणलाल, विष्णुप्रभाकर, चिरजीत गोविन्ददास, राकेश भारती आदि ने परम्परा की पुनर्व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं अधायुग मे आधुनिक दृष्टि है पर वह घातक रूप मे नही है।

२ रस सिद्धान्त डा० नगेन्द्र।

अरविन्दवादी सौन्दर्य शास्त्र

आज की प्रचलित विचारधाराओं में 'अरविन्द दर्शन" भी एक महत्व पूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। "अरविन्द दर्शन' प्रातिभज्ञान (Intuition) पर आधारित है। अरविन्द के अनुसार इस दृश्यमान जगत् के पीछे एक शुद्ध चिन्मय सत्ता है, जो स्वयं अपनी शक्ति द्वारा इस भौतिक जगत् के रूप में अभिव्यक्त हुई है अतः जगत भी "सर्वम् खलु इदं ब्रह्म" श्रुति की साक्षी से ब्रह्म का ही एक रूप है। शुद्ध चैतन्य, लीला की इच्छा से, निम्न विकास (Involution) द्वारा इस जगत के रूप में परिवर्तित होता है। इसका क्रम इस प्रकार है—
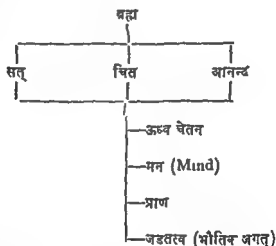
अरविन्द के विचार से, बुद्धि, मन, प्राण और जडतत्व सब एक ही चैतन्य के विभिन्न सोपान हैं। केवल मन अथवा बुद्धि (Reason) से जो जगत् पर विचार करते हैं, वे या तो ब्रह्म की एक मात्र सत्ता द्वारा मान कर जगत का निषेध करते है—(आदर्शवादी, बर्कले, नागार्जुन, शंकराचार्य आदि) अथवा केवल जडतत्व (Matter) की सत्ता मानकर ब्रह्म का निषेध कर देते है— (भौतिकवादी, चार्वाक, मार्क्स, लेनिन आदि)। बुद्धि द्वारा सत्य का एक पक्ष ही सम्मुख आता है, क्योंकि बुद्धि विभाजित करके देखती है अतएव बुद्धि द्वारा पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। सत्यनिर्णय के लिये बुद्धि से भी ऊपर, चेतना के महत्तर रूप प्रातिभज्ञान या स्वयं प्रकाश्यज्ञान का विकास करना चाहिए, तभी हम पूर्ण सत्य को पा सकते है।

प्रेरक रूप आज भी हमारी संस्कृति और साहित्य के[1] मूल मे उवरक का काय कर सकते हैं साधारण जनमानस म तो वे आज भी जीवित हैं, हम तो उन सम्भावनाओ को काय मे परिणित करना है। दार्शनिको ने जीवन और जगत् की व्याख्याएँ की हैं, नतिकबोध दिया है, ऐन्द्रिय स्तर स संतुष्ट न रह कर इन्द्रियातीत होकर केवल हित और कल्याण के लिये जीना सिखाया है। हम इतिहास के उस बिन्दु पर हैं कि या तो हम उन्हें कायरूप मे परिणत करें या मूल्य ममता रहित स्थिति मे तृतीय युद्ध छेडकर समाप्त हो जाए, अत यह वरणक्षण है, अर्जुन की तरह अनिश्चय जन्य अवसाद मे धनुष फेंक देने का क्षण नही है, विश्व के पास तमसोमा ज्योतिर्गमय का मन्त्र है प्रश्न यह है कि क्या हम इस चुनौती को स्वीकार करेंगे ?

सभ्यता और संस्कृति के विकास की लय का यह सिद्धान्त है कि आगत चुनौतियो का हम सामना कर सकें अन्यथा ह्रास और अत की लय प्रारम्भ हो जाएगी हम चाहे काव्य मे लय के विरोधी हो पर विकास की लय माननी होगी। इस सवव्यापी चुनौती का सामना बुद्धिवाद, अनुभववाद और प्रयत्न के आधार पर सम्भव है केवल स्वानुभूतिवाद पूणत अपर्याप्त है। परम्परा का अध विरोधी होना आत्मघातक है।

---

१ In a growing civilization a challenge meets with a successful respons which proceeds to generate another and a different challenge, which meets with another successful response There is no term to this process unless and until a challenge arises which the civilization in question bails to meet, a tragic event which means a cessation of growoth and what we called a breakdown —

Theeories of History
A J Toyenbee
USA 1960

प्रातिभज्ञान योग, मन, चित्त, बुद्धि के स्वच्छ होने पर स्वतः स्फूर्त होता है। इस स्थिति मे हम जगत, जीव, ब्रह्म आदि किसी भी समस्या पर विचार करें, हम शुद्ध निर्णय मिलता है, अतएव सौन्दर्य के विषय मे शुद्ध मनन तभी होगा जब हम इस प्रातिभज्ञान से सहायता लें अन्यथा केवल बुद्धि द्वारा आलोचकों के अशुद्ध और एकांगी निर्णयों से हम कभी संतुष्ट नही हो सकते।

प्रातिभज्ञान और सौन्दर्य—क्योंकि मन, चित्त, बुद्धि आदि शक्तियां, आत्मा के ही निम्न सोपान हैं और आत्मा इनके माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है, अतएव आत्मा की, दो स्थितियाँ हैं—प्रथम स्थिति मे, आत्मा, मन, चित्त और बुद्धि से सहायता नही लेती, यह शुद्ध समाधि की अवस्था होती है। इस स्थिति मे ज्ञाता और ज्ञेय, दृश्य और द्रष्टा के भेद नही रह जाते। द्वितीय स्थिति मे आत्मा, अन्तःकरण से सहायता लेती है, इस स्थिति मे ही कला की सृष्टि होती है। इस स्थिति मे भी दो स्थितियां होती हैं, प्रथम में मन, चित्त और बुद्धि के संकल्प विकल्प और चिंतन मे आत्मतत्त्व संयुक्त रहता है। द्वितीय स्थिति मे अज्ञान की अधिकता के कारण केवल मन के संकल्प विकल्पों और विचारों की व्यंजनाएँ होती है। इस द्वितीय स्थिति मे ऐन्द्रिय और एकांगी कला का जन्म होता है। केवल प्रकृति के बाह्य रूपों का अनुकरण या पुनरुपस्थिति अथवा चित्रण होता है या मानवीय भावनाओं, प्रेम क्रोध, घृणा हर्षादि की व्यंजनाएँ होती हैं। अरविन्द के अनुसार ऐसी रचनाएँ निम्न कोटि की होती हैं।

द्वितीय स्थिति में आत्मा से संयुक्त होकर अन्तःकरण अभिव्यक्त होता है, इसमें ऐन्द्रियता के साथ साथ अतीन्द्रियता का भी कभी स्पर्श मिलता है परन्तु उच्चतम कोटि की सौन्दर्य सृष्टि स्वयं प्रकाश्यज्ञान द्वारा ही होती है। इस स्थिति मे आत्मा का प्रकाश ही अन्तःकरण को संचालित करता है। चेतना के उच्चतम शृंग से विच्छुरित आलोक, अन्तःकरण के स्तरों को अनुशासन मे रखता हुआ "दिव्य सृष्टि" कराता है। वैदिक ऋषियों ने इसी स्वयं प्रकाश्यज्ञान द्वारा वेदमन्त्रों की रचना की है। ऋचाओं मे ऋषियों के भावजगत् का उपयोग है किन्तु वह सामान्य भावजगत से उच्चतर कोटि का सृजन है। वह प्रातिभज्ञान द्वारा अनुशासित और प्रकाशित है। अतएव सौन्दर्य की सृष्टि का चरमरूप वेदमन्त्र हैं काव्यकला का श्रेष्ठ रूप 'मन्त्रकाव्य' है।

अरविन्द के अनुसार इस मन्त्रकाव्य का सौन्दर्य हम बुद्धि द्वारा समझना चाहते है जो असम्भव है। प्रातिभज्ञान द्वारा निर्मिति केवल प्रातिभज्ञान द्वारा ही समझी जा सकती है। प्रातिभ सृष्टि मे वस्तु का बाह्य अंकन नहीं होता अपितु वस्तुस्थित, आनन्दमयी सत्ता का उद्घाटन होता है। इन्द्रियबोध,

कल्पना, सकल्प विकल्प आदि से परे इस अखड सौंदर्य का साक्षात्कार और अभिव्यक्ति को ही, वास्तविक सौंदर्य सृष्टि कहना चाहिए।

मन्त्रयुग और उपनिषदों के पश्चात् संस्कृत तथा प्राकृत में जो सौंदर्य सृष्टि हुई है, वह चेतना के निम्न स्तरों की सृष्टि है, अत कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि का सौंदर्य उच्चतम कोटि का नहीं है। आलोचना क्षेत्र में भी मन्त्रयुग के पश्चात् मनुष्य ने केवल बुद्धि से ही अधिक काम लिया है इसलिये भ्रान्त और एकागी निर्णय हुए प्राप्त हैं (अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि के निर्णय बुद्धिवादी निर्णय हैं, यूरोप के आलोचक भी बुद्धिवादी हैं।) अरविन्द के अनुसार बुद्धिवाद का निकृष्टतम रूप 'साम्यवादी व्यवस्था" में दिखाई पड़ता है, अत साम्यवादी विचारकों के निर्णय सर्वाधिक एकागी और हठ धर्मी पर आधारित होते हैं।[1]

साम्यवाद के बाद अध्यात्मवादी युग में जिस सौंदर्य की सृष्टि होगी, वह वैदिकयुगीन सौंदर्य के सदृश होगा। आज की एकागी काव्यकला चित्रकलादि इसी आगामी 'अध्यात्मवादी या अतिमनवादी" युग की ओर सकेत कर रहे हैं। यह आगामी सौंदर्य सृष्टि तभी हो सकती है जब हम साम्यवादी बुद्धिवाद से ऊपर उठें और पुन प्रातिभज्ञान द्वारा सत्य, शिव और सौंदर्य का दर्शन करें। हम इस प्रातिभज्ञानवादी सत्य के साक्षात्कार के लिये आधुनिक शिक्षा पद्धति में परिवर्तन करें और योग शिक्षा प्रारम्भ करें।

---

१ प्रातिभज्ञानयुग (वैदिक युग) के ह्रास के बाद बुद्धिवादी युगों का विकास इस प्रकार है —

विकास
- अधबुद्धिवाद
- बुद्धिवाद
  - —व्यक्तिवादी युग–एकागिता (जनतन्त्र)
  - —सरकारी साम्यवाद (रूस, चीन, आदि) बुद्धिवाद की अतिशय एकागिता
  - —आध्यात्मिक निरकुशतावादी युग (प्रातिभज्ञान का उपयोग, सत्य, सौंदर्य, शिव का साक्षात्कार)
- ऊर्ध्वबुद्धिवाद
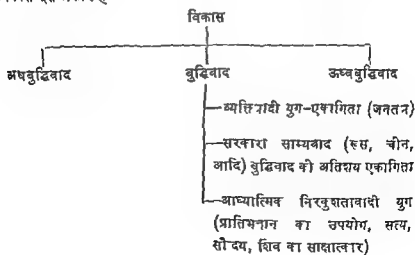
अरविन्द के मत से, आगामी मन्त्र युग के प्रथम लक्षण ह्विटमन, कारपटर, तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि मे दिखाई पडने लगे हैं। अरविन्द के अनुसार सौन्दर्य भावना के भी तीन स्तर पाये जाते हैं। प्रथम सोपान मे भाषा शैली का सौन्दर्य हमे अधिक प्रिय होता है, द्वितीय सोपान मे रचना के विचार, भाव और कल्पना के सामञ्जस्य को हम अधिक पसन्द करते है, आधुनिक युग मे अभी यही तक सौन्दर्य बोध का विकास हुआ है, परन्तु सौन्दर्य का एक तृतीय स्तर और है, जिसमे सापेक्ष वस्तु मे स्थित निरपेक्ष सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। यह सौन्दर्य, सामान्य इन्द्रिय बोध तथा प्रवृत्तियो की पृष्ठभूमि मे स्थित, अतीन्द्रिय सौन्दर्य (Supersensuous Beauty) है। यह बुद्धि के लिये अगम्य है। इस सौन्दर्य के जाग्रत हो जाने पर प्रकृति के प्रत्येक लघु, विराट रूप में, सत्य शिव और आनन्द का एक साथ साक्षात्कार होता है, **सौन्दर्य की सृष्टि करना वस्तुत आत्मा मे स्थित ब्रह्म की शक्ति और मूर्ति का बहिर्प्रक्षेपण है।**[1] मन के सकल्पो का नही बल्कि आत्मा के सकल्पो का वर्णन अलौकिक अतीन्द्रिय अनुभवो की व्यजना ही सच्ची सौन्दर्य सृष्टि है।

अरविन्द के अनुसार उपर्युक्त दृष्टि से कला का मर्म समझने मे सुविधा होती है। उनका कथन है कि बुद्धि तो अतीन्द्रिय तत्व को समझती नही, 'विचार' का एक आन्तरिक अश (Soul idea) रहता है। भाव के बाह्य अश को ही भारतीय अलकार शास्त्री, 'रसानुभूति'' कहते आए है परन्तु भाव का एक आन्तरिक अश (The soul of the emotion) भी होता है, उसी प्रकार, जिस प्रकार विचार का एक आन्तरिक अश होता है अतएव विचार और भाव के आन्तरिक अश को समझना ही कला का मर्म है, मन्त्र युग मे इसी कला का मर्म उद्घाटित हुआ था।

कला के उपकरण है अनुभूति, अन्तर्दृष्टि, सत्यशोधन, लय, छन्द और भाषा। ये सभी तत्व केवल वदिक मन्त्रो मे मिलते हैं अन्यत्र नही। वस्तु का चित्रण, अपने मे लक्ष्य रहित होने से, महत्वहीन है परन्तु सूर्य, वरुण, अग्नि, सोम, उषा, मरुत आदि वस्तुओ पर आन्तरिक सत्यो के प्रकाशन के लिये मन्त्रो मे पदार्थ ''स्तुति विषय' के रूप म स्वीकृत है।[2]

---

1 To find highest beauty is to find God to reveal, to embody, to create, as we say, highest beauty in to bring out of our souls, the living image and power of God—The Human cycle Page, 160

2 The Future Poetry, Page 280

वस्तु, विचार और भाव के बाह्य अंशों का चित्रण हमें सांसारिकता में निमग्न करता है परन्तु चिन्मय सत्ता पर आधारित सौन्दर्य सृष्टि मनुष्य को दिव्य भाव भूमियों की ओर उन्मुख करती है। बुद्धिवादी आलोचक समझता है कि सृष्टि केवल सामान्य बुद्धि से होती है, परन्तु सच्ची सृष्टि तो अन्तर्दृष्टि से ही सम्भव है। प्रतिभा सदा ऊर्ध्व बुद्धिवादिनी होती है, क्योंकि प्रतिभा प्रातिभज्ञान का फल है।[1]

बुद्धिवाद ने शिल्प, बुद्धि तथा रुचि की प्रधानता के कारण 'क्लासीकल' तथा 'व्यक्तिवादी' या 'रोमांटिक'—ये दो कलाभेद किये हैं परन्तु ऐसी कोटियाँ भ्रामक हैं। उच्चकोटि की कला में ये दोनों तत्व रहते हैं। सौन्दर्य को वस्तुतः खण्डों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता। सृजन प्रक्रिया के क्षणों में प्रातिभज्ञान अन्तर्दृष्टि के रूप में स्फुरित होता है तभी अनुपम लोकोत्तर, अनुभूतियों और रूपों की सृष्टि होती है। यही सौन्दर्य का दर्शन और यही सृजन प्रक्रिया है। दोनों की पद्धति एक है। ऐसी सौन्दर्य सृष्टि बुद्धिवादियों द्वारा स्थापित "मापदण्डों" में कभी बँध नहीं सकती। ऐसी कला का विवेचन उपर्युक्त अन्तर्दृष्टि प्राप्त आलोचक ही कर सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अरविन्द 'स्वयं प्रकाश्य ज्ञानवादी' विचारक हैं। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी इसी पद्धति पर चला है। स्वयं अरविन्द की कविताओं से स्पष्ट है कि वह केवल एक विशेष प्रकार की कला के प्रेमी थे किन्तु उनकी अध्यात्मवादी रचनाएँ रहस्याक्रान्त हैं। भविष्य युग में अरविन्द काव्य को समझने के लिये 'योगसाधना' करनी होगी और एक विशेष 'प्रातिभ वर्ग' ही इस प्रकार की कला से लाभ उठा सकेगा। अतः अरविन्द का दृष्टिकोण भी एकांगी है। 'स्वयं प्रकाश्य ज्ञान' ही अरविन्द दर्शन का आधार है। किसी क्षेत्र विशेष में कार्यरत रहने पर जो एक अभूतपूर्व अनुभव सहसा जाग्रत हो जाता है, उससे भिन्न स्वयं प्रकाश्य ज्ञान की कोई सत्ता नहीं है, अन्यथा योग द्वारा प्राप्त प्रातिभज्ञान से ही जीवन के क्षेत्र में सभी प्रकार के आविष्कार सम्भव हो जाते परन्तु अन्तरिक्ष युग के आविष्कारों को जो 'अन्तर्दृष्टि' प्राप्त हुई है वह क्षेत्र विशेष में कार्यरत रहने का प्रतिफल है, योग का परिणाम नहीं। 'योग' वस्तुतः ध्यान केन्द्रित करने के अनेक उपायों में एक उपाय है ऐसा अभ्यास जिसमें कर्मक्षेत्र से "मन" को अलग कर उसे मनोवैज्ञानिक विधि पर, अनुशासित किया जाता है। इससे

१ वही

"मन" को कुछ शक्तियां भी प्राप्त हो सकती है, इसमे सन्देह नही किन्तु उसी "मन" (माइण्ड) को जब वैज्ञानिक किसी वस्तु पर केन्द्रित करते है, तब 'अरविन्दयोग' से भी अधिक चमत्कारक चीज और "अन्तर्दृष्टि" प्राप्त होती हैं। उनकी दृष्टि साधनावादी है, जीवनवादी नही। इस प्रकार अरविन्द का स्वयं प्रकाश्य ज्ञान सर्वथा निरपेक्ष, शाश्वत अनुभव नही है। वह पूर्वभूत अनुभवो और आवश्यकताओ के संघर्ष से "उछाल" के रूप मे प्राप्त, स्वतः उद्भूत प्रतीत होने वाली 'मानसिक' क्रिया है।

अरविन्द के अनुसार मन, बुद्धि आदि चेतना स्तर आत्मा के ही रूप हैं। यदि इन सभी मे आत्मा अनुस्यूत है तो यह मानना होगा कि बुद्धिवादी विवेचक मे भाव, कल्पना और अन्तर्दृष्टि सभी तत्व रह सकते है। ये परस्पर विरोधी स्थितियाँ नही है, इनके "बाह्य" और "आंतरिक" अंग परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र नही हैं। अरविन्द एक दार्शनिक परम्परा के प्रभाव के कारण आत्मा और जगत मे एक "द्वैत" मान लेते हैं, यद्यपि वह घोषणा यह करते है कि वे अद्वैतवादी है। यही कारण है कि वे 'आत्मा' को एक परम स्वतन्त्र, परम तटस्थ 'द्रष्टा' के रूप मे मानते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि परम तटस्थ स्थिति एक कल्पना मात्र है, क्योकि 'आत्मा' अंतःकरण के संघात का ही नाम है। अंतःकरण से सर्वथा तटस्थ, चेतना का भ्रम इसलिये होता है कि 'आत्म ज्ञान' (Self awareness) की स्थिति का हम अनुभव करते हैं किन्तु इस 'आत्म ज्ञान' के स्वरूप पर विचार करते ही साफ लगता है कि हम 'बाह्य' सन्दर्भ से सर्वथा अलग नही हैं, वस्तुतः यह 'आत्म ज्ञान' भी एक बाह्य से "कटीदार" स्थिति है, क्योकि इस "आत्म ज्ञान" का भी प्रारम्भ और विकास दिखाई पडता है।

जिस वेदमन्त्र की व्याख्या अरविन्द कर रहे हैं उस व्याख्या को यदि ऋषि पढ पाते तो उन्हे अरविन्द की "पहुँच" की प्रशंसा करनी पडती क्योंकि एक वेद की अनेक व्याख्याएँ हैं जो व्याख्याकारो की "आत्माओ" के अनुसार प्राप्त हुई हैं। अरविन्द आत्म ज्ञान को निरपेक्ष मानकर चले हैं अतएव सामान्य ज्ञान और सामान्य अनुभवो की उपेक्षा हुई है। अरविन्द के मापदण्ड के अनुसार हम सारी कलाओ की व्याख्या नही कर सकते। अरविन्द की व्याख्या स्वीकार करने पर तो "शाबर मन्त्रो" को वैदिक ऋचाओ से भी अधिक कलापूर्ण मानना होगा क्योंकि आगम के अनुसार शाबर मन्त्रो मे साक्षात शिव सन्निविष्ट रूपेण अवस्थित हैं। इसी तर्क पर निराला के 'बादलराग' से अधिक महत्व निराला की 'अर्चना' की प्रार्थनाओ को देना होगा और कालिदास

से बड़ा कवि कृष्णमिश्र (प्रबोध-चन्द्रोदय) को घोषित करना होगा। क्या अभिज्ञान शाकुन्तल से 'प्रबोध चन्द्रोदय' श्रेष्ठ नाटक है? यदि नहीं, तो अरविन्दवादी सौन्दर्य शास्त्र एक एकांगी प्रयत्न है।

वस्तुत कल्पना की सहायता से जब भाव व्यजना होती है, तब न तो अनुभव अतीन्द्रिय होता है और न वह मात्र प्रवृत्ति परक होता है अतएव भाव व्यजना अत प्रवृत्तियो के उदात्तीकरण मे समर्थ है। रजन और उदात्तीकरण के लिये भाव व्यजना, वस्तु व्यजना और अलकार व्यजना (बिम्ब विधान) समर्थ है और इनसे प्राप्त आनन्द चाहे ब्रह्मानन्द न हो पर वह 'जीवनानन्द सहोदर" अवश्य होता है और इसे ही अभिनवगुप्तादि आचार्य, जो कोरे तार्किक नही थे (आनदवर्धन, अभिनव आदि शवसाधक थे, जो 'तर्क" का भी अर्थ अनुभूति" करते है !), स्वीकार करते हैं और यह मत, अरविन्द की तुलना म अधिक युक्ति-युक्त है। अरविन्द जिस विभाजन की निन्दा करते है, स्वय उसी से आक्रान्त हैं। भाव और विचार के बाह्य' और "आतरिक" अशो के विभाजन केवल पूर्व निश्चित, पूर्व कल्पित आध्यात्मिक सत्यो की प्रतिष्ठा के लिये किये गये है अत अमान्य हैं।

सौन्दर्य की सृष्टि म वस्तु का बाह्य सौन्दर्य और द्रष्टा की चेतना पर उसके प्रभाव से उत्पन्न प्रतिक्रियाएँ सौन्दर्य सजन म प्रयुक्त होती है अत सौन्दर्य द्रष्टा और दृश्य का एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है, वह अखण्ड और अचल स्थिति नही है। क्षण क्षण परिवर्तित सत्ता मे क्षणमात्र को निलम्बित मानव चेतना ही साक्षात्कार करती है या सार्थकता है और इस निलम्बित (Suspended) मन स्थिति मे भी कुछ मानसिक स्पन्दन होता रहता है। या व्यक्तियो के 'दर्शन" की स्थिति म जो द्रष्टा को तटस्थता प्राप्त होती है, वह भी प्रवाह' के कारण ही प्राप्त होती है और यह भी कि तटस्थता' के समय वयक्तिक और बाह्य दोनो का अश सक्रिय रहता है अत 'द्रष्टा' और दृश्य' दोनो की परस्पर स्थिति, सौन्दर्य म सर्वदा रहती है। केवल द्रष्टा' का अन्तरावलोकन और उसी के आधार पर मापदण्डो का निर्माण वस्तु जगत के सौन्दर्य आर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की उपेक्षा करना है।

क्रौंच पक्षी का वध देखकर वाल्मीकि का "भाव' प्रथम श्लोक को जन्म दे सका था, ज्ञाता ज्ञेय से रहित निरपेक्ष प्रातिभज्ञान मे इस प्रथम श्लोक की रचना नही हो सकती थी क्योकि मानवप्रेम ही वाल्मीकि का प्रेरक था कोई सार्वभौमिक सत्य नही। इसी प्रकार यथार्थवादी काव्य और कला के मूल मे यही मानव सहानुभूति और करुणा है। मनुष्य द्वारा मनुष्य पर प्रहार

होता हुआ देखकर जब गोर्की और प्रेमचन्द की लेखनी मनुष्य की आह या क्रोध को व्यंजित करती है, तब क्या उसके पीछे लोक मंगल की वही भावना नहीं होती जो आदिकवि के मुख से 'सहसा' फूट पड़ी थी? अरविन्द के काव्य को पढ़कर मानवीय हृदय की भूख नहीं मिटती, न अरविन्दीय साहित्य को पढ़कर, वास्तविक मानव जीवन की समस्याओं, संकटों और सवालों का, विवेक-संगत समाधान होता है। कलाकार मनुष्य की प्रवृत्तियों ऐन्द्रिय संवेदनाओं, भावों और कल्पनाओं को अपनी रचना द्वारा 'मानवीय' बनाता है, योग द्वारा प्राप्त अनुभवों में इतनी रंजकता, मूर्तता तथा व्यापकता नहीं होती अतः अरविन्द के दृष्टिकोण से, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा आज के मानव प्रिय यथार्थवादी विचारकों का दृष्टिकोण अधिक मानवीय और वैज्ञानिक है।

शैव-दर्शन और सौन्दर्य-शास्त्र

सर्व प्रथम 'शव दशन' व "सौन्दय शास्त्र' इन दो शब्दो का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शव दशन के अनेक भेद हैं। इस लेख मे हम केवल शव दशन की कश्मीरी शाखा पर ही विचार करेंगे। कश्मीरी शव दार्शनिको ने सौन्दय शास्त्रीय सिद्धान्तो का भी निर्माण किया है। आनन्दवधन का ध्वन्यालोक, अभिनवगुप्त का "लोचन" ('ध्वन्यालोक' की व्याख्या) तथा अभिनव भारती (भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या) आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इस लेख मे हम इन ग्रन्थो को आधार न बनाकर केवल अभिनवगुप्त के 'तन्त्रालोक' मे प्राप्त सौन्दय शास्त्रीय तत्वो पर विचार करेंगे। 'तन्त्रालोक' मे प्राचीन आगमों तथा कश्मीरी शव मत के अन्य ग्रन्थो को आधार मानकर शव दशन की व्याख्या की गई है, इस व्याख्या मे सौन्दय शास्त्र के लिए भी प्रकाश मिलता है।

'सौन्दय शास्त्र' कला का दशन (Philosophy of Art) है।[1] इसका लक्ष्य कलाकारों का गुण दोष विवेचन (आलोचना–Art cirticism) नही है, अपितु कलाओं (काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य आदि) को सामग्री (Material) के रूप मे स्वीकार करके कला, सौन्दय, कला-जन्य आनन्द आदि पर 'सौन्दय शास्त्र' सैद्धान्तिक विवेचन करता है, कला व सौन्दय की परिभाषा करता है, कलाकार की मानसिक स्थिति तथा कला सृष्टि के क्षणो की प्रक्रिया का वैज्ञानिक विवेचन करके कुछ सिद्धान्त निश्चित करता है और इन सिद्धान्तो को अधिकाधिक तक पूर्ण बनाता है, अत आलोचना के

---

१ बोसांक ने अपने 'सौन्दय के इतिहास' में लिखा है कि सौंदय शास्त्र दशन' (philosophy) का एक अङ्ग है। केवल ज्ञान के प्रति अभिरुचि के कारण ही इस शास्त्र का अध्ययन होना चाहिए न कि इसलिए कि इसके पठन पाठन से कला की सृष्टि मे सहायता मिलेगी। सौन्दय शास्त्री 'कलाकार' का अध्ययन अपनी जिज्ञासापूर्ति के लिए करता है कलाकार के क्षेत्र मे जाकर उसे कुछ सिखाने समझाने के लिए नही—History of Aeesthetic—preface

क्षेत्र मे जो अस्पष्टता आवेश या भावुकता रहती है, वह सौन्दर्य शास्त्र मे नही मिलती। सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्तो से अपरिचित रहकर भी आलोचक या सहृदय कला का आनन्द प्राप्त कर सकता है परन्तु इन सिद्धान्तो से परिचित हो जाने पर आलोचना मे स्पष्टता व निर्भ्रान्तता अवश्य आती है, दूसरे उसकी दृष्टि सूक्ष्म व सक्षम हो जाती है, तीसरे वह साहित्य व कला के सम्बन्ध मे अन्य आलोचको, सौन्दर्य शास्त्रियो व कलाकारो के सिद्धान्तो मे तर्क विरोधी तत्वो को दूर करके आलोचना के सिद्धान्तो को अधिक वैज्ञानिक बना सकता है। चूँकि सौन्दर्य शास्त्र सिद्धान्तो के विवेचन पर अधिक ध्यान देता है अत वास्तविक स्थिति से दूर जाने का भय बराबर रहता है। वह अन्य सिद्धान्तो के दोष तो सुविधा से खोज लेता है परन्तु जब स्वय सिद्धान्त का निर्माण करता है तो उनमे वह औपचारिक हो जाता है। आलोचक को सौन्दर्य शास्त्र के अध्ययन से अपनी सैद्धान्तिक विवेचना को अधिक तर्कसगत और वास्तविक बनाने का अवसर मिलता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्य शास्त्र काव्य शास्त्र या आलोचना शास्त्र का सहायक शास्त्र है, दोनो ही कलाओ को विवेचन का उपकरण (Material) बनाते है, अत अलग होकर वे भी परस्पर सम्बन्धी हैं। भारतीय काव्य शास्त्र सौन्दर्य शास्त्र सम्बद्ध रूप मे ही मिलता है। योरोप म जिस प्रकार काव्य शास्त्र व सौदर्य शास्त्र अलग अलग दिखाई पडते हैं, उस रूप मे यहाँ विकास नही हुआ। अत शैव दर्शन म भी सौंदय शास्त्र व काव्य शास्त्र दोनो के लिए प्रेरणाएँ और प्रकाश है।

शैव दर्शन जगत की सृष्टि का विस्तार से वर्णन करता है, इस मे सृष्टि प्रक्रिया का रहस्य निहित है। जिस प्रकार जगत मे आकाश, वायु, अग्नि,

[1] १ आर० जी० कालिंगवुड के अनुसारसौंदयशास्त्र का अध्ययन एक सीमा तक आवश्यक है। सौंदय शास्त्री दो प्रकार के होते है (१) आलोचक सौंदय शास्त्री (२) दार्शनिक सौंदय शास्त्री। आलोचक यह बताते हैं कि कला किन किन तत्वो से बनती है, कला पूर्ण और कला हीन दोनो को वे अलग-अलग करते हैं। सौंदय शास्त्र एक कदम और आगे जाकर कला और सौंदय की परिभाषा करता है, सृष्टि के क्षणो पर विचार करता है, वह आलोचक के अस्पष्ट और व्यवस्थाहीन सिद्धान्तो की जगह स्पष्ट, व्यवस्थित और तर्कसगत विचार रखता है, अत सौंदय शास्त्र के अध्ययन से आलोचक को तर्क-सगत व व्यवस्थित होने का अवसर मिलता है तथा साथ ही वह सौंदय-शास्त्र की कोरी सिद्धान्तवादिता के खतरे से भी बचना सीखता है।

जल, पृथ्वी आदि पचभूतों और इनसे पवत, नदी, वृक्ष, पुष्प, पल्लव आदि नाना पदार्थों की सृष्टि होती है, उसी प्रकार कलाओं के क्षेत्र में अनेक रूपों की सृष्टि होती है। जगत की सृष्टि की प्रक्रिया तथा कला की सृष्टि प्रक्रिया एक है क्योंकि जगत् की सृष्टि की कल्पना में स्वय व्यक्ति की सृष्टि प्रक्रिया ही प्रमाण है। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की सारी प्रक्रियाएँ समान हैं। अत शव दर्शन में बाह्य जगत की सृष्टि का वर्णन कलाकार की सौंदर्य सृष्टि का ही वर्णन है, ऐसा मानना चाहिये।

शव दर्शन के अनुसार जगत् की इस सृष्टि का कारण एक चेतनतत्व है, उसका नाम है "परम शिव"।[1] यह चेतन तत्व आदोलनातीत है वह देशकालबद्ध नहीं है, अतएव इसका वर्णन सम्भव नहीं है। यह सर्वथा भेद रहित स्थिति है। इस स्थिति में सृष्टि सम्भव नहीं है। अर्थात् चेतना अपने आत्यंतिक शुद्ध रूप में स्थिर होकर सृष्टि से परे हो जाती है। इसलिए सौन्दर्यानद को "ब्रह्मानन्द" नहीं कहा जाता क्योंकि सौंदर्यानन्द, ब्रह्मानन्द से निम्न स्थिति है। प्रज्ञा के स्थिर हो जाने पर सृष्टि नहीं हो सकती।

स्वच्छन्दतावाद—

शुद्ध चेतन तत्व में शव एक स्वतन्त्र शक्ति की स्थिति मानते हैं। यदि यह प्रश्न हो कि परम शिव (ब्रह्म) में सृष्टि की इच्छा क्यों उत्पन्न होती है तो उसका उत्तर यह है कि ब्रह्म अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से सृष्टि करने को उन्मुख होता है। अत सौन्दर्यशास्त्र का प्रथम सिद्धान्त यह है कि कलाकार अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से सृष्टि करने के लिए उन्मुख होता है यह स्रष्टा की स्वच्छन्द प्रवृत्ति है, बाह्य दबाव सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। पुन प्रश्न होगा कि अतत कुछ तो सृष्टि इच्छा का कारण होना ही चाहिए, तो उत्तर होगा कि सृष्टि करने में चेतना को आनन्द प्राप्त होता है।[2] अनुभव से ही आत्मा (चैतन्य) को आनन्द मिलता है यद्यपि आत्मा या चैतन्य स्वत सत् चित आनन्दमय है, तथापि सृष्टि उसकी स्वानुभूति मात्र (Self realization) है। अन्य बाह्य उद्देश्य सृष्टि नहीं कर सकते।[3]

---

१ उपनिषद में यही "परब्रह्म" कहलाता है।

२ स्वात्मप्रच्छादनक्रीडा, पण्डित परमेश्वर तन्त्रा० चतुर्थ आह्निक

३ उपयोगी कला और शुद्ध कला का भेद यहाँ स्पष्ट हो जाता है। शुद्ध-कला केवल अपनी प्रेरणा, अपनी स्वच्छन्द-प्रक्रिया पर चलती है, उपयोगी कला या शिल्प (Craft) में कोई बाह्य उद्देश्य रहता है इसीलिए तुकबन्दी या समस्या पूर्ति को हमारे यहाँ ६४ शिल्प कलाओं में रखा गया है और काव्य या शुद्ध कला को शिल्प-कला से अलग कर लिया गया है।

अतएव सृष्टि का कारण है, स्रष्टा की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति। यह इच्छा क्रीडाजन्य आनन्द प्राप्ति की इच्छा है। जिस प्रकार क्रीडाजन्य बालक क्रीडा के बिना भी पूर्ण है परन्तु क्रीडा के द्वारा वह अपने ही आनन्द का भोग करता है, नाना पदार्थों की सृष्टि करके अपने आनन्द का विस्तार करता है, उसका अनुभव करता है, उसी प्रकार अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से परम शिव जगत् की सृष्टि करता है और इसी तरह कलाकार अपनी स्वच्छन्द-इच्छा शक्ति से आत्म अनुभूति के लिए, आनन्द विस्तार के लिए सृष्टि रचना करता है।[1]

शुद्ध चेतन तत्व में यह स्वतन्त्र इच्छा उत्पन्न होते ही उसमें पहले से ही विद्यमान शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। ये शक्तियाँ चेतना के साथ एकाकार हैं परन्तु स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से सृष्टि का सकल्प उदय होते ही चेतना का यह अंश (शक्तितत्व) चेतना से भिन्न प्रतीत होने लगता है। इसे शैव-दर्शन में "शक्तितत्व" कहा गया है, और शक्ति के साथ एकाकार चेतना का दूसरा अंश शिवतत्व कहलाता है। इस प्रकार परम शिव के दो रूप दिखाई पड़ते हैं, शिव तत्व और शक्ति तत्व। इनमें शक्तितत्व को विमर्शतत्व या क्रियातत्व भी कहा जाता है। यह शक्तितत्व ही सृष्टि में समर्थ है, दूसरे शब्दों में स्रष्टा, शक्ति द्वारा सृष्टि करता है। यह शक्तितत्व स्वतन्त्र या स्वच्छन्द तत्व है क्योंकि चैतन्य का एक अंश का रूप होने पर भी यह जड़ तत्व की सृष्टि में समर्थ है। अतः जड़ जगत् शक्ति का एक रूप है, वह वेदान्तियों के अनुसार 'मिथ्या' नहीं है। इसलिए सृष्टि का आनन्द जो शिव या स्रष्टा को प्राप्त होता है, वह भ्रम जन्य आनन्द नहीं है वह अपनी ही शक्ति द्वारा शक्ति के ही रूप में प्राप्त आनन्द है। कलाकार (शिव) अपने रूप शक्तितत्व का विस्तार करके ही आनन्द पाता है।

आभासवाद—

शुद्ध चेतन तत्व का एक अंश द्वारा व्यक्त होना ही "बाह्याभास" है। सारी सृष्टि एक प्रतिबिम्ब के समान है और यह प्रतिबिम्ब चैतन्य में ही

---

१ इस 'स्वच्छन्दतावाद' में "कला कला के लिए है", "कला केवल आनन्द के लिए है" जैसे एकांगी सिद्धान्तों के लिए स्थान नहीं है क्योंकि शैव दर्शन में आनन्द, ज्ञान, क्रिया, इच्छा इनको परस्पर सम्बद्ध माना गया है। ज्ञान, क्रिया व इच्छा इन सबके सामरस्य से ही सृष्टि होती है अतः शिवत्व और सत्य भी सौन्दर्य में सम्मिलित रहते हैं। भेदवादी दृष्टि ही एकांगिनी होती है। प्रधानता के कारण ही अलग नाम दिये जाते हैं न कि सारे अनुभवों में पूर्णतः विच्छिन्न और निरपेक्ष होने के कारण।

प्रतिष्ठित है। जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब आनन्ददायी होता है वैसे ही सृष्टि शिव का ही प्रतिबिम्ब है। कलाकार अपनी सृष्टि में अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है और आनन्दित होता है। जैसे प्रतिबिम्ब और बिम्ब अलग होने पर भी अभिन्न होते हैं, वैसे ही कला व कलाकार भी, अलग प्रतीत होने पर भी एक और अभिन्न हैं। यह प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया शक्ति के माध्यम से व्यक्त होती है। शिव (कलाकार) अपनी ज्ञान, इच्छा व क्रिया द्वारा इस प्रक्रिया को पूर्ण करता है। माध्यम से भिन्न अभिव्यक्ति या सृष्टि की सत्ता नहीं है।[1]

आभास या प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया इस प्रकार है। शिव पंच शक्तियों द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। चित, आनन्द, ईक्षण, ज्ञान व क्रिया ये पाँच शक्तियाँ ही सृष्टि करती है। शिव मूलतः पूर्ण होने पर भी स्वातन्त्र्य शक्ति से, बाह्य रूप में प्रकट होने की इच्छा करता है और सर्वप्रथम वह 'अहम' (मैं हूँ) इस अनुभव को प्राप्त करता है तत्पश्चात् वह 'इदम' (यह है,) ऐसा अनुभव करता है किन्तु ये दोनो अनुभव अस्फुट रहते हैं। इदम्' यह ज्ञान बराबर "अहम्"—इस ज्ञान से संयुक्त रहता है। ज्ञानशक्ति की प्रधानता इस अवस्था में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। अहम व इदम् यदि अस्फुट अवस्था में ही रहें और ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का संयोग इनके साथ न हो तो सृष्टि नहीं हो सकती।[2] इसीलिए ज्ञान शक्ति के साथ जब अहम् व इदम् के अनुभवों का संयोग होता है तब शैव-दर्शन शिव की इस स्थिति को "ईश्वर" संज्ञा देता है। कलाकार को भी इसलिए ईश्वर या स्रष्टा कहा गया है। ईश्वरीय अवस्था

---

१ अभिव्यक्ति के विवेचन में अलंकार, भाषा छन्द आदि के भेद करते हुए व्याख्या करना केवल बाह्य व्याख्या है और मात्र व्यावहारिक है। वास्तविक दृष्टि से अभिव्यक्ति को, माध्यम से अथवा कलाकार की मानसिक शक्तियों से भिन्न नहीं किया जा सकता।

२ शैव दर्शन का यह निर्णय सौन्दर्य शास्त्र के लिए अत्यधिक महत्व पूर्ण है। मनोविश्लेषक कला में 'अचेतन' मन को ही सर्वस्व मानते हैं, जो एक अतिवाद है। इसी प्रकार दिवास्वप्न या भ्रम सृष्टि की इच्छा भी कला का मुख्य कारण नहीं है। कल्पना की अतिशयता में विश्वास करने वाले ज्ञान का महत्व कला में स्वीकार नहीं करते अतः यह सिद्धान्त भी अतिवादी है। कला-सृष्टि में ज्ञान शक्ति अनिवार्य रूप से रहती है। कॉलिंगवुड ने तो ऐन्द्रिय अनुभव (Sensation) और विचार (Thought) के मध्य 'कल्पना (Imagination) का स्थान माना है।

म क्रिया शक्ति काय करने लगती है। क्रिया शक्ति के पूव सृष्टि कलाकार के मन मे स्थिर रहती है। क्रिया के द्वारा वह बाह्य रूप धारण करती है।

अहम् व इदम् के अनुभव को माया, कला, विद्या राग, काल व नियति-ये तत्व शासित करते हैं, ये ही कचुक या आवरण हैं, इनसे आवृत होकर ही शिव सृष्टि करता है। इनम अहम् व इदम् का भेद करने वाली शक्ति 'माया' कहलाती है। इसी मायाशक्ति से शिव को 'जीव' सज्ञा प्राप्त होती है।

माया रूप का गोपन करती है अथात जो पूण चैतन्य है, उसे अश रूप मे प्रकट होने देती है। यही माया सृष्टि कारिणी होने से "कला" कहलाती है। यह कला का 'दाशनिक" और विशेष अर्थ है। "कला" से ही कम की ओर हम उन्मुख होते हैं और कम की ओर उन्मुख होने के लिये यह आवश्यक है कि शुद्ध चतन्य जाग्रत हो और साथ ही स्वरूप गोपन हो। इसीलिए प्रारम्भ मे ही कहा गया है कि परम शिव की स्थिति मे अर्थात् शुद्ध चतन्य की स्थिति मे, सृष्टि सभव नही है। 'कला' का अर्थ क्या है? कला का अथ है—'किंचित्कर्तृत्व'—'कुछ करना' ही कला है। अत केवल कविता लिखना या चित्रकारी ही कला नही है अपितु प्रत्येक काय मे कला शक्ति काय करती है, और प्रत्येक काय मे—प्रत्येक सृष्टि मे वही आनन्द प्राप्त होना चाहिए जो कवि को काव्य-सृष्टि से मिलता है। प्रत्येक कम मे कर्ता की मानसिक स्थिति वही होती है जो एक कलाकार की होती है। मिट्टी से छोटे-छोटे घर बनाने वाला बालक खेत को तयार करने वाला कृषक, गृहस्थी सँवारने वाली गृहिणी, ये सब कलाकार हैं, अतर केवल यह है कि काव्य, चित्र आदि के सृजन मे कलाकार का स्वरूप-गोपन कुछ कम होता है और वह उस समय, निकटतम लाभ की इच्छा से सृजन नही करता। यदि कृषक की मानसिक स्थिति भी यही रहे तो वह भी कलाकार कहा जा सकता है। इसी लिये शव-दशन मे कला के दो रूप स्वीकृत हैं। प्रथम अशुद्ध कला,—इसमें जडता प्रधान रहती है, जडता का अथ है, आतरिक प्रकाश का किंचित् अभाव। ईर्ष्या, द्वेष, मोह, क्रोध आदि मे शुद्ध कला की सृष्टि सभव नही है। द्वितीय, शुद्ध कला—इसमे जडता दूर हो जाती है, आतरिक प्रकाश या चतन्य

ऐंद्रिय अनुभव को, कल्पना म, ज्ञानशक्ति ही परिवर्तित करती है, बिना ज्ञानशक्ति के कल्पना, ऐंद्रिय अनुभवो को इच्छित रूप नही दे सकती। अत कला मे ज्ञानशक्ति मान्य होनी चाहिए, किंतु ज्ञानशक्ति का बौद्धिक रूप जिसका प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र म होता है, सृष्टि के लिए आवश्यक नही है।

का उदय होता है, इसीलिये गीत, काव्यादि मे आनन्द उत्पन्न होता है। उदासीनता के दूर होने से, व्यक्तिगत जड़ता के नाश से और शुद्ध चेतना के प्रास्फुरित होने से शुद्ध कला का जन्म होता है। सुन्दर से सुन्दर शब्दों और उक्ति वैचित्र्य का घनघोर प्रयोग करने पर भी यदि स्रष्टा की चेतना शुद्ध नही है, यदि वह निजी क्षोभ व ईर्ष्या आदि से पीडित है तो शुद्ध कला का जन्म असभव है। शिल्प व जादू (वाक् चातुर्य) को "कला" नही कह सकते यद्यपि इनकी सहायता कला मे आवश्यक है। कला मे आत्म परामर्श, स्वरूप गोपन, विकल्प, ज्ञान व बाह्य रूप मे अपने को व्यक्त करने की इच्छा, ये पाच तत्व अनिवार्य हैं। शुद्ध चैतन्य तत्व स्वयं अपने को आवृत करके, कला के रूप मे अभिव्यक्त होता है।

जिस प्रकार बीज मे सर्वप्रथम उच्छूनता (Swelling) उत्पन्न होती है, वैसे ही कर्त्ता मे यह कला उत्पन्न होती है। ज्ञान, इच्छा व क्रिया द्वारा यह कला शक्ति स्वयं प्रेरिका, बनकर स्रष्टा से सृष्टि कराती है। कला द्वारा सृष्टि करके स्रष्टा अपने को सार्थक मानता है। अपने को कर्त्ता मानने से, उसे एक विशेष आनद प्राप्त होता है, उसी प्रकार, जिस प्रकार शिव को सृष्टि कार्य मे आनद होता है। अतः कला द्वारा कर्त्ता अपनी कर्तृता (करने की शक्ति) की अभिव्यजना करता है। कला द्वारा ही कर्त्ता भोग करता है और आनद पाता है।[1]

कला ज्ञान के अभाव मे अध पतन की ओर भी ले जाती है। कला को मात्र मनोरंजन समझने वालो के लिये यह महत्वपूर्ण है। ज्ञान के पूर्व कला "दोषाख्य" है और ज्ञान के बाद "शुभा', यही कला का "मर्म" है। कला का मर्म समझ लेने से निर्लिप्तता आती है। स्रष्टा विवेकहीन होने पर दोषपूर्ण कला को जन्म देगा और श्रोता या दर्शक भी ज्ञान के अभाव मे शुद्ध कला से भी अध पतन को प्राप्त होगा, यह निश्चय है। विवेक क्या है? अकर्तृत्व का अनुभव ही विवेक है। इसके बिना स्रष्टा अहकार के कारण विकास नही कर सकता और पाठक या दर्शक आसक्ति के कारण कला को केवल वासना-पूर्ति का साधन समझ बैठेगा। विवेक के उत्पन्न होने पर न केवल कविता चित्र आदि अपितु जगत् का प्रत्येक अनुभव, प्रत्येक कार्यकलाप, प्रत्येक दृश्य आनद

---

१ कर्तृशक्ति व्यञ्जकत्वस्य कला सात प्रयोजिका।
तत्र कलासमायुक्तो भोगेऽणु कर्तृकारकम-तन्त्रालोक नवम आह्निक

का सृजन करता है और सुख दु खादि मे चेतना का क्षोभ, उसकी आतरि
शाति का नष्ट नही कर पाता। चेतना के बाह्य स्तरो, मन व इन्द्रिय ज
को क्षुब्ध करके जो कलाकार आतरिक रूप से स्वस्थ और तटस्थ नहीं
सकता, वह कलाकार नहीं है मानसिक रोगी है। इसीलिये कला का ज
सात्विक अवस्था मे सभव है। 'तामस व रजस' की स्थिति मे कला का ज
नही होता, शिल्प और शोक का जन्म होता है। 'ध्वन्यालोक', 'अभिन
भारती' तथा 'काव्य प्रकाश' में इस सात्विक स्थिति का विस्तार से वर
किया गया है। कला के लिये सात्विकता अनिवार्य है। सात्विक स्थिति
ज्ञान-शक्ति की सहायता से 'राग' की व्यजना ही 'कला' कहलाती है।

इस प्रकार विद्या से विषय का चयन राग से निश्चित विषय के प्र
तल्लीनता तथा कला मे रूपो की सृष्टि होने पर ही सृष्टि होती है। यह सृ
काल विशेष मे ही होती है, अत काल भी सहायक तत्व है। नियति तत्व
सृष्टि या कर्म विशेष करने की प्रेरणा होती है, अत माया, कला, विद्या, रा
काल व नियति ये कचुक सृष्टि के लिये अनिवार्य है। इनमे 'काल' को छोडक
सभी मानसिक प्रेरणाएँ या स्थितिया है। नियति ईश्वरीय प्रेरणा है अत उ
हम छोड सकते हैं। विद्या ज्ञान का ही एक रूप है, बुद्धि भी ज्ञान का ही ए
रूप है जो इन सभी कचुको से होने वाली सृष्टि से उत्पन्न "अहम्" का मन
कराती है। इसी बुद्धि मे शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, अत बुद्धि द्वा
अह का मनन या परामर्श वस्तुत स्वय चैतन्य का ही परामर्श है। इस प्रका
उपर्युक्त सृष्टि की सारी प्रक्रिया चैतन्य के द्वारा एक 'आभास' या प्रतिबिम
की प्रक्रिया है। आत्मा की भित्ति पर ही, आत्मा की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से
यह सारी क्रीडा हो रही है और इस क्रीडा के द्वारा स्रष्टा आनद मे निमग
रहता है।

आनन्दवाद—

अविद्या या माया के कारण आनदरस से पूर्ण यह जगत् जो शिव क
कला है, दुख रूप प्रतीत होता है। माया के कारण भेद-बुद्धि उत्पन्न होती
और कर्त्ता जगत् को अपने से भिन्न समझ बैठता है। वह आतरिक प्रकाश य
विवेक के अभाव मे कल्याणी सृष्टि को अपने अज्ञान से उत्पन्न दुख के कार
दुखमयी मान लेता है परन्तु यह उदासीनता या अवसाद कला के मर्म को
समझ पाने के कारण है। जगत् सूक्ष्म चेतना का ही व्यक्त रूप है, यह
जान पर अपरिमित आनद उत्पन्न होता है। यह स्फुरणा चेतना का

कहलाती है।[1] इससे युक्त व्यक्ति "सहृदय" कहलाता है।[2] और तब दु खादि भावनाओ म भी वह आनदमय रहता है। शाव व बीभत्स के वणन मे आनद इसीलिये मिलता है कि उस समय सहृदय सात्विक स्थिति मे होन पर निजी राग व द्वेप से ऊपर उठ जाता है। उस समय विभाव, अनुभाव, सचारी भावा आदि के वणन या दशन स 'सहृदय' अपनी चेतना के शुद्ध रूप की झलक पा जाता है और उस शुद्ध चेतना के ऊपरी स्तरो—सुख-दु खादि भावो का, जो कि साधारणीकृत हो जाते हैं, भोग करता है। इस प्रकार कला द्वारा सहृदय अपने भावो का भोग करता है। कला का सौदय 'सहृदय' की इस मानसिक अवस्था को उद्दीप्त करन म है। कला द्वारा वर्णित विषय 'सहृदय' की स्फुरणा को जाग्रत कर देत ह, और तब सहृदय अपन ही आनन्द की "चवणा" करता है। यहा विषयी गत सौंदय और विषयगत सौदय दोनो एक हो जाते हैं, यही "रसावस्था" है। रस की अवस्था मे, चेतना मे प्रतिबिम्बित होने वाल सुख-दु खादि वासनाओ का भोग आनद देता है जबकि शुद्ध चेतना के सुप्त रहने पर, निजी सुख-दु ख के अनुभव से सकट मोह और शोक होता है। जिस प्रकार दपण म भूमि जलादि प्रतिबिम्बित ह ते है और साथ ही वे दपण से अभिन भी रहते हैं, उसी प्रकार रसावस्था मे, शुद्ध चेतना के जाग्रत हो जाने पर अर्थात् विगलितवेद्य होने पर (निजता, परतादि का नाम न रहने पर) सुख दु खादि भावनाओ का वणन, चित्रण या प्रदशन आनन्ददायी होता है।

यह सारा विश्व चैतन्य से सलग्न होकर ही आभासित हो रहा है। अत चैतन्य स्वच्छ है। उसम सब विश्व प्रकाशित है। यदि सवित् या चैतन्य स्वच्छ नही है तो उसमे पदाथ का प्रतिबिम्ब नही पड सकता। प्रतिबिम्ब रूप का ही क्यो दिखाई पडता है? क्योकि रूप तेज का साथी है अत नेत्र को केवल रूप का ही प्रतिबिम्ब दिखाई पडता है स्पश आदि का नही किन्तु नाद, स्पश आदि का भी होता है अत रूप का प्रतिबिम्ब प्रधान होने से, कला के क्षेत्र मे रूप की ही महिमा है, यद्यपि शब्द, स्पश रस और गध भी आनद दायक हैं। रूप ही स्पर्शादि की ओर बढने क लिये उत्तेजित करता है। यथा

---

१ सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
सषा सारतया प्रोक्ता हृदय परमेष्टिन।

२ आनन्दशक्ति सवोक्ता, यत सहृदयोजन —

वही

कामिनी के रूप को देखकर ही, स्पर्शादि की इच्छा कामुक करता है। वसे ही रूपों के प्रतिबिम्ब से हम क्रमश जगत् के मूल मे स्थित चेतना की ओर बढते हैं। रूप, रस, गध आदि का बार बार भोग करके भी हम तृप्त नही होते क्योकि इन आभासो के पीछे शुद्ध चेतना की प्राप्ति जब तक नही होती, तब तक ये रूपरसादि क्षोभ कर ही रहते है¹ किन्तु आनद के मूल स्रोत को प्राप्त कर लेने पर रूप, रस, गधादि क्षोभकर नही होते, अपितु वे शाति के सहायक हो जाते हैं। अत रसावस्था मे, चेतना का आवरण एव सीमा तक भग हो जाने पर, रूप, रस, गध सुख दु खादि सब आनद के सहायक हो जाते हैं। अत जगत् म जो आह्लादकारी पदार्थ हैं, रूप हैं, वे सब आनद के मूल स्रोत से, सलग्न कर देने पर पूजा के उपकरण बन जाते है।² इसीलिये भारतीय काव्य और कला रहस्यात्मक और सकेतात्मक है, व्यजना का इसीलिये हमारे यहाँ आदर है। केवल भोग की लालसा को कला द्वारा व्यक्त करना, पाप माना गया है। इस लालसा को शैव दर्शन 'लोलिका' कहता हैं। 'लोलिका' मे अपूर्णता का अनुभव रहता है अत लौल्य प्रधान कला विनाशकारिणी है। मनोविश्लेषण की भाषा मे यह तो यह कला हमारा उदात्तीकरण नही करती अथवा कॉलिङ्गवुड की शब्दावली का प्रयोग करें तो उसमे भावनाओ और प्रवृत्तियो का वशीकरण (Domesticating) नही होता।

निष्कर्ष—शैव-दर्शन से प्रथम शिक्षा यह मिलती है कि कला स्वत स्फूर्त चेतना का उन्मीलन है। चेतना का "स्वरूप" ही ऐसा है कि उसमे अपने को प्रकाशित करने की इच्छा रहती है, अत इस दृष्टि से इस सिद्धात को "स्वरूपवाद" कहा जा सकता है।

---

१ प्रच्छन्न रागिणीकान्त- प्रतिबिम्बितसुन्दरम्
दर्पणं कुचकुम्भ्या, स्पर्शयति न तत्प्रति—तन्त्रा० तृतीय आह्निक

२ यत्किंचिन्मानसाह्लादि, यत्रक्वापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि—पूजोपकरणं हि तत्—तन्त्रा० चतु० आ०

तान्त्रिकों और वैष्णवो ने इसीलिये इन्द्रिय और मानस जगत को—शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध, इच्छा, आशा, रति आदि को पूजा का उपकरण स्वीकार किया था और केवल भगवान को इनका लक्ष्य बनाकर—लीला वर्णन द्वारा कला और साहित्य के क्षेत्र मे अद्भुत सृष्टि की थी। किसी महान लक्ष्य के लिये यदि ऐन्द्रिय जगत व मानसिक जगत को उपकरण न बनाया जायगा, तो कला भ्रष्ट हो जायगी।

(२) स्रष्टा व सृष्टि एक और अभिन्न हैं, सृष्टि मे स्रष्टा अपने शक्ति रूप से रूपांतरित हो जाता है अत स्रष्टा व सृजन मे आत्यंतिक एकता है। जिस सृजन मे कलाकार के 'स्व' पर प्रकाश नही पडता, उसके व्यक्तित्व का अंश व्यक्त नही होता, वह कलाहीन हो जाती है।

(३) कला का आनन्द स्वत अपने मे पूर्ण होता है, वह शिवत्व या सत्य का विरोधी नही है परन्तु ये तत्व अप्रत्यक्ष रूप से कला को प्रभावित करते हैं। काट जिसे "उद्देश्यहीन उद्देश्य' (Purposiveness without Purpose) कहता है, वही वस्तुत सुन्दर सृष्टि का उद्देश्य होता है।

(४) 'सुन्दर किसे कहते हैं, कोई पदार्थ सुन्दर क्यो लगता है? आदि प्रश्नो के उत्तर मे निवेदन यह है कि प्राय जगत् के सभी पदार्थों को सुन्दर मानते हैं, जो पदार्थ अधिक सुन्दर प्रतीत होते हैं, उनमे ब्रह्मतेज अधिक व्यक्त हो रहा है, ऐसा उनका विश्वास है। 'ज्यामिति' के आधार पर सौंदर्य के बाह्य-कारणो की मीमासा इस दर्शन मे नही मिलती, परन्तु अंतर्मुख सौंदर्य (Subjective beauty) की व्याख्या अवश्य मिलती है। सुन्दर या असुन्दर—यह अनुभव हमारी वासना पर निर्भर करता है। देश, जाति, काल, पात्र के भेद से सौंदर्य के अनेक स्तर व मापदण्ड बन गये हैं परन्तु चेतना के साथ सम्पृक्त हो जाने पर असुन्दर पदार्थ भी सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं। शिवत्व तथा सत्य का ज्ञान हो जाने पर ही सौंदर्य का वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है। अत सौंदर्य का शिव और सत्य से अभिन्न सम्बन्ध है। इसका अर्थ यह नही है कि सौन्दर्य सृष्टि स्थूल नैतिकता और दर्शन शास्त्र से निर्णीत सत्य का दस्तावेज है। शिव तथा सत्य अप्रत्यक्ष रूप से कलाकार की चेतना मे स्फूर्ति उत्पन्न करते हैं, अत आत्मस्फुरण की अभिव्यक्ति कला है और 'आत्म' का निर्माण शिव और सत्य के ज्ञान से पूर्ण होता है, बाह्य जगत् तथा समाज आदि सभी का ज्ञान "शिव-सत्य" मे सम्मिलित है।

(५) पारमार्थिक दृष्टिकोण से सौंदर्य सृष्टि के ये सिद्धांत हीगेल से सादृश्य रखते है। एक सत्य या विचार (Idea) ही कला मे व्यक्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार एक ब्रह्म जगत् के द्वारा व्यक्त हो रहा है।[1]

---

1 In Art, reality shines as beauty through a medium which may be directly presented as in the cases of a statue a building or strain of music or in sensuous imagery as in poetry (History of Modern Philosophy—W K Wright)

(६) सृजन-क्षणो के ज्ञान शक्ति, कल्पना (इच्छा का एक रूप)[२] राग आदि वृत्तियो मे पूर्ण सामञ्जस्य की आवश्यकता है । "वृत्ति-सामरस्य' ही तादात्म्य की सृष्टि करता है। बिना 'तादात्म्य' के आनद की सृजना नहीं हो सकती। अत कला की सफलता 'सामरस्य' पर आधारित हैं। किंचित् सतुलन के अभाव मे ही कला विकलाग हो जाती है। उदाहरण के लिये 'कामायनी' म ज्ञानशक्ति व रागतत्त्व का सामजस्य पूर्ण मात्रा मे नही हो सका उसमे बुद्धि तत्व किन्ही सर्गों मे अधिक व्यक्त हुआ है। परन्तु यह स्मरणीय है कि 'कामायनी' मे कई स्थलो मे पर्याप्त "सामरस्य" है । पतजी के नूतन काव्य मे बुद्धितत्त्व बहुत अधिक ह अत काव्य, घोषणा मे परिवर्तित हो गया ह, यद्यपि उसमे यत्र-तत्र बिखरा हुआ काव्य वैभव अवश्य मिलता ह। सामरस्य' का अत्यधिक अभाव मात्र रूपवादी (फार्मलिस्ट) काव्य मे मिलता ह। इसमे सवेदन की अस्थिरता के क्षणो म ही अभिव्यक्ति होती ह, अत विचार-सूत्र कही बहुत क्षीण, कही अव्यवस्थित और कही विकृत रूप मे (कुण्ठा मे) व्यक्त होता ह। रागतत्व के उलझे हुए तार, सगतिहीन सगीत को जन्म देत ह, "सनकी" काव्य की भी यही स्थिति ह। आज की चित्र कला मे भी 'सामरस्य' की न्यूनता ह। सृजन के समय यदि मानसिक स्थिति सूत्रहीन होगी, तो सृष्टि के पश्चात्—मानसिक स्थिति बदल जान पर कला का समझ लेना दुःसाध्य होगा। शैव सौंदर्य शास्त्र, अधिदर्शनात्मक ह उसम चेतना की प्राथमिकता स्वीकृत होन से वह, वैज्ञानिक और वस्तुगत चिंतन नही ह लेकिन उसम अनेक अतर्दृष्टियाँ और महत्वपूर्ण सकेत हैं।

---

२ 'कल्पना' शब्द का प्रयोग शैव शासन मे नहीं मिलता, किंतु इसे इच्छा का एक रूप माना गया है। कुछ लोग इसे "प्रातिभ ज्ञान' यह नाम देना चाहते हैं, जो गलत है क्योंकि प्रातिभ-ज्ञान' स्वय प्रकाश्य ज्ञान (Intuition) है, जबकि 'इच्छा' या कल्पना म ज्ञान शक्ति की जागरूकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है, प्रातिभ ज्ञान अकस्मात् उदित होता है।

कलाओं का वर्गीकरण

क्रोचे का मत है कि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है इसलिए उसका विभाजन असम्भव है। कला जब मूर्त रूप में उपस्थित होती है तब उसके विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। इन रूपों की भिन्नता में तात्विक भिन्नता न होकर केवल बाह्य भिन्नता होती है। उसकी मूल अभिव्यक्ति एक ही रहती है। इसलिए तात्विक दृष्टि से कला का विभाजन सम्भव नहीं।

कलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भारत के सिवा, पाश्चात्य देशों में विस्तार से विचार हुआ है। भारतीय विचारकों ने काव्य (साहित्य) को 'कला' (६४ कलाएँ, जिनमें छन्दपूर्ति भी सम्मिलित है) से भिन्न माना है। उन्होंने काव्य की गणना विद्या में तथा कलाओं की अविद्या में की है। स्थापत्य, मूर्ति निर्माण तथा चित्र—ये कला के क्षेत्र में आते हैं जब कि साहित्य (काव्य) और संगीत की चर्चा एक साथ की गई है—

> "साहित्य संगीत कला विहीन
> साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन"

इस प्रकार के भारतीय विभाजन का आधार क्या है? विद्या (काव्य, संगीत) में 'रस' को लक्ष्य माना गया है, जब कि अन्य कलाओं में "कौशल" के द्वारा बाह्य-सौन्दर्य की सृष्टि को ध्यान में रखकर विचार किया गया है। काव्य और संगीत में विषय और विषयी का जो तादात्म्य पाया जाता है, वह कलाओं में कम मिलता है।

प्रसाद ने काव्य और अन्य कलाओं के बीच स्पष्ट भेद करते हुए काव्य के विषय में लिखा है—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प और विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभयपक्ष प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" कला को उपविद्या मानने से वह विज्ञान से अधिक निकट सम्बन्ध रखती है। प्रसाद की उपयुक्त धारणानुसार काव्य को कला नहीं माना जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी प्रसाद के मत का समर्थन करते हुए काव्य को कला मानने की प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं। उनका दृढ़ मत है कि काव्य का कला और सौन्दर्य शास्त्र से कोई भी सम्बन्ध नहीं हो

सकता। वे कहते है—"सौन्दयशास्त्र मे जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पो पर विचार होने लगा है, उस प्रकार काव्य का भी, सबसे बेढङ्गी बात तो यही हुई।" शुक्ल जी का मत ह कि काव्य को कला मानने की भ्रात धारणा के ही कारण हिन्दी-समीक्षा मे अभिव्यजनावाद, सौन्दयवाद और रहस्यवाद आदि का विवेचन होने लगा। यदि ऐसा न होता तो काव्य म इनके विवेचन की आवश्यकता ही न पडती क्योंकि इनका काव्य से कोई सीधा सम्बन्ध नही ह।

प्रसाद और आचाय शुक्ल के उपयुक्त मतो को ही यदि अन्तिम मान लिया जाय तो हीगल द्वारा वर्णित ललित कलाओ के विभाजन पर विचार करने का प्रश्न ही नही उठता। काव्य को विद्या तथा अन्य कलाओ को उपविद्या मानने का प्रश्न ही हीगेल के सम्मुख न था क्योकि वह समस्त कला को "आइडिया" का माध्यम मानता था। हमारा मत है कि हिन्दी म उक्त दोनो विद्वानो के समय तक हिन्दी म हीगेल के कला विभाजन वाले सिद्धान्त का सही विवेचन नही हो सका था। इधर परवर्ती विद्वानो ने इस विषय पर काफी प्रकाश डाला ह।

पाश्चात्य कलाशास्त्र की विचार प्रणाली भारतीय विवेचको की विचार प्रणाली से भिन्न रही ह। इसलिए हमे पहले योरोप म हुए कला विषयक विचारो को दखना पडेगा।

भारत की तरह योरोप मे कला और विद्या का विभाजन नही मिलता, यही कारण है कि कला विभाजन मे वहाँ के विचारको को अनेक असुविधाओ और असगतियो का सामना करना पडा है। ग्रीस मे पाँचवी शती ईसा पूर्व से ललितकलाओ और उपयोगी कलाओ (Craft) का भेद स्वीकृत हो चुका था परन्तु फिर भी सामान्य भाषा मे इस अन्तर को स्पष्ट नही किया गया था।[1] क्रमश वहाँ उपयोगी व ललित कलाएँ भिन्न होती गई। अरस्तू म यह भेद स्पष्ट रूप से स्वीकृत है। इस भेद का आधार है 'पुनप्रस्तुति' (Representation) का सिद्धान्त। जहाँ वस्तु को शब्द, रग, रेखा आदि के माध्यम से पुन प्रस्तुत किया जाय, वही सौन्दय होता है। उपयोगी कलाओ मे दारकार, लौहकार, कुम्भकार आदि का ध्यान वस्तु की पुनर्प्रस्तुति पर न होकर केवल 'उपयोग' पर होता है अर्थात् सौन्दय गौण और उपयोग प्रधान होता है।

1—History of Aesthetics—B Bosanquet, Page 38

कलाओं का वर्गीकरण

क्रोचे का मत ह कि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति ह इसलिए उसका विभाजन असम्भव ह। कला जब मूत रूप में उपस्थित होती ह तब उसके विभिन्न रूपो के दशन होते हैं। इन रूपो की भिन्नता मे तात्विक भिन्नता न होकर कवल बाह्य भिन्नता होती है। उसकी मूल अभिव्यक्ति एक ही रहती है। इसलिए तात्विक दृष्टि से कला का विभाजन सम्भव नही।

कलाओ मे वर्गीकरण के सम्बन्ध मे भारत के सिवा, पाश्चात्य देशो मे विस्तार से विचार हुआ है। भारतीय विचारको ने काव्य (साहित्य) को 'कला' (६४ कलाए, जिनमे छन्दपूर्ति भी सम्मिलित है) से भिन्न माना है। उन्होने काव्य की गणना विद्या म तथा कलाओ की अविद्या मे की है। स्थापत्य, मूर्ति निर्माण तथा चित्र—ये कला क क्षेत्र म आत है जब कि साहित्य (काव्य) और सगीत की चचा एक साथ की गई है—

"साहित्य सगीत कला विहीन,
साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन"

इस प्रकार के भारतीय विभाजन का आधार क्या है? विद्या (काव्य, सगीत) मे 'रस' को लक्ष्य माना गया है, जब कि अन्य कलाओ मे "कौशल" के द्वारा बाह्य-सौन्दय की सष्टि को ध्यान मे रखकर विचार किया गया ह। काव्य और सगीत मे विषय और विषयी का जो तादात्म्य पाया जाता ह, वह कलाओ मे कम मिलता ह।

प्रसाद ने काव्य और अन्य कलाओ के दो स्पष्ट भेद करत हुए काव्य के विषय मे लिखा ह—"काव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति ह जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प और विज्ञान से नही ह। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा ह। आत्मा का मनन किया जो वाङ्मय रूप म अभिव्यक्त होती ह वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य क उभयपक्ष प्रेय और श्रेय दोनो से परिपूण होती ह।" कला का उपविद्या मानने मे वह विज्ञान से अधिक निकट सम्बन्ध रखती ह। प्रसाद की उपयुक्त धारणानुसार काव्य को कला नही माना जा सकता। आचाय रामचन्द्र शुक्ल भी प्रसाद के मत का समथन करते हुए काव्य को कला मानने की प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं। उनका दृढ मत ह कि काव्य का कला और सौन्दय शास्त्र से कोई भी सम्बन्ध नही ह।

सकता । वे कहते हैं—"सौन्दर्यशास्त्र मे जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पो पर विचार होने लगा है, उस प्रकार काव्य का भी, सबसे बेढङ्गी बात तो यही हुई ।" शुक्ल जी का मत है कि काव्य को कला मानने की भ्रांत धारणा के ही कारण हिन्दी-समीक्षा म अभिव्यजनावाद, सौन्दर्यवाद और रहस्यवाद आदि का विवेचन होने लगा । यदि ऐसा न होता तो काव्य मे इनके विवेचन की आवश्यकता ही न पडती क्योकि इनका काव्य से कोई सीधा सम्बन्ध नही है ।

प्रसाद और आचार्य शुक्ल के उपयुक्त मतो को ही यदि अन्तिम मान लिया जाय तो हीगेल द्वारा वर्णित ललित कलाओ के विभाजन पर विचार करने का प्रश्न ही नही उठता । काव्य को विद्या तथा अन्य कलाओ को उपविद्या मानने का प्रश्न ही हीगेल के सम्मुख न था क्योकि वह समस्त कला को "आइडिया" का माध्यम मानता था । हमारा मत है कि हिन्दी के उक्त दोनो विद्वानो के समय तक हिन्दी म हीगेल के कला विभाजन वाले सिद्धान्त का सही विवेचन नही हो सका था । इधर परवर्ती विद्वानो ने इस विषय पर काफी प्रकाश डाला है ।

पाश्चात्य कलाशास्त्र की विचार प्रणाली भारतीय विवेचको की विचार प्रणाली से भिन्न रही है । इसलिए हमे पहले योरोप म हुए कला विषयक विचारो को देखना पडेगा ।

भारत की तरह योरोप मे कला और विद्या का विभाजन नही मिलता, यही कारण है कि कला विभाजन मे वहाँ के विचारको को अनेक असुविधाओ और असगतियो का सामना करना पडा है । ग्रीस मे पाचवी शती ईसा पूर्व से ललितकलाओ और उपयोगी कलाओ (Craft) का भेद स्वीकृत हो चुका था परन्तु फिर भी सामान्य भाषा मे इस अन्तर को स्पष्ट नही किया गया था ।[1] क्रमश वहाँ उपयोगी व ललित कलाएँ भिन्न होती गई । अरस्तू म यह भेद स्पष्ट रूप से स्वीकृत है । इस भेद का आधार है 'पुनप्र स्तुति' (Representation) का सिद्धान्त । जहा वस्तु को शब्द, रग, रेखा आदि के माध्यम से पुन प्रस्तुत किया जाय, वही सौन्दर्य होता है । उपयोगी कलाओ मे दारकार, लोहकार, कुम्भकार आदि का ध्यान वस्तु की पुनप्र स्तुति पर न होकर केवल 'उपयोग' पर होता है अर्थात् सौन्दर्य गौण और उपयोग प्रधान होता है ।

1—History of Aesthetics—B Bosanquet, Page 38

ग्रीक विचारकों के पश्चात् 'क्रोचे' के पूर्व तक कल्पना और भाव की 'ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति' को कला का लक्षण माना जाता रहा अतएव उपयोगी कलाओं को ललित कलाओं से भिन्न मान लेने पर भी यह विचार न हो सका कि क्या भाव, कल्पना अथवा माध्यम के आधार पर काव्य, संगीत, चित्रादि कलाओं का विभाजन हो सकता है।

सर्व प्रथम 'क्रोचे' ने कलाओं का विभाजन इस आधार पर किया कि कला एक अभिव्यक्ति (Expression) है और सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति, वागाभिव्यक्ति है क्योंकि वाक् के द्वारा विचार, ऐन्द्रिय संवेदन तथा भाव तीनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है। वाक् में शब्द, चेष्टा (Gesture) तथा स्वर संघात (Accent) रहते हैं, अतएव कलाओं का विभाजन इस प्रकार हो सकता है—

१—वाक्-कला (Arts of speech)

२—रूप-कला (Arts of form)

३—संवेदन क्रीडा प्रधान कला (Arts of play of sensation)

क्रोचे ने कलाओं में श्रेष्ठता का भी निर्णय किया है। काव्य सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसमें अभिव्यक्ति की शक्ति सबसे अधिक है। काव्य में सादृश्य तथा क्रीडा (Play) दोनों विद्यमान हैं जबकि चित्रकला में केवल सादृश्य' रहता है क्रीडा नहीं। मूर्ति तथा स्थापत्य कलाओं में 'ऐन्द्रिय सत्य" (Sensuous truth) ही रहता है, समता व क्रीडा नहीं। 'सादृश्य' का अर्थ भ्रम या प्रवंचना नहीं है। उदाहरण के लिए काव्य में चन्द्र, पर्वत, सरितादि की अभिव्यक्ति होने पर जो सादृश्य उत्पन्न होता है, वह भ्रम नहीं है परन्तु फिर भी सादृश्य है अतः काव्य और चित्र दोनों में 'भ्रम रहित सादृश्य' मिलता है, जबकि स्थापत्य व मूर्ति कला में "ऐन्द्रिय सत्य" की प्राप्ति होती है। इसमें वस्तु का रूप चित्र व काव्य से कहीं अधिक मात्रा में अभिव्यक्त होता है, तभी उसे 'सत्य' कहा गया है। किन्तु यह स्मरणीय है कि स्थापत्य में भी पूर्ण सत्य नहीं रहता यद्यपि उसमें सादृश्य रहना अवश्य है।

यह एक विचित्र तथ्य है कि 'संगीत' को इस विभाजन में स्थान नहीं मिला। संगीत स्वर पर आधारित है। संगीतात्मक अभिव्यक्ति में स्वर के ज्यामितिक (Mathematical) सम्बन्ध से मिश्रित ' विचारों व भावों की अभिव्यक्ति होती है। स्वरों द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति में मात्रा का बाहुल्य अत्यधिक रहता है अतः इस अभिव्यक्ति में अस्पष्टता व धूमिलता इतनी अधिक रहती है कि वह व्यक्तिगत रुचि की वस्तु बन जाती है।

सौंदर्य प्रसाद (Pleasentness) और शिव (Good) दोनो से भिन्न है जो अन्य कलाओ द्वारा तो अभिव्यक्त होता है परन्तु सगीत म 'प्रसादता' की ही प्रधानता रहती है, अभिव्यक्ति गौण हो जाती है (अपनी धूमिलता के कारण)। 'प्रसादता' की दृष्टि से सगीत श्रेष्ठ है परन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह स्थापत्य से भी निम्नकोटि की कला है।

ग्रीक विचारक सगीत का महत्व समझते थे परन्तु काट ने ग्रीक विचारको की उपेक्षा की थी, अत १९ वी शती तक सगीत की प्राय उपेक्षा ही होती रही। कास्ट न इतना अवश्य किया था कि उक्त विभाजन म सगीत को अभिव्यक्ति की दृष्टि स न सही चित्त प्रसादन की दृष्टि से अवश्य महत्व दिया था।

हीगेल ने ऐतिहासिक दृष्टि से भी कलाओ का विभाजन किया है। हीगेल के अनुसार सवप्रथम मनुष्य म वस्तुओ को देखकर कल्पनाएँ और दिवास्वप्न उत्पन्न हुए होगे। विचार, भाव कल्पना आदि मानसिक शक्तियाँ सम्बद्ध रूप मे ही आदिम युग म काय करती रही होगी अत प्रारम्भिक युग की कला को "प्रतीकात्मक कला" कहा जा सकता है। यहाँ प्रतीक का विशेष अथ है। अस्पष्ट मानसिक स्थिति म जो अभिव्यक्ति होती है, हीगेल उसे ही 'प्रतीकात्मकता' कहता है। इस प्रकार की कला म अभिव्यक्ति मनमानी और बुद्धि विरोधी (Irrational) होती है।[1]

'क्लासीकल कला' ऐतिहासिक विकास के द्वितीय सोपान में उदित होती है। इसम विचार, भाव मानवीय सम्बन्ध आदि स्पष्ट रूप से व्यक्त होने लगते हैं।[2]

रोमांटिक कला—ऐतिहासिक विकास के ऊर्ध्व सोपानो मे जब समाज सकुल और मिश्रित हो जाता है तो प्राचीन आदर्शों, निश्चित नियमो, अभिव्यक्ति-शास्त्र द्वारा निश्चित विधानो और रूपो का विरोध होने लगता है

---

१ हीगेल ने प्रतीकात्मक कलाओ के उदाहरणो मे प्राचीन हिन्दू कला को रखा है जिसम देवता की महानता, बल और सामर्थ्य को उसकी अनेक भुजाओ और शस्त्रो द्वारा सकेतित किया गया है। प्राचीन कथाये (Fables) समासोक्ति (Allegory), वणनात्मक तथा शिक्षात्मक कविताएँ भी प्रतीकात्मक कला मे आती है।

२ क्लासीकल कला के उदाहरणो मे हीगेल ने ग्रीक स्थापत्य तथा मूर्ति कला को रखा है।

और मानवीय आत्मा अपनी पूर्ण स्वच्छन्दता, वेग और शक्ति के साथ अभिव्यक्त होती है। विचार तत्व पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है परन्तु भाव और कल्पना की इस कला में उपेक्षा नहीं होती। प्राचीन क्लासीकल कला साधारण (Simple) और स्थिर (Fixed) होती है, जबकि रोमांटिक कला मिश्रित और गतिशील होती है। रोमांटिक कला में विषयीगतता (Subjectivity) अधिक रहती है। क्लासीकल कला में वस्तुपरकता की प्रधानता रहती है।

वस्तुतः हीगेल के विभाजन का आधार 'आइडिया' (विचार या प्रत्यय) है। 'आइडिया' का अर्थ समझ लेने से हीगेल के विभाजन का रहस्य भी समझ में आ जायेगा।

"आइडिया" कला का वस्तुतत्व है। 'आइडिया' की अभिव्यक्ति इन्द्रिय ग्राह्य कल्पनाओं के द्वारा होती है। 'आइडिया' मूर्त (Concrete) होना चाहिए, अमूर्त (Abstract) नहीं। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि "ईश्वर एक है" तो यह अमूर्त प्रत्यय हुआ। इस विचार में न वर्णन है और न बौद्धिक स्पष्टता। निराकारवादी धर्म इसलिए श्रेष्ठ कला को जन्म नहीं दे सके। परन्तु ईसाई धर्म में विचार मूर्त रूप में भी स्वीकृत है। अतः उसमें कला का श्रेष्ठ विकास हुआ है। हिन्दू धर्म में सत्ता को मूलतः निराकार मानने पर भी त्रिदेवों की कल्पना हुई, फिर नाना देवी, देवताओं के रूप, वाहन, वेशभूषा, मुद्रादि की कल्पना हुई अतः इनकी अभिव्यक्ति कला द्वारा सम्भव हो सकी। इससे यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि कला का विषय सर्वदा मूर्त (Concrete idea) ही होता है, अमूर्त सिद्धान्त या विचार नहीं। यदि प्रत्यय मूर्त और स्पष्ट होगा तो 'रूप' भी स्पष्ट और मार्मिक होगा अतः जहाँ रूप या अभिव्यक्ति में दोष दिखाई पड़ता है वहाँ समझना चाहिए कि कलाकार का आइडिया अमूर्त और अस्पष्ट है। चूँकि प्रागैतिहासिक युगों में विचार अमूर्त और अस्पष्ट था इसलिए उन युगों की कला का रूप भी प्रतीकात्मक रहा। क्लासीकल और रोमांटिक कला में विचार तत्व मूर्त रूप में व्यक्त हुआ है। परन्तु क्लासीकल कला में ऐन्द्रियता (Sensuousness) की अधिकता रहती है क्योंकि प्रत्यय अभी 'बौद्धिक आन्तरिकता' के रूप में विकसित नहीं हो पाया। रोमांटिक कला में भाव, कल्पना और ऐन्द्रियता के साथ एक बौद्धिक आन्तरिकता (Intellectual inwardness) भी रहती है। कला का यही श्रेष्ठ रूप है।

हीगेल का प्रसिद्ध कला विभाजन प्रत्यय की मूर्तता के आधार पर ही किया गया है जिसमें माध्यम की दृष्टि से कला की श्रेष्ठता तथा हीनता

निधारित की गई है। परन्तु इस विभाजन के सम्बन्ध मे आलोचको को प्राय यह भ्रम रहा ह कि हीगेल न माध्यम को ही आधार माना ह जब कि हीगेल 'आइडिया' को आधार बनाता है। उपयु क्त विवेचन इसका प्रमाण है।

हिन्दी म बाबू श्यामसुन्दरदास आदि ने माध्यम को ही आधार मान कर कला विभाजन का विवेचन किया ह, जो गलत ह।

हीगेल के अनुसार स्थापत्य प्रथम ललित कला ह। इस कला मे अचेतन (Inorganic) प्रकृति का सादृश्य प्रस्तुत किया जाता है। अत इसका माध्यम भी स्थूल जड पदार्थ ह—पत्थर, ईंट आदि। इसमे ज्यामिति के बाह्य नियमो (वर्गाकार, आयताकार, वृत्ताकार आदि) से काम चल जाता है। प्रकृति की स्थूल बाह्य वस्तुओ मे जो गुण होते हैं उसी स्थूलता तथा आकारादि का सादृश्य इस कला मे मिलता ह। इसम चूकि "आइडिया" अमूर्त रूप मे अभिव्यक्त होता ह अत भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नही हो पाती। कला का निम्नतम रूप इसी कारण स्थापत्य को माना गया ह। इसमे मूर्त 'आइडिया" की अभिव्यक्ति असम्भव है। यह अपनी "आइडिया" की अमूर्तता के कारण हीन ह, न कि केवल माध्यम की स्थूलता के कारण जसा कि प्राय कहा गया है। अत हीगेल द्वारा वर्णित 'माध्यम' विचार या प्रत्यय के साथ सम्बन्ध ह। हीगेल आइडिया" की अमूर्तता और इसलिए माध्यम की स्थूलता के कारण इस कला को निम्नतम कोटि की कला मानता ह। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कला का नाम 'प्रतीकात्मक' कला है। यह कला आइडिया" का अमूर्त ताप मे अनुभव कराती ह। जिस भवन मे विचार अमूर्त रूप मे भी अभिव्यक्त नही होता वह कलाहीन होता है। उसका निर्माण केवल उपयोग की दृष्टि से ही किया जाता ह।

इस कला से केवल इतना ही लाभ होता है कि यह स्थूल वस्तु को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति देने का प्रयत्न कर प्रकृति की उग्रता से बचाने का साधन बनती ह। चत्य, स्तूप, मन्दिर सुन्दर भवन आदि इस कला के सुन्दर उदाहरण हैं। इनम रूप' का कारण 'सामजस्य" ह। मूर्त्ति कला के विषय मे भी यही सिद्धान्त लागू होता ह। इसम "प्रत्यय" अपेक्षाकृत अधिक मूर्त रूप मे व्यक्त होता ह। मन्दिरो के निर्माण म स्थापत्य एव मूर्ति दोनो कलाओ का सम्मिश्रण रहता ह क्योकि मन्दिरो मे ही प्राय मूर्त्तियो की स्थापना की जाती ह। मूर्त्तिकला म स्थूल वस्तु को चेतन मन के अनुरूप मानव आकृति मे ढाला जाता ह। इस प्रकार भाव और एन्द्रिय आकृति मे सामजस्य हो जाता ह।

चित्रकला—इसमे स्थापत्य तथा मूर्ति कला की भांति स्थान (Space) उपयोग तो होता है परन्तु प्रस्तर, मिट्टी आदि के स्थान पर रेखा व रङ्गो प्रयोग होता है। अत इसका माध्यम अधिक विकसित है क्योंकि इसमे इडिया अधिक मूर्त होकर अभिव्यक्त होता है। मानव हृदय प्रत्येक स्पन्दन-ाव विचार, कल्पना आदि चित्र द्वारा व्यक्त हो सकता है। सूक्ष्मतम ल्पनाओ से स्थूलतम वस्तुओ का इस कला द्वारा चित्रण सम्भव है।

सगीत चित्र से भी अधिक सूक्ष्म कला है। इसमे प्रत्यय की अभिव्यक्ति माध्यम (स्वर) की सूक्ष्मता और अन्तमु खता के कारण अधिक सफलता के साथ होती है।[1] सगीत, स्थान (Space) का अतिक्रमण कर केवल 'काल' म व्यक्त होता है। चित्र मे स्थान के उपयोग के कारण अन्तमु खता नही आ पाती यद्यपि साकेतिकता अवश्य आ जाती है। स्थूल जडतत्व (जिसे भवन, मूर्ति मे प्रयुक्त किया गया था) यहा गति (Motion) मे बदल जाता है। 'गति' स्थूल जडतत्व से अधिक विकसित और 'सत्य' के निकटतर होने के कारण सगीत चित्रादि से उच्चतर कोटि की कला बन जाता है। सगीत मे "आइडिया" को स्थूल जडतत्वो—स्थान, दिक् तथा स्थूल माध्यमो मे मुक्त कर देता है। सगीत मे मानसिक अन्तमु खता इसीलिए अधिक है। सगीत मे प्रत्यय अधिक अप्रच्छन्न रूप मे व्यक्त होता है जबकि स्थूल कलाओ में उसका रूप प्रच्छन्न और अस्पष्ट रहता है। परन्तु फिर भी सगीत मे भाव तथा उद्वेग की अधिकता के कारण आइडिया पूणरूप से अप्रच्छन्न और वास्तविक रूप मे व्यक्त नही हो पाता। सगीत कला मे अनिश्चितता का कारण यही है। दूसरी बात यह कि स्थापत्य कला की भांति ज्यामिति के नियमो से अनुशासित होने के कारण इसम पूर्ण स्वच्छन्दता भी नही रहती।

काव्य कला—काव्य श्रेष्ठ ललितकला है। मस्तिष्क पर इसका प्रभाव सबसे अधिक पडता है। सगीत मे केवल हार्दिक स्पर्श रहता है। काव्य

---

१ शॉपेन हाउर को काट की तरह सगीत को अन्य कलाओ के साथ रखने मे कठिनाई हुई है। उसके अनुसार अन्य कलायें, विचारों तथा भावों को अभिव्यक्ति देती है जबकि सगीत विचारो की पृष्ठभूमि मे स्थित "इच्छा" को प्रकाशित करता है। मनुष्य की यह प्रकृति है कि उसमे "इच्छा" नित्य जाग्रत रहती है और कभी सन्तुष्ट नही होती। सगीत द्वारा यह इच्छा कुछ समय के लिए अन्य कलाओ से कही अधिक सन्तुष्ट होती है। अत सगीत कला अन्य ललित कलाओं से कुछ विशिष्टता रखती है।

म भी केवल स्वर ही माध्यम के रूप मे प्रयुक्त होते हैं, परन्तु इसमे स्वर-सौन्दय नही रह जाता अपितु 'स्वर' सकेतो मे बदल कर 'शब्द' बन जाते हैं। सकेत स्वत अपने म असमथ वस्तु हैं किन्तु यही सकेत प्रत्यय के मूर्तीकरण मे सबसे अधिक समथ रहते हैं। सगीत मे रहने वाली स्वरो की अनिश्चितता काव्य म शब्दो की निश्चित शक्ति मे बदल जाती है। काव्य में भाव और कल्पना सगीत की तरह अनिश्चित रूप मे व्यक्त न होकर निश्चित रूप मे व्यक्त होते है। इस प्रकार काव्य स्वर (Sound) को शब्द (word) मे बदल देता है। शब्द विचार को सकेतित करता है और शब्द के अतिरिक्त विचार को मूत्त रूप मे अन्य कोई माध्यम व्यक्त नही कर सकता। 'शब्द' स्थान, दिक, काल सबका अतिक्रमण कर जाता है और किसी भी प्रकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार तत्व को मूत्त कर देने की शक्ति रखता है। काव्य का शुद्ध रूप यही है। परन्तु व्यवहार मे काव्य सगीत, चित्र एव मूर्ति से भी सहायता लेता है। अत काव्य को गाया भी जा सकता है उसमे चित्र पद्धति पर वस्तु का "चित्रण" भी हो सकता है। परन्तु यह काव्य का मुख्य धम नही है। सगीत और चित्र के बिना भी काव्य की स्वतन्त्र सत्ता है।

इस प्रकार काव्य देश, काल और स्थान से अतीत एक सावदेशिक, सावकालिक कला है जिसमे 'आत्मा' बिना बाह्य स्थूल माध्यमो के स्वच्छन्द होकर अभिव्यक्त होती है। काव्य 'विचारतत्व' को ऐन्द्रिय (sensuous) रूपो मे अभिव्यक्त कर, पूणता की उपलब्धि करान मे समथ है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कष निकला कि स्थापत्य एक बाह्य कला (external art) है, मूर्तिकला वस्तुपरक (objective) कला है, तथा चित्र, सगीत व काव्य अन्तमु खी (subjective) कलाएँ हैं। चित्र, सगीत तथा काव्य को समष्टि रूप से रूमानी कला कहा गया है। माध्यम की दृष्टि से स्थापत्य से काव्य कला तक क्रमश माध्यम सूक्ष्म होता चला जाता है और काव्य मे अमुख्य हो जाता है। जिस कला मे माध्यम जितनी सीमा तक अनिवाय रहता है वह कला उसी सीमा तक निम्न कोटि की कला होती है।

हीगेल के अनुसार प्रतीकात्मक कला की पूणता स्थापत्य कला मे मिलती है। क्लासीकल कला मूर्ति कला मे पूणता प्राप्त कर लेती है। रोमाण्टिक कला म चित्र, सगीत व काव्य को चरम उत्कष प्राप्त होता है। काव्य के सम्बन्ध म यह स्मरणीय है कि इसम अन्य ललित कलाओ के सभी

' सौन्दय प्रकार'' मिलते हैं और सभी कलाओ मे यह कला 'अनुस्यत' रहती
है, क्योंकि कल्पना इसका मुख्य तत्व है। कल्पना से ही सभी प्रकार
की सौंदय सष्टियाँ सम्भव होती हैं। काव्य मे ही मानवीय आत्मा की अनु
भूति पूण रूप मे व्यक्त होती है।

हीगेल का विभाजन योरोपीय सौंदय शास्त्र मे सबसे अधिक व्यवस्थित,
माना जाता है। हम पहले कह आये हैं कि भारतीय विचारको ने काव्य तथा
सगीत को विद्या तथा चित्र, मूर्ति एव स्थापत्य को 'कला' माना है। माध्यम
की दृष्टि से हीगेल का विभाजन कलानिक हो सकता है जसे कि प्रसाद जी
का मत था। परन्तु आनन्द की दृष्टि से भारतीय उक्त विभाजन को स्वीकार
नही कर पाते। कारण यह है कि काव्य और सगीत का लक्ष्य हमारे यहाँ
'रसानुभूति' माना गया है, आचार्यों ने तो कलाओ का उद्देश्य भी रसनिष्पत्ति
सिद्ध किया है। अथात रसवादियो के अनुसार विद्या और कला दोनो का लक्ष्य
रसनिष्पत्ति है। अत विभिन्न माध्यमो से एक ही लक्ष्य रस की पूर्ति मानी
गई है। भारतीय सौंदय शास्त्र यह स्वीकार नही करता कि स्थापत्य, चित्रादि
कलाओ मे विचार' तत्व की अपूण अभिव्यक्ति होती है। भाव को रूप मे
बदल देना ही कला है और भवन, मूर्ति आदि से भी भावाभिव्यक्ति होती है।
माध्यम की विशिष्टता के अनुसार आनन्द भी विशिष्ट रूप धारण करता
है। उदाहरण के लिए हीगेल की यह बात सही है कि कोमल माध्यमो–रग,
स्वर, शब्द द्वारा विचार को अधिक सुविधा के साथ मूत्त किया जा सकता
है परन्तु यह भी मानना पडता है कि स्थापत्य तथा मूर्ति कला मे कठोर
माध्यमो के द्वारा रूप का विन्यास अधिक स्थिर और इन्द्रियो के लिए अधिक
स्पष्ट होता है। चित्र, सगीत तथा काव्य मे साकेतिकता के साथ-साथ अस्प
ष्टता और अस्थिरता भी अनिवाय रूप से आ जाती है। इसके विपरीत
स्थापत्य तथा मूर्ति कला मे स्पष्टता और स्थिरता अधिक रहती है।[1]
अत ललितकलाओ मे प्रत्येक कला की अपनी अपनी विशेषतायें हैं। इनमे
हीनता और उच्चता के निर्धारण के स्थान पर, इनकी विशिष्टताओ का विचार
ही अधिक कलानिक होगा अन्यथा विभाजन अशुद्ध होगा। हीगेल के विभाजन
मे यही दोप है कि वह कलाओ की अद्वितीय विशिष्टताओ पर जोर नही देता।

माध्यमो मे कुछ 'चल" तथा कुछ "अचल" होते हैं अत 'चल'
माध्यम वाली कला मे रसिक को "अचल" होना पडता है। यथा सगीत म

१—सौंदय शास्त्र—डा० हरद्वारीलाल शर्मा, पृष्ठ १४६

स्वरो के आरोह-अवरोह का आनन्द लेने के लिए चित्त को स्थिर करना पडता है। 'अचल" माध्यमो वाली कला म रूप का विन्यास स्पष्ट होता है, अत रसिक को इसका आनद लेते समय अपने म "चलता" या गति लानी पडती है। मूर्ति दशन मे रसिक नेत्रादि के 'चालन' से गति की खोज करता है।[1] यहा भी कलाओ की विशिष्टता द्रष्टव्य है। प्रत्येक कला का सौन्दर्य सब कलाओ म एक सीमा तक सामान्य होने पर भी कुछ 'विशिष्ट' भी रहता है जो दूसरी कला मे नही मिलता। अत प्रत्येक कला इस दृष्टि से दूसरी से श्रेष्ठ होती ह।

हीगेल ने कहा है कि सगीत मे स्थान (स्पेस) की जगह 'काल' रह जाता है परन्तु भारतीय दृष्टि काल के 'चल' और 'स्थिर' दो रूप मानती है। स्थापत्य म इसी स्थिर काल तत्व का आनन्द है। हीगेल 'आइडिया' के केवल मूत्त रूप को महत्व देता है जबकि भारतीय दृष्टि से उसका अमूत रूप भी भारतीय कलाओ द्वारा व्यक्त हुआ है। मन्दिर, मूर्त्ति स्थिर काल के तथा सगीत, काव्य प्रवहमान काल तत्व के व्यजक कला रूप हैं। शॉपेन हाउर भी सगीत कला को अन्य कलाओं से विशिष्ट मानता है।

भवन कला से स्थिरता, सुरक्षा और दृढता का अनुभव होता है।[2] हमारी बुद्धि को अचल सत्यो का बोध इसी कला द्वारा हो सकता है। इसमे विचार के चिर तन तत्व की स्थूल अभिव्यक्ति होने से यह अन्य कलाओ से विशिष्ट होती है। इसी प्रकार आकार' की सम्पूणता सबसे अधिक इसी कला मे होती है।

---

१ वही पृष्ठ १४७

२ हीगेल के पश्चात शापेनहाउर ने स्थापत्य द्वारा कुछ सत्यो की व्यजना की सभावना स्वीकृत की है। उसके अनुसार 'स्थापत्य' मे गाम्भीय (gravity) स्पष्टता (cohesion), स्थिरता (rigidity) कठोरता (hardness) की अभिव्यक्ति मिलती हैं। शापेनहाउर मनुष्य के दु ख का कारण 'इच्छा' (will) को मानता हैं। ज्ञान भी इच्छा के अधीन रहता है। कला' मे हम कुछ समय के लिये 'इच्छा' से स्वतत्र हो जाते है। स्थापत्य को यद्यपि यह निम्नकोटि की कला मानना है तथापि स्थापत्य हमे 'इच्छा' से मुक्त करता है। अत शॉपेनहाउर ने हीगेल से कहीं अधिक स्थापत्य का महत्व स्वीकार किया है।

इसी प्रकार मूर्तिकला मे प्रस्तर अथवा धातु से उसी दिव्य आनन्द की सृष्टि होती है, उसी सावेतिकता का जन्म होता है जो काव्य और संगीत मे होती है। अर्थ, स्वर, रंग आदि के अधीन न रहकर कलाकार मूर्ति निर्माण मे अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। इस सम्बन्ध मे डा० हरद्वारीलाल शर्मा का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि 'पत्थर में अव्यक्त, शून्य अवस्था इसे कला के लिये उपयुक्त माध्यम बनाती है। अव्यक्त में प्रबल और स्पष्ट व्यक्तित्व का आविर्भाव ही कला सृजन है, किन्तु हीगेल आदि दार्शनिकों ने माध्यम के इस गुण पर ध्यान न देकर पत्थर आदि को कला की नीची श्रेणी का माध्यम माना है।''[1] कठोर माध्यम से स्थिरता और चिरन्तनता की अभिव्यक्ति मे जो सहायता मिलती है वह अन्य किसी माध्यम से नही मिल सकती। भारत मे कुशलता प्रियता के कारण ही मूर्तिकार को शिल्पकार माना गया न कि इसलिए कि मूर्तिकला हीन कला है। हमारे यहा शवों वैष्णवों और बौद्धो ने मूर्तियो मे जिस सौन्दर्य का अंकन किया है वह हमारे महा-काव्यो से कम सुन्दर नही है। कामायनी और ताजमहल मे कौन अधिक सुन्दर है? भारतीय दृष्टि से दोनो मे अपना-अपना विशिष्ट सौन्दर्य है अत हीगेल का विभाजन विवादास्पद है।[2]

मनुष्य शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध का भोग कला द्वारा उच्च स्तर पर करता है। इनके साथ ही सारा मानसिक जगत् भी संयुक्त होकर कला मे व्यक्त होता है अत स्थापत्य, मूर्ति एव चित्र में रूप' का आनन्द नेत्रों को अधिक आकर्षक लगता है और संगीत तथा काव्य मे शब्द हमारी कर्णेन्द्रियो को अधिक आकर्षित करते हैं। गन्ध, रस तथा स्पर्श की तृप्ति भी वस्तुओ के वर्णन या चित्रण द्वारा मिलती है। अत कलाओ के विभाजन मे न तो मात्र माध्यम को आधार बना कर श्रेष्ठता निश्चित हो सकती है और न मात्र

---

१ सौन्दर्य शास्त्र —डा० हरद्वारीलाल शर्मा, पृष्ठ १९६

२ हीगेल के अनुसार मूर्तिकला क्लासिकल कला है, अत स्थापत्य से उच्चतर होने पर भी उसमे स्वच्छन्दता नहीं है। शॉपेनहाउर के अनुसार यद्यपि मूर्तिकला स्थापत्य से श्रेष्ठ है परन्तु उतने स्पष्ट स्वीकार किया है कि मूर्तिकला में 'इच्छा' को अधीनता नष्ट होती है और हमारा ध्यान रूप से विचारों और भावों की ओर जाता है। अतएव शॉपेनहाउर ने इस कला को भी हीगेल से अधिक महत्व दिया है। प्रत्येक कला जगत के द्वन्द्वों को दूर करने मे सहायक है।

विचार या 'आइडिया" को लेकर। क्योंकि विचार का जो अर्थ हीगेल लेता है, वह विवादास्पद है। "विचार" का आध्यात्मिक अर्थ करके हीगेल ने विकास के आधार पर जो कला का वर्गीकरण किया है वह इसलिये अमान्य है कि 'विचार' का आध्यात्मिक अर्थ हमे स्वीकृत नही है और विचार का सामान्य अर्थ करने पर सभी कलाओ से विचार, भाव और कल्पना की अभिव्यक्ति होती है, यह मानना होगा। ताजमहल को देखकर अनेक भावो तथा बोधो से हृदय उर्मिल हो उठता है, नटराज की मूर्त्ति कितने भावो और विचारो से हमारेमानस को तरंगित कर देती है। अजन्ता, एलोरा, एलीफन्टा की मूर्त्तिकला को देखकर हम जो अनिर्वचनीय कलात्मक अनुभूति होती है वह क्या काव्य तथा संगीत से उत्पन्न रसानुभूति से हीन कोटि की होती है? अतएव ललित कलाओ मे माध्यम की दृष्टि से विभाजन करना मात्र व्यावहारिक है। अनुभूति और आनन्द की दृष्टि से सभी ललित कलाये जिस प्रकार अपने माध्यमो की विशिष्टता रखती हैं, वैसे ही अपने सौन्दर्य और तज्जन्य आनन्द मे भी वे विशिष्ट है। भारतीय दृष्टि से सभी कलाओ का लक्ष्य रसानुभूति है। योरोप मे तर्क की रक्षा मे विचारक वास्तविक अनुभव से बहुत दूर चले जाते हैं। इसके विपरीत हमारे यहा 'अनुभव' को ही सबसे अधिक प्रामाणिक माना गया है। अनुभव सभी ललित कलाओ को समकक्ष रखता है। सरस्वती के 'मन्दिर' मे सरस्वती की मूर्त्ति', सरस्वती के चित्र' सरस्वती की पूजा के समय के 'संगीत' तथा सरस्वती के 'काव्यमय वर्णन' मे से उपासक किसे हीन तथा किसे श्रेष्ठ माने? और किस आधार पर? जब कि सभी से कला की अधिष्ठात्री देवी की आनन्दमय अभिव्यक्ति होती है।

अन्त मे कला के प्रति भारतीय दृष्टिकोण की इस न्यूनता का उल्लेख आवश्यक है कि वह अपने काव्यशास्त्र मे भावुकता या भावात्मकता (सन्टीमन्टलिटी) पर आवश्यकता से अधिक बल देता है—आधुनिक कला मे यह भावात्मकता क्षीण मात्रा मे ही है अतः रसानुभूति शब्द का बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयोग करना चाहिए ताकि उसमे कल्पना प्रधान, स्वप्निल, मुक्तसाहचर्यपरक प्रभाववादी आदि सभी प्रकार की कलाओ से जन्य आनन्द का समावेश हो जाता है।

आचार्य वामन और प्रयोगवाद

कतिपय प्रयोगवादी बन्धु कहते हैं कि प्राचीन काव्यशास्त्र आधुनिक कला और काव्य के मूल्यांकन मे पूर्णत अक्षम है। निश्चित रूप से प्राचीन आचार्यों ने अपने समय के साहित्य के आधार पर ही विचार किया है। एक यह भी कठिनाई थी कि संस्कृत भाषा का साहित्य जन प्रचलित नही था वह केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था, फिर भी हमारे आचार्यों की अन्तर-दृष्टि इतनी गम्भीर थी कि हमारी नवीनतम कला और कविता के मूल्याङ्कन मे भी प्राचीन काव्यशास्त्र से सहायता मिलती है। क्योंकि नूतनकाव्य शास्त्र प्राचीन काव्यशास्त्र के इन उपयोगी अंशों की नीव पर ही खड़ा हो सकता हैं अत यहाँ नयी कविता के बहुप्रचारित 'बिम्बवाद' अथवा 'सादृश्यवाद' पर वामन की अन्तर्दृष्टियुक्त विवेचना उपयोगी हो सकती है।

नवीनता का जो आन्दोलन आज चल रहा है, संस्कृत साहित्य मे भी वह एक सीमा तक प्रचलित हुआ था, इसके प्रमाण मिलते है। प्राय नूतन बिम्बों के अनुसन्धान मे कविजन, उसी प्रकार अनौचित्य की ओर चले जाते थे, जिस प्रकार हमारे आज के प्रयोगवादी कवि। फलत हास्यरस की सृष्टि तो होती थी किन्तु कवि को हास्यरस अभिप्रेत न होता था। रति, उत्साह, शोक की अभिव्यक्ति में बिम्बों की अनुपयुक्तता से श्रोता लोग हँसने लगते थे, उसी प्रकार जिस प्रकार आज के अनुचित सौन्दर्य-बोध के कारण लोग हँस पड़ते हैं अत आचार्य वामन ने विस्तार से अप्रस्तुत विधान के अनौचित्य पर विचार किया है।

अलङ्कारवाद मे दो प्रकार की रुचियाँ प्रधान थी। भामह और उनके अनुयायी वक्रोक्ति-अतिशयोक्ति को उक्ति मात्र का सौन्दर्य मानते थे। प्रयोगवाद की व्यंग्यमय, मर्मान्तक तथा प्रहारात्मक रचनाओं के विवेचन के लिए 'भामह' और उनके कुन्तक का वक्रोक्तिवाद सहायक हो सकता है किन्तु प्रयोगवाद नवीन मानसिक स्थितियों के लिए नए उपमानविधान या बिम्ब विधान पर भी बल देता है अर्थात् विरोधमूलक उक्तियों के अतिरिक्त, प्रयोगवाद मे साम्यमूलक अलङ्कारों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा मे होता है, वामन ने इसी पक्ष पर अपने उपमा विवेचन मे बल दिया है। वामन द्वारा विवेचित

उपमा अलकार, विम्ब विश्लेषण के लिए उपयोगी है। वर्ण्यवस्तु को चेतना मे स्फुरित करने का एकमात्र उपाय उपमा है। सदृश प्रतिवस्तु ही बिम्ब है।[1] श्री रॉबिन के अनुसार विम्ब या इमेज प्रतीक, उपमा और रूपक—इन तीन रूपो मे प्राप्त होती ह। इनमे वामन रूपक को उपमा का ही एक भेद मानते हैं और बहुत से प्रसिद्ध उपमान ही प्रतीक' बन जाया करते हैं, प्रतीक में विम्ब का आधारभूत गुण 'सादृश्य' कम मात्रा मे ही रह पाता है अर्थात् प्रतीक मे सादृश्य एकदेशीय और अपर्याप्त रह जाता है अत भारतीय साहित्य और सिद्धान्त मे प्रतीक से उपमा का अधिक आदर हुआ है। वामन के अनुसार जहाँ गुणो मे उपमान उत्कृष्ट हो किन्तु गुणलेप से उपमेय के प्रति साम्य हो, वहाँ उपमा होती है।

इसका ध्वनित अर्थ यह है कि श्राता एक ओर तो कवि द्वारा वर्णित वस्तु' तथा अनुभूति' का आनन्द लेता है और साथ ही वह वर्ण्यवस्तु से भी अधिक उत्कृष्ट बिम्ब' या 'इमेज' का भी आनन्द ग्रहण करता है। वामन के अनुसार उपमान या बिम्ब दो प्रकार के होते हैं, लोकप्रसिद्ध यथा चन्द्रमा क समान मुख तथा कवि कल्पित। प्रयोगवाद कविकल्पित उपमानो का आन्दोलन है, यह वामन के विवेचन क आधार पर कहा जा सकता है। कवि-कल्पित उपमाना के लिये वामन न नवी शताब्दी की अवधि तक संस्कृत साहित्य के नूतन विम्बविधान को प्रस्तुत किया है। यह स्पष्ट नही होता कि वामन ने ऐसे 'प्रयोगवादी" उदाहरणो की स्वय रचना की है अथवा दूसरो के पद्य उद्धृत किये हैं। यदि ये उदाहरण स्वय उनके है तो निश्चित रूप से वामन एक अच्छे 'प्रयोगवादी" कवि थे, आज के किसी भी प्रयोगवादी को वह प्रभावित कर सकते हैं, कविकल्पित उपमा क यह उदाहरण है —

उद्गभहूणतरुणीरमणोपमद—
भुग्नोन्नतिस्तननिवेशनिभ हिमाशो ।
बिम्ब कठोरबिसकाण्डकडारगौरविष्णो
पद प्रथममग्रकरव्यनक्ति।[2]

अर्थात् व्यक्तगर्भा हूण सुन्दरी के उपमर्दित और आलिंगित होने के कारण दमित और कृष्णमुख स्तन के समान चन्द्रमा का बिम्ब पके हुए मृणाल-

१ आधुनिक विचारको के अनुसार बिम्ब म वर्ण्यवस्तु का मात्र सादृश्य नही हाता। बिम्ब मे, "कुछ और" का अतिरिक्त तत्व भी होता है।

२ काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति द्वितीय अध्याय, अधिकरण ४

दण्ड के समान पीत और शुभ्र उदयकालीन किरणो से आकाश को प्रकाशित कर रहा है।

यहाँ चन्द्र बिम्ब की उपमा गर्भिणी तृण तरुणी के स्तन से दी गई है। सर्वथा नूतन कल्पना है। इसी प्रकार आधुनिक प्रयोगवादियों के समान नवीन वस्तुओं का वर्णन भी प्राचीन प्रयोगवाद की विशेषता है, नारङ्गी का नूतन वर्णन देखिये और साथ ही शिरीष पुष्प का —

(१) सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम।

(२) अभिनवकुशसूचिस्पर्धि कर्णे शिरीषम्।

प्रथम पद्य का अर्थ है—अभी हाल ही घुटी हुई किसी शराबी पठान की ठोडी के समान यह नारङ्गी का फल है।

द्वितीय पद्य मे शिरीष को डाभ की नई भाल्ल के समान बताया गया है। प्रयोगवाद का यह क्लासीकल प्रयोग है।

इसी तरह किसलयो को तोता की चोंच से उपमा दी गई है।[1]

वामन के अनुसार किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को मन मे उतारने के लिये ही बिम्ब का प्रयोग नही होता अपितु प्रशंसा और निन्दा के लिए भी बिम्बविधान किया जाता है। इस प्रशंसा और निन्दा के क्षेत्र मे आप प्रयोगवादियो की आत्म निन्दा आलोचक निन्दा, राजनीति निन्दा, मानव जीवन निन्दा आस्था निन्दा, आत्मविश्वास निन्दा, आशानिन्दा, उल्लास निन्दा अर्थात 'सर्वनिन्दा' को रख सकते है। किन्तु वामन कवि कल्पित बिम्ब विधान मे नवीनता प्रेमी कवियो को बार-बार सावधान करते है। प्रथम, बिम्बविधान मे उपमान हीनता नही होनी चाहिए। यह हीनता उपमेय पर भी लागू होती है। हीनता जाति, परिणाम और धर्म की हो सकती है। आधुनिक प्रयोगवाद मे यह 'बिम्बहीनत्वदोष' पग-पग पर मिलता है, वामन के उदाहरण लीजिए—

"आपने (मनिका ने) भङ्गियो के समान साहस किया।"[2]

यहाँ वीर को हीन उपमान से उपमा दी गई है यह जातिगत हीनत्व दोष हुआ। यह सूर्य अग्नि के समान चमक रहा है—यह परिमाणगत हीनत्व है। 'कृष्णमृग के चाम को धारण किये हुए और मूँज की करधनी से युक्त नारद नील मेघ से घिरे हुए सूर्य के समान शोभित हुए।' यह धर्मगत हीनत्व का

१ वही।

२ चाण्डालैरिव युष्माभि साहस परम कृतम्—४ २-६

उदाहरण है—यहाँ उपमान धर्म के आसपास कृष्णचर्म की तरह मेघ तो हैं किन्तु मौञ्जी मेखला के लिये बिजली का सन्निवेश कवि ने मधा के साथ नहीं किया अतः उपमान मे 'धर्मगत हीनत्व' दोष है। कोई प्रयोगवादी इन दोषों की चिंता करता है ? आखिर वह क्यों परवाह करे ? प्राचीन परम्परा कूडा है, यह कह कर वह अपने सौन्दर्य-बोध की अज्ञता को सुविधा से छिपा सकता है।

हीनत्व की तरह अधिकत्व भी दोष होता है, यह भी जाति, परिमाण और धर्मगत होता है। यथा 'भगवान रुद्र की तरह महापराक्रमी कहार अन्दर आ जावें'[1] यहाँ उपमान मे अधिकत्व दोष है। 'आँख रेडियम सी चमक रही हैं' ऐसे आधुनिक प्रयोगो म यही उपमान का अधिकत्व दोष है। 'वह सुन्दरी *गाजरा की बाल जसी है" अज्ञेयजी की इस उपमा में उक्त उपमानगत हीनत्व* दोष है। कुँवरनारायण की इस उक्त उपमा म भी हीनत्व दोष है—

पर आपा'न प्रकाश न मुझको,
मरने दते सरल मौत कुत्ते की।

वामन ने उपमेय और उपमान को एक ही लिङ्ग वचन म प्रयुक्त करने पर बल दिया है ताकि बिम्ब वर्ण्यवस्तु के साथ पूर्ण सादृश्य प्राप्त कर ले। सौभाग्यवश हिन्दी म संस्कृत की तरह तीन लिङ्ग वचन न होने से लिङ्ग-वचन सम्बन्धी दोष कम मिलते हैं।

'असादृश्य' बिम्ब विधान का पाँचवा दोष है, यथा "फैली हुई अर्थरूप रश्मियों से युक्त काव्य रूपी चन्द्रमा को मैं ग्रथित कर रहा हूँ।"[2] काव्य और चन्द्रमा मे असादृश्य होने से दोष है। आधुनिक प्रयोगवाद का सबसे बड़ा दोष है—किंचित सादृश्य से ही असदृश उपमानों का जमाव। वैज्ञानिक उपमानो से विज्ञान के साथ निकटता भले ही प्राप्त की गई हो किंतु असादृश्य रूप बिम्ब दोष बहुत अधिक मात्रा मे बढा है। वामन के इस कथन की आज कौन उपेक्षा कर सकता है—

असादृश्यता ह्युपमा तन्निष्ठाश्च कवयः। ४-२-१७

अर्थात् सादृश्य के अभाव मे उपमा नष्ट हो जाती है और सादृश्य

---

१ विशतु विष्टरं शीघ्रं रुद्रा इव महौजसः।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४-२-११

२ ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थ रश्मिम्।
—४-२-१६ काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति

विहीन उपमा द्वारा कविता का (यश, स्थान, महत्व-प्रतिष्ठादि का) भी नाश हो जाता है।

यह प्रश्न वामन के समय भी उठा था कि यदि किंचित् सादृश्य वाले उपमानों की भीड़ एकत्र कर दी जाय तो वर्ण्यवस्तु स्फुरित हो जाती है। आधुनिक प्रयोगवादी अनजान ही इसे मानते हैं, किंतु वामन का कथन है कि अधिकाधिक सादृश्य वाले एक बिम्ब का प्रयोग ही कवि की कसौटी है, अधिक असमर्थ उपमानों का प्रयोग दोष है। यथा—"वपू रहारहरहासहित यशस्त।" तुम्हारा यश कपूर मुक्ताहार, तथा शिव के हास्य के समान है। इन उपमानों को यश उपमेय के साम्य में प्रस्तुत किया गया है। वामन के अनुसार ये सभी उपमान पूर्ण सादृश्य से हीन हैं अतः अपर्याप्त हैं क्योंकि इन सबसे भी अर्थ की पुष्टि नहीं होती—न कश्चिदर्थविशेष पुष्णाति।

'असम्भव' दोष छठा और अंतिम उपमा दोष है। यह असम्भवता भी आधुनिक प्रयोगवाद में पर्याप्त मिलती है। वामन का उदाहरण यह है—

"खिले हुए कमल में भीतर सुंदर चाँदनी के समान नायिका के उल्लसित मुख पर मुस्कराहट की छाया चमक रही है"—यहाँ चाँदनी में कमल का खिलना बताया गया है अतः यह असम्भव दोष है। यदि कहें कि अतिशयता के कारण यहाँ विशिष्टता का प्रदर्शन है तो वामन का उत्तर है कि विरुद्ध अतिशय का प्रयोग नहीं करना चाहिए 'न विरुद्धोऽतिशय'।

(४-२-२१)

बिम्बवाद की महिमा—वामन सादृश्यवादी आलोचक थे। वामन के पश्चात् अप्पय दीक्षित ने ही उपमा का महत्व समझ पाया था। वस्तुतः भरत ने ही काव्य में बिम्बों का महत्व भली भाँति समझ लिया था। इसीलिये नाट्य शास्त्र में यमक शब्दालङ्कार के अलावा रूपक, दीपक और उपमा इन तीन अर्थालङ्कारों में दीपक और रूपक वस्तुतः उपमा के ही प्रपञ्च मात्र हैं, यही दृष्टि वामन के यहाँ स्वीकृत है। अपनी चमत्कारवादी लिप्सा के कारण भामह इस मर्म को नहीं समझ सके अतः वामन ने अनुप्रास और यमक शब्दा-लङ्कारों के सिवा अन्य सब अर्थालङ्कारों (संख्या ३०) को उपमा का ही विस्तार भेद माना है, इससे वामन की सहृदयता और काव्य प्रक्रिया से सम्बंधित उनकी अंतर्दृष्टि का पता चलता है। आधुनिक प्रयोगवाद की काव्य प्रक्रिया में बिम्बवाद प्रमुखतम है। इस प्रकार आधुनिक प्रयोगवादियों की तरह वामन सर्वत्र उपयुक्त बिम्बविधान का ही अनुसंधान करते थे, यहाँ तक कि विरोधमूलक अलङ्कारों में भी उन्होंने उक्ति की वक्रता को सौंदर्य का

आधार न मानकर बिम्ब को ही सौंदर्य का आधार माना है। अतः वामन द्वारा अन्य अलङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च सिद्ध करना वस्तुतः बिम्बवाद का समर्थन है। अतएव वामन अलङ्कारों की परिभाषाओं में सर्वत्र बिम्बवाद पर ही ध्यान रखते हैं। प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार में उपमेय के समान अन्य वस्तु का वर्णन होना चाहिए, यह वामन का लक्षण है। परवर्ती परिभाषाओं में दो वाक्यों की समानता और दोनों के एक धर्म पर बल दिया गया है किंतु वामन का बल इस बात पर है कि वस्तु के सदृश प्रतिवस्तु हो।

समासोक्ति, अपह्नुति, रूपक आदि साम्यमूलक अलङ्कारों में [illegible] बिम्ब-विधान सभी मानते हैं किंतु श्लेष, वक्रोक्ति, विभावना, विरोध [illegible] अलङ्कारों में भी वामन को सादृश्य की चिंता है। श्लेष के लक्षण में [illegible]—धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः'—अर्थात् तन्त्र से प्रयोग होने पर [illegible] के धर्मों में तत्त्वारोप श्लेष कहलाता है। तन्त्र का अर्थ है, [illegible] किये गये विशेषणों से अनेक अर्थों को [illegible]। [illegible] (महावीर) जिनमें वारवधुओं के स्तनों ने अथवा [illegible] विकार या भय रूप क्षोभ उत्पन्न नहीं किया [illegible]' (४-३-७) यहाँ वारवधूस्तन और योद्धा [illegible], ऊष्मा, उद्धत, गुरु तथा स्थूलादि [illegible] का बिम्बविधान किया गया है।

इस प्रकार वामन ने सभी अलङ्कारों में सादृश्य या सम्यक बिम्बविधान पर बल दिया है। 'शोभा-भ्रंश' या सौंदर्यहानि को वह अक्षम्य अपराध समझते थे तभी उन्होंने कहा है कि अलकार ही सौंदर्य है अर्थात कवि की चित्तवृत्ति से काव्य में सौंदर्य या अलकृति का जन्म होता है और बिम्बविधान द्वारा अर्थात उपमादि अलकारों के प्रयोग से गुणजन्य सौंदर्य की वृद्धि होती है।

वामन का बिम्बविधान इस प्रकार भावहीन या चमत्कारवादी नहीं है, वह 'सगुण अभिव्यक्ति' को काव्य की आत्मा मानते थे। काव्य में कवि के मन पर होने वाली जगत् की प्रतिक्रिया से, जो उत्तेजना उत्पन्न होती है, वही काव्य का प्राण है, यदि वे ऐसा न मानते तो आधुनिक प्रयोगवादियों की तरह वह भावों का निषेध करके कोरे बिम्बविधान की प्रक्रिया ही समझाते रहते किंतु उन्होंने स्पष्ट कहा है—काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्—काव्य का ग्रहण अलङ्कार के कारण है, अलङ्कार का यहां अर्थ है सौंदर्य या अलङ्कृति यह सौंदर्य दोषों की हानि और गुणों के उपादान से उत्पन्न होता है। अर्थात् गुणों द्वारा वामन कवि की मानसिक स्थितियों—भाव कल्पना, बुद्धि का योगदान स्वीकार करते हैं और इसके साथ ही दोषहीन बिम्बविधान की आवश्यकता भी स्वीकार करते हैं अत जब वामन कहते हैं कि रीति काव्य की आत्मा है, तब यह समझना भूल होगी कि आचार्य केवल शब्दविन्यास या पदविन्यास को ही काव्य मानते हैं, वामन विशिष्ट पद रचना को रीति या शैली या अभिव्यक्ति कहते हैं। *विशिष्ट का अर्थ है, गुण सहित रीति—विशेषो गुणात्मा अर्थात् काव्य* 'सगुण अभिव्यक्ति विशेष' है।

काव्य के उपकरणों में आत्मा की शोध और काव्यात्मा के साथ अन्य अंगों की सगति स्थापित करने पर ही हमारा ध्यान अधिक रहने से हम अपने आचार्यों के विवेचन के मर्म को भूलते रहे हैं। यदि आज के विज्ञान के प्रकाश में देखा जाय तो काव्य शास्त्र में 'आत्म वाद' का अश अवैज्ञानिक है क्योंकि आत्मा, अवयवसंस्थान, अवयव आदि का जो भेद आचार्यों ने किया है वह सर्वथा [illegible]तवाद पर आधारित है। शरीर और आत्मा को भिन्न और परस्पर विरोधी तत्व मानने के कारण रस और अलङ्कार अथवा भाव और बिम्ब विधान का परस्पर सम्बन्धस्थापन आचार्यों द्वारा भ्रांत रूप में प्रस्तुत हुआ है न तो रस कूटस्थ और तटस्थ आत्मा की तरह होता है और न अलङ्कार हारादिवत होते हैं काव्य की पूरी प्रक्रिया सश्लिष्ट है। काव्यांगों में परस्पर अविच्छिन्नता है जिस प्रकार जीवन अनेक तत्वों की अविच्छिन्न इकाई है, उसी

उसी प्रकार काव्य भाव, कल्पना, बुद्धि, बिम्ब विधान और पद रचना की एक अखण्ड अभिव्यक्ति है यह तत्व वामन को ज्ञात नही था क्योंकि तब शरीर और आत्मा के विषय म अद्वैतवाद के नाम पर ▪तवाद (शरीर से चेतना की स्वतन्त्रता) प्रचलित था किंतु इस पक्ष के दुबल होने पर भी वामन 'बिम्ब विधान' और उसके दोषो पर महत्वपूण प्रकाश डालते हैं। वामन सगुण बिम्ब-विधानवादी आचाय थे, जबकि आज का प्रयोगवाद गुणो को महत्त्व नही देता और दोषो की परवाह नही करता। वामन ने ऐसे कवियो का सलाह दी है कि सदोष बिम्बविधान से तो कुकवित्व की ही सृष्टि हो सकती है, और कुकवित्व आत्म विडम्बना ही है, इससे तो मौन रहना अच्छा अकुण्ठ कीर्ति जिस काव्य से न मिले, वह व्यथ है—

> प्रतिष्ठा काव्यबन्धस्य यशस सरणिं विदु
> अकीर्तिवर्तिनी त्वेव कुकवित्वविडम्बनाम्।

फ्रायडवाद · आत्म सम्मोहन एव आत्म प्रक्षेपण

१९वी शताब्दी के अतिम भाग मे योरोप मे फ्रायड अमेरिका मे विलियम जेम्स तथा रूस मे आई पी पावलोव ने मनोविज्ञान के क्षेत्र मे नई उद्भावनाएँ की। इनम पावलोव ने शरीर विज्ञान को अपना आधार बनाया और अपने आगे के विकास म इस शरीर विज्ञान की कभी उपेक्षा नही की किन्तु फ्रायड और जेम्स ने दिमागी उडान से बहुत काम लिया। अत फ्रायड और जेम्स की शोध को वैज्ञानिक नही माना जा सकता। यद्यपि धार्मिक अन्ध विश्वासो के खण्डन म इन दोनो का योगदान स्वीकार करना पडता है क्योकि दोनो, सिद्धात वादिता या अधिदर्शनात्मक दृष्टि का खण्डन करते हैं और मस्तिष्क को ही चेतना का केन्द्र मानते हैं परन्तु साथ ही इन्होने एक नये अन्धविश्वास को भी जन्म दिया है। फ्रायड तथा जेम्स की स्थापनाओ का साराश है कि आप 'मानवीय प्रकृति' को बदल नही सकते। इस "शाश्वत मानव प्रकृति' मे, 'निजी-सम्पत्ति सग्रह' की 'मूल प्रवृत्ति' भी शामिल है। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पत्ति–एकाधिकार, युद्ध तथा वर्गस्वार्थ की प्रवृत्तियाँ 'नित्य प्रवृत्तियाँ' है।

फ्रायडवाद की इन मान्यताओ का कारण है, उसमे विज्ञान का अश कम होना और सम्मोहन (Hypnotism) एव आत्मप्रक्षेपण (Self Projection) का बाहुल्य होना।

फ्रायडवाद मे सम्मोहन की धारणा कैसे आई, इसके लिये फ्रायड के जीवन को देखना होगा। बचपन से ही फ्रायड काट के प्रशसक थे। गेटे का यह वाक्य पढकर कि प्रकृति सभी रहस्यो के उत्तर देती है फ्रायड, विज्ञान की ओर उन्मुख हुए। उन्होने शरीर–विज्ञान पढा फिर वियना विश्वविद्यालय मे, शरीर विज्ञान का अध्यापक होना चाहा, पर यहूदी होने के कारण ऐसा न हो सका तो डाक्टर हो गये। यही फ्रायड का ध्यान उन मानसिक रोगियो की ओर गया जिनके रोग के कारणो का पता नही चलता था। १८८८ ई० मे फ्रायड ने Suggestion and its application as a Therapy'

पढी। इस पुस्तक के लेखक डा० बर्नहम ने, सम्मोहन अथवा मनोआदेश द्वारा लकवा, मृगी आदि के रोगियो के इलाज का विवरण दिया था। डा० फ्रायड ने भी सम्मोहन का प्रयोग किया और उन्हे अद्भुत सफलता मिली।

किन्तु "सम्मोहन प्रक्रिया" से प्रत्येक रोगी को ठीक नही किया जा सका, कमजोर इच्छाशक्ति के रोगियो पर फ्रायड का सम्मोहन चलता था, शेष पर नही। इसके सिवा सम्मोहन का प्रभाव हटते ही रोग पुन उभर आता था। अब डा० ब्रियर (Breuer) की सहायता से फ्रायड दमित वासना के सिद्धात तक जा पहुँचे। उन्हे पता चला कि यदि रोगी, सम्मोहन की अवस्था मे अपनी पूर्व घटनाओ, भावनाओ आदि का स्मरण करे और दमित इच्छा के साथ सम्बद्ध पूर्व परिस्थिति की पुनरावृत्ति कर तो रोग लुप्त हो जाता है। डा० फ्रायड ने इस नई पद्धति से, जिसमे रोगी अपनी भावनाओ को डाक्टर के सम्मुख रेचन करता है कई रोगियो को लाभ पहुँचाया। डा फ्रायड इस सोपान मे सर्वप्रथम इस तथ्य से परिचित हुए कि मानवीय चेतना के भीतर अज्ञात गुह्य उपचेतन है और वही मुख्य है। फिर भी Project नामक पुस्तक मे, जो १८६५ ई० मे लिखी गई डा० फ्रायड ने प्राकृतिक विज्ञान से अपना सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न किया है। किन्तु कुल मिलाकर इस पुस्तक मे कल्पना से बहुत अधिक काम लिया गया है। फ्रायड इसके बाद बराबर प्रचार करते रहे कि मनोविज्ञान, मस्तिष्क विज्ञान (Brain Physiology) की सहायता के बिना भी स्वतन्त्र विज्ञान के रूप मे काम कर सकता है।

इस मनोविश्लेपण का आधार 'दमित वासना' का सिद्धात है। जब किसी स्वस्थ व्यक्ति के मन मे लज्जाजनक प्रेरणा या भावना (Shameful impulse) उत्पन्न होती है तो उसका विरोध होता है। यह सघर्ष तब तक चलता है, जब तक लज्जाजनक प्रेरणा का निषेध नहीं हो जाता और उस लज्जाजनक प्रेरणा का अनुभव कराने वाली मानसिक शक्ति भी दब नहीं जाती किन्तु एक रोगी के अन्तर्द्वन्द्व मे भिन्नता रहती है। रोगी की लज्जाजनक प्रेरणा, चेतना (Consciousness) तक आ ही नही पाती, वह उपचेतन मे, हलचल उत्पन्न करती रहती है फलत मानसिक शक्ति या मानसिक इनर्जी लज्जाजनक प्रेरणा से छुटकारा नही प्राप्त कर पाती अत 'अचेतन लज्जाजनक प्रेरणा' (Unconscious impulse) शक्तिशालिनी बनी रहती है। रोगी की चेतना को इसीलिये यह दमितवासना से उत्पन्न स्वप्न व्याकुल किये रहते हैं और रोग के रूप मे अथवा अन्य रूपो मे उनकी अभिव्यक्ति होती रहती है। इस पूरी प्रक्रिया को 'दमन' (Repression) कहा गया है। डा० फ्रायड

इस चिंतन का सबसे कमजोर पक्ष यह है कि वे स्नायुरोगों की पृष्ठभूमि का शारीरिक आधार (Physiological State) नहीं मानते अपितु उसे एक मानसिक स्थिति (दमन की स्थिति) मानते हैं।

लज्जाजनक संवेगों या प्रेरणाओं को आगे चलकर फ्रायड ने 'मूल प्रवृत्ति' (Instincts) मान लिया और इनमें भी 'यौन प्रवृत्ति' को अन्य सब के आधार के रूप में स्वीकार किया। इनके अतिरिक्त अन्य बलशाली प्रवृत्तियों को, बाद में फ्रायड ने 'ऊर्ध्व अहं' (Super Ego) में अवस्थित माना। 'ऊर्ध्वअहं' को सामाजिक, नैतिक और धार्मिक मापदण्डों का परिणाम बताया गया।

एच० के० वल्स के अनुसार फ्रायडवाद में "दमन के सिद्धांत का केन्द्र है साइकिक इनर्जी का सिद्धांत, तो भी फ्रायड 'साइकिक इनर्जी' के अस्तित्व पर एक भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाये। वास्तव में फ्रायड ने 'साइकिक इनर्जी' का केवल अनुमान किया क्योंकि, इसके बिना निषिद्ध संवेग हानिकर नहीं होगा। क्योंकि 'साइकिक इनर्जी' के स्पर्श के कारण निषिद्ध संवेग, रोगी की चेतना को कष्ट देते रहते हैं, अतः मनोविश्लेषक का फ्रायड के अनुसार काम यह था कि वह 'साइकिक इनर्जी' के स्पर्श को दूर करदे अथवा दमित इच्छाओं का रेचन कर दे। इसके लिये दमित इच्छा को अनावृत करना आवश्यक समझा गया और इस अनावरण की पद्धति को 'मनोविश्लेषण' कहा गया।

१८९६ ई० से १९०२ ई० तक फ्रायड ने एकाकी रहकर ही काम किया। इस अवधि में उन्होंने 'रेचन' के लिये आत्मपरीक्षण (Introspection) मुक्त-साहचर्य (Free Association) स्वप्न-व्याख्या (Interpretation of dreams) तथा स्थानान्तर (Transference) नामक चार पद्धतियों का आविष्कार किया। इन पद्धतियों से दमित इच्छाओं और संवेगों को विभिन्न रूपों में चेतना तक पहुँचाया जाता था। आजकल भी इन्हीं पद्धतियों का प्रयोग होता है।

मुक्त-साहचर्य-पद्धति में रोगी को आराम से एक कुर्सी पर लिटाया जाता है और वह बिना अपने विचारों का दिशानिर्देश किये हुए जो कुछ मन में आता है उसे कहता जाता है। मुक्त-साहचर्य पद्धति द्वारा उन विचारों का संग्रह किया जाता है, जिनकी प्रायः उपेक्षा की जाती है। फिर इन विचारों की व्याख्या की जाती है जिससे रोगी की 'दमित वासनाओं' का पता चल जाता है। स्पष्ट है कि फ्रायड की मुक्त-साहचर्य-पद्धति एक अवैज्ञानिक पद्धति

नही थी अपितु इस पद्धति द्वारा कुछ 'सकेतो' (Clues) को प्राप्त किया जाता था, जिनकी बाद म व्याख्या करनी पडती थी और वह व्याख्या एक 'कला' थी। इस कला के न नियम थे, न कायदे।

मुक्त साहचय की ही तरह स्वप्नो का उपयोग किया गया। स्वप्न-चित्रो (Dream imagery) द्वारा प्रतीकात्मक सामग्री प्राप्त की जाती थी। तृतीय पद्धति स्थानान्तर पद्धति कहलाती है। उपचार मे रोगी और डाक्टर के बीच एक भावात्मक सम्बन्ध कायम हो जाता है, कभी रोगी डाक्टर से प्रेम करता है, कभी घृणा। फायड के अनुसार रोगी अपनी पूर्व परिस्थिति का पुन अभिनय करता है अत डा० के प्रति रोगी के भावात्मक सम्बन्धो की अभिव्यक्ति से ऐसे सकेत प्राप्त हो सकते है, जिनसे उसकी दमित इच्छाओ का पता चल सके किन्तु यहाँ भी 'व्याख्या' की आवश्यकता पडती है।

इन पद्धतियो की पृष्ठभूमि मे स्नायु रोगो का यह सिद्धात था कि मनोग्रस्तता (Obsessions) पक्षाघात (Paralysis आदि के माध्यम से रोगी की दमित इच्छाए, सवेग आदि व्यक्त होते है। डा० फायड के अनुसार 'दमन' के इतिहास पर विचार करने स अन्त मे शैशवस्था मे किसी 'दमित इच्छा विशेष' का पता चल जाता है। १८९८ ई० मे डा० फायड ने बताया कि प्रत्येक स्नायुरोग की पृष्ठभूमि म शैशवावस्था मे तो यौन सम्बन्ध शक्ति अविकसित रहती है, इसका उत्तर भी डा० फायड ने दिया कि—स्नायुरोग के लक्षण वास्तविक यौन सम्बन्धो से सम्बद्ध नही होते, अपितु यौन इच्छाओ, तरङ्गो (Fantasies) आदि से सम्बन्धित होते हैं। अत यौन इच्छा के दमित होने स ही रोग उत्पन्न होते हैं।

यह स्मरणीय है कि फायड ने सबसे अधिक स्वप्न-व्याख्या को महत्व दिया है। दमन के सिद्धात म यौन इच्छाओ' के दमन को ही मान लेने से फायड की स्वप्न व्याख्याएँ विचित्र प्रतीत होती हैं—उनके अनुसार स्वप्न मे दीखने वाले सम्पूर्ण लम्बे और सीधे पदाथ—लकडी, वृक्षो के तने, छाता, चाकू, तलवार, भाला, छडे आदि 'पुरुष तत्व' का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी तरह गोल और गहरे पदाथ स्त्रीतत्व के प्रतीक होते हैं, यथा छोटे बक्स, सन्दूक, डिब्बे, जहाज, कमर, गहर बतन आदि। स्वप्न मे यदि आप एक कमरे मे से निकल रहे हो तो फायड के अनुसार इसका अथ होगा वेश्यालय। सीढियाँ, ऊपर की ओर चढाव आदि 'सम्भोग' के प्रतीक मान गये हैं। इसी प्रकार यात्रा मे सिर का बोझ उसके 'पाप' का प्रतीक माना गया है। डा० अनुसार स्वप्न दमित इच्छा की गुप्त पूर्ति' है। स्पष्ट है कि फायड इस

व्याख्या के द्वारा वज्ञानिक-पद्धति का छोड़ चुके थ—और वज्ञानिक काय की जगह एक 'पौराणिक काय' कर रहे थ।

फ्रायड यदि केवल स्नायु रोग के इलाज तक ही इन सिद्धान्तों को सीमित रखते तब भी गनीमत थी किन्तु उन्होंने दमन सिद्धात द्वारा ज्ञान की प्रत्येक शाखा की व्याख्या सम्भव सिद्ध कर दी, यह काय एक वज्ञानिक का नही एक दाशनिक का था और इसीलिए फ्रायड ने भी आत्मप्रक्षेपण की कल्पना और अनुमानों से काम लिया।

फ्रायड ने कल्पना की है कि चेतना के दो भाग हैं प्रथम चेतन, जो बहुत छोटा भाग है इसमे पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण, स्मरण आदि काय होते हैं। द्वितीय है 'अवचेतन' (Unconscious) चेतना के इस भाग मे मूल प्रवृत्तियाँ (Innate Instintcts) तथा वर्जित इच्छाए, भाव आदि रहते हैं। चेतना की दो व्यवस्थाओ के मध्य एक 'पर्दा' (Screen) या वजक' स्थिति और है, जिसका काय है—चेतन की पहरेदारी। "वजक चेतना" (Censorial Guardian) दो काय करती है। (१) यह निषिद्ध इच्छाओ, सवेगो आदि को अवचेतन से चेतन की ओर, नही जाने देती। (२) अवचेतन मे स्थित निषिद्ध इच्छाओ को चेतन मन से छिपाए रखती है।

चेतना का यह सारा विभाजन 'दाशनिक विभाजन' है, वज्ञानिक नही। न जीवन से यह सिद्ध होता है कि सारी इच्छाओ का मूल 'सम्भोगेच्छा' ही है।

१९०२ ई० तक फ्रायड दशन, विकसित हो गया। शारीरिक विज्ञान के अधिक विकसित न होने से फ्रायडवाद का विरोध सम्भव नही था। १९०४ ई० मे फ्रायड ने दमन' के सिद्धात को दनिक जीवन पर भी लागू किया। (Psychology of Everyday life) दमन के इस सिद्धात को दूर तक खींचने के परिणाम स्वरूप कोई भी व्यक्ति 'स्वस्थ' नही है, यह स्वत सिद्ध हो गया क्योंकि प्रत्येक के मन मे फ्रायड के अनुसार चेतन व उपचेतन मे सघष चलता रहता है। अन्तर सिफ मात्रा का है। सघष अधिक तीव्र होने पर आदमी रोगी कहलाता है और अनुशासन म रहने पर वह नॉमल' कहलाता है।

फ्रायड के अनुसार मनुष्य की चेतना का निर्माण प्रवत्तियो और अव चेतन के दमन से होता है पर तथ्य यह है कि मनुष्य की चेतना का निर्माण सामाजिक कार्यों के दौरान ऐन्द्रिय अनुभवों से होता है। फ्रायड ने अवचेतन म केवल दमित इच्छाओ, सवेगो तथा विचारो का अस्तित्व माना है जबकि

वास्तविकता यह है कि मनुष्य की इच्छाशक्ति (Will power) जिसका कि वह सामाजिक काय करते हुए विकास करता है, उसके अन्तजगत पर अनुशासन रखकर भी मनुष्य को बीमार नहीं होने देती, यही कारण है कि हमारे यहाँ योग का और फ्रायड के यहा सम्भोग को महत्व दिया गया है।

फ्रायडवाद मे दमित इच्छाओ सवेगो और विचारो का सम्ब ध देश और काल से सम्बन्धित नही माना गया, यह इस मत का एक और दुराग्रह है।

फ्रायड की मानसिक प्रक्रिया के तीन रूप हैं। भौगोलिक (Topographic) गतिम त (Dynamic) तथा बचत का सिद्धा त (Economic) भौगोलिक प्रक्रिया का अथ है—मस्तिष्क के दो भाग हैं—चेतन तथा अवचेतन। इन दोनो के मध्य मे 'वजक चेत' तत्व है स्पष्ट ही यह विभाजन कल्पित है। अवचेतन को बाह्य जगत् से निरपेक्ष मान लेने के कारण फ्रायड मानवीय चेतना का रूप निर्धारण ऐन्द्रिय-अनुभवो द्वारा न मान कर मूल प्रवृत्तियों और उनके दमन द्वारा मानने के लिए विवश हुए है। फ्रायड के मानसिक भूगोल मे अवचेतन को ही प्रबल और प्रमुख माना गया है।

फ्रायड क गतिम त तथा बचत के सिद्धा त चेतना के दमन से, सम्बन्धित हैं। फ्रायड ने वजक तत्व को 'सुपर इगो' कहा है और अवचेतन को 'इड' कहा है। सुपर इगो या ऊध्व मन के लिये, चेतन मन प्रवृत्तियो का दमन करता हैं, बदले मे दमित प्रवृत्तिया, ऊध्व अह को नष्ट करने की फिराक मे रहती हैं। इस चि तन म फ्रायडवाद का समाज विरोधी दशन झलकता है क्योकि मानवीय चेतना का उददेश्य बाह्य जगत से ज्ञान प्राप्त करना है न कि केवल अवचेतन से घुटकर रहना, जैसा कि फ्रायड कहते हैं।

समाज और सभ्यता का अस्तित्व पाशविक वृत्तियो के अनुशासन पर निभर है। सभ्यता के निर्माण से व्यक्ति का अस्तित्व भी सुरक्षित हुआ है, उसकी उन्नति और रक्षा के साधनो का विकास हुआ है कि तु फ्रायड के अनुसार समाज और सभ्यता व्यक्ति के लिए एक व्याधि है। फ्रायड के लिए अधिक विकसित समाज व्यवस्था का अथ है, प्रवृत्तियो का अधिक दमन और दमन का परिणाम होगा—दुस्वप्न, अभद्र परिहास, स्नायुरोग आदि। इस प्रकार इस सिद्धा त के परिणाम की दृष्टि से समाज का विनाश आवश्यक हो जाता है ताकि व्यक्ति सामाजिक दबाव से दबकर अपनी पाशविक वृत्तियों की स तुष्टि कर सके!

किन्तु फ्रायड के इस निराशावाद में एक आशा की क्षीण भलक भी दिखाई पडती है। कुछ विशिष्ट व्यक्ति दमित इच्छाओं का उदात्तीकरण करके, स्नायुरोगों से बच सकते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति बचपन में अपनी माता के प्रति यौन आकर्षण का अनुभव करता है, किन्तु समाज के दबाव से उसकी दमित इच्छा कभी कभी उस प्रकृति के अन्वेषण की ओर प्रवृत्त कर देती है, फलतः वह व्यक्ति एक वैज्ञानिक बन जाता है। मतलब यह कि वैज्ञानिक, कवि, कलाकार आदि प्रतिभाशाली व्यक्ति, वे विशिष्ट प्राणी हैं जो अपनी दमित इच्छा के उदात्तीकरण में सफल हो सके हैं--किन्तु उदात्तीकरण के अभाव में स्नायुरोग अवश्य होंगे। फ्रायड ने अपने चिंतन में वस्तुतः अपने को ही प्रक्षिप्त (प्रोजेक्ट) किया है। उसने अपने दमन के सिद्धान्त को सभी क्षेत्रों में लागू किया, इसीसे उसने आदिम सभ्यता के इतिहास की व्याख्या की। फ्रायडवाद में धर्म, चरित्र और समाज आडीपस काम्प्लेक्स या पुत्र और पिता की प्रतिद्वन्द्वता की धारणा पर आधारित है। फ्रायड यह मानने को तैयार नहीं कि धर्म, चरित्र और समाज के विकास में आर्थिक, सामाजिक आवश्यकताओं का ही मुख्यतः योगदान रहा है और धर्म, चरित्र, कला, दर्शन आदि तदनुरूप विकसित हुए हैं। फ्रायड के अनुसार इतिहास को गति देने वाले कुछ विशिष्ट व्यक्ति होते हैं। समाज इन्हें 'पिता' के रूप में स्वीकार कर लेता है है और साथ ही उनसे भयभीत भी रहता है। इस प्रकार फ्रायड इतिहास दर्शन में महान व्यक्तियों के सिद्धांत का प्रचार करते हैं, उनके अनुसार सारा इतिहास 'आडीपस काम्प्लेक्स' की ही कहानी है। फ्रायड के लिए इस इतिहास सिद्धान्त को मानना ही चाहिए क्योंकि व्यक्ति का मानसिक विश्लेषण इसकी साक्षी देता है। सन् १६३२ में आईन्स्टीन के एक पत्र के उत्तर में फ्रायड ने लिखा था कि 'विश्वयुद्ध अवश्यम्भावी है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में मारणेच्छा रहती है और रहेगी' अतः विश्वशान्ति फ्रायड वाद के अनुसार असम्भव है।

फ्रायड की इन सब कल्पनाओं का खण्डन पावलोव के शरीर विज्ञान द्वारा होता है। पावलोव के शरीर विज्ञान स्नायुरोग स्वप्न आदि की व्याख्या स्नायुओं के अध्ययन द्वारा ही हो सकती है। फ्रायड ने शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन न कर, अवचेतन को बाह्य जगत् से निरपेक्ष मान कर पौराणिकता लिए, के द्वार खोल दिए हैं। पावलोव के अनुसार स्नायु रोग बाह्यदबाव (Over Strain) के कारण होते हैं। स्वप्नों की व्याख्या एक सीमा तक शारीरिक आधार पर की जा सकती है। उदाहरण के लिए, नासिका स्वच्छ होने पर वायु का आवागमन जब सुविधापूर्वक होता है तब स्वप्न में मनुष्य अपने को उड़ता हुआ देखता है किन्तु फ्रायड

के अनुसार स्वप्न की उडान का अर्थ है–सम्भोगेच्छा के लिए योग्यता प्राप्ति का प्रयत्न !!

शरीर विज्ञान की अविकसित अवस्था म विलियम जेम्स की तरह फ्रायड आत्मवादियो के आत्मा के सिद्धात के स्थान पर "नित्य मूल प्रवृत्तियो" के सिद्धात का प्रचार करते हैं। यह शापेनहाउर, और कांट से बुरी तरह प्रभावित थे, फ्रायड का साराश यह है कि मनुष्य न तो अपने को बदल सकता है और न बाह्य जगत को जान ही सकता है वह केवल अपनी प्रतीति की व्याख्या कर सकता है ।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि हिन्दी म फ्रायडवाद को वैज्ञानिक मानकर जिन उपन्यासो, कथाओ और आलोचनाओ की सृष्टि हुई है उनका शैली की दृष्टि से भले ही महत्व हो, वस्तुतत्व की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व नही है। फ्रायड के मनोविश्लेषण की असलियत तब खुलती है, जब ज्ञान की अन्य शाखाओ म इस पद्धति के प्रयोग को हम पूर्णत असफल होता हुआ देखते हैं। हिन्दी साहित्य की व्याख्या मे फ्रायडवाद को पूर्णत स्वीकार कर लने वाले लेखको को वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न नही कहा जाएगा। 'शेखर एक जीवनी' जैसे उपन्यासो तथा वर्जनाओ के पुजो को प्रतिध्वनित करने वाली कविताओ को यथार्थिक एव लेखक का आत्मप्रक्षेपण माना जाएगा। उपन्यासो म अवचेतन की व्याख्या म युग और एडलर के अनुगामी भी 'यथार्थवादी' नही कहे जा सकते क्योंकि वहाँ भी आत्म प्रक्षेपण ही अधिक है। यथार्थ के लिए 'बाह्यसघर्ष और तदनुरूप मानसिक सघर्ष" की सत्यता देखनी चाहिए क्योंकि इस तथ्य की पुष्टि शारीरिक विज्ञान द्वारा भी होती है।

वर्जनाहीन आधुनिकता

हिन्दी कविता में अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं के प्रति जागरूकता बहुत बढ़ी है। मानसिक स्थितियों और वास्तविकता के विभिन्न स्वरूपों की दृष्टि से "विविधता" की उपलब्धि भी हुई है। आन्दोलन की छापों से अपने को न बचा पाकर भी, सृजनकर्त्ता धीरे धीरे अपने को पहचानने की कोशिश करता गया है और यह प्रक्रिया जब पूरी हो लेगी तब सिर्फ नाम के लिए अजीबो गरीब शीर्षकों के अनुसंधान के स्थान पर, "सत्य अनुसंधान" ही प्रमुख हो जाएगा—यानी हमारी आधुनिकता की प्रक्रिया वर्जनाओं, आतंकों और कुंठाओं से मुक्त हो जाएगी लेकिन अभी तो यह स्थिति नहीं है।

अभी तो साधारणतः ध्यान इस ओर रहता है कि कोई नमूना लाओ, तब उसी तरह की कविता या अकविता लिखो। सृष्टि की कोशिश में, कवि का अवचेतन इतना अधिक "प्रभावित" रहता है कि वह अपना नमूना या प्रारूप (मॉडल) नहीं खड़ा कर पाता, जबकि सभी तरह की आधुनिकताओं के प्रारम्भ से ही, प्रतिभाशाली कवियों ने अपने अपने 'प्रारूप' गढ़े और उस 'प्रारूप' को इतना माँजा कि वह उनके 'कथ्य' को उसी रूप में व्यक्त कर सका जैसा वह चाहते थे। यही कारण है कि अंग्रेजी के टी० एस० इलियट, एजरा पौंड हापकिन्स जैसे कवियों में आधुनिकता और पारम्परिकता की असंगति या द्वन्द्व, शान्त होने लगता है। वी० एस० पिन्टो ने "क्राइसिस इन इंगलिश पोयट्री" में इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया है—

"In a sense, it might be said that English Poetry had by this timeovercome its internal crisis," the cleavage between the modernists or Traditionalists The mature poetry of Eliot, Edith Sitwel or Day Lewis can not be called modernist or Traditionalist It has absorbed the le sons of moder nism and combined them with those elements of English Tradition which can live in the modern world (पृष्ठ 234)

किन्तु क्या यही स्थिति हमारे नवलेखन में है? हमारे यहाँ तो अभी "परम्परा और आधुनिकता" की टकराहट चल रही है जो प्राय आन्दोलना

त्मकता और अखबार नवीसी से पीडित होने लगती है। यहाँ 'नवलेखन' अपनी काव्यपरम्परा का गम्भीर अवगाहन, अपनी प्रतिभा का हनन मानता है। दूसरी आर स्थिति यह है कि जिस "ग्रुप" से वह जुडा है, उसकी सवेदना और अधविश्वासो को दुहराने मे ही वह कुशल मानता है, वह 'नयेपन" से इतना आधक आसक्ति है कि वह समझता है कि आगे भी पराए प्रारूप ही उसके लिए पर्याप्त हैं।

एजरा पोड और इलियट न "गद्य के प्रति निकटता" की बात इस लिए की थी क्योकि जब तक वहा विकास और तकनीक का विकास चक्र तेजी से घूम चुका था अत 'दो सस्कृतियो" का सघष तीव्र हो चुका था। विशेषीकरण के युग मे काव्य भाषा के बनावटीपन, छन्दोबद्धता के कारण उत्पन्न जकडबन्दी का अहसास, काव्य को गद्य के निकट लेजाना चाहता था और कठिन कठोर, अशिथिल, भावुकतारहित और बौद्धिक काव्य के विकास म सफलता भी प्राप्त की गई थी। दो दो युद्धो से "आधुनिकता," "प्रगति" जस शब्दा क साराशो और उनके नतीजो की भी खोज बीन हुई और यह भ्रम दूर होने लगा कि 'तकनीकी सभ्यता,"[1] "असकनीकी सभ्यता" या उसकी सस्कृति म उच्चतर होती है। अभी हमारे लेखक इस तरह सोच नही पाते। इसका कारण यह है कि 'प्रगतियुग की भारत वष मे तो अभा शुरु-आत ही हुई है अत 'विकल्पो' म द्वन्द्व तीव्रतम है, और इस द्वन्द्व से तरह तरह की वजनाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

कि तु अमरीकी नव्यतर कविता म और कवियो मे 'मुक्तता" अधिक मिलती है। वहाँ अनेक कवि अपना रग" अलग रखना चाहता है। प्राय विरोध से भी किसी तथ्य की आर ध्यान चला जाता है। उदाहरण के लिए आधुनिकता के प्रथम ज्वार मे "गद्य के प्रति निकटता" के जोश मे यह कहना प्रतिक्रियावाद मान जाने लगा कि छ दोवद्ध काव्य प्रारूपो की भी सृष्टि करनी चाहिए। अतत आधुनिक होन के लिए हीरे की तरह सख्त होन या "युक्तता" (प्रीसाइज) के चक्कर म, एक ही तरह से क्या लिखा जाता रह ? यदि प्रयाग वाछनीय है, तो अनुशासन" (एजरा पौण्ड इसके लिए "पुरान" कवियो को आदश मानता था) के लिए छन्दोवद्ध कविता लिखकर देखा जाय कि क्या

[1] 'यदि औद्योगिक और तकनीकी प्रगति ही सफलता का मापदण्ड है तो हमे चीटियो और मधुमक्खियो की पूजा करनी चाहिए और अरिस्टाफोस की चिडिया क अहकार के सम्मुख नाक रगडनी चाहिए' —बर्नार्ड शा

बनता है। वर्जनामुक्त व्यक्तित्व ही इस तरह सोच सकता है, किसी आन्दोलन का पिछलग्गू तो सोचेगा कि अज्ञेय जी अभी तक ऐसा लिख रहे हैं अथवा अमुक जी ने इस तरह लिखा है, कहीं हमारा प्रयोग "दकियानूसी" न कह दिया जाय। वर्जनामुक्त व्यक्तित्व किसी प्रयोग में असफलता की भी चिन्ता नहीं करता, वह बार बार नये नयेप्रारूप गढता है और उस प्रक्रिया में उसका अपना "रंग" उभर आता है। "जक क्लेमो" की "एक कालविनिस्ट का प्रेम" शीर्षक रचना इस प्रकार है —

I will not kiss you, Country fashion,
By hedgeside where
Weasel and hare
Claim Kinship with our passion
Our love is full grown Dogma's offspring
Election's child
Making the wild
Heats of our blood an affering [1]

विधि निषेधों से सन्त्रस्त 'धार्मिक' व्यक्ति प्रेम के क्षणों में क्या सोचता है, यह यहां द्रष्टव्य है लेकिन कवि क्या समसामयिक आधुनिक कालविनो[2] पर तब व्यंग्य नहीं करता जब वह यह कहता है—

"This bare clay pit is truest setting
For love like ours
No bed of flowers
But Sand bedge for our petting"

आधुनिकता को अनवरत रूढ़ि से विद्रोह समझना चाहिए लेकिन हम आगे को, कब तक दुहराते रहेंगे। इस तरह की नव्यतर" रचनाओं से कई सवाल उठते हैं। अमरीकी नव्यतर कविता कमिंग्जवादी' उच्छृंखल (खल प्रयोग ?) प्रयोगों से आगे बढ़ चुकी है। एलेन टेट जैसे 'नए आलोचक" कमिंग्ज के प्रयोगों की सीमाओं को रेखांकित कर चुके हैं (कलेक्टिड एसेज) अत अब ऐसा लगता है कि समसामयिक स्थितियों के बोध और संवेदना को 'सहज' रूप में और प्रायः दुर्बोध रूप में कहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। अब टी०एस० इलियट की तरह "दुरूह" होना या 'अक्षमता' को, 'आधुनिकता" कहना

१ Penguin Modern Pacts, II Page 13–14

२ काल्विन, प्रसिद्ध सुधार संत (१५०६–१५६४)

की प्रवृत्ति बहुत कम हो गई है। कम से कम साठोत्तरी के कई कवियों के विषय मे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।

छंदोबद्धता के सिवा एक और बात पर ध्यान जाता है कि ये कवि किसी भी वस्तु को शीर्षक बनाकर उसके माध्यम से या उसके सहारे स्वानुभूत सत्यों या संवेदनाओं को प्रकट करते हैं फलत शीर्षक की एक तस्वीर उभरती है, तो साथ ही समसामयिक स्थितियों की व्याख्या भी होती चलती है, कुछ शीर्षक देखने योग्य हैं—

१ पनचक्की
२ गड्ढे मे ईसामसीह
३ खुदाई करने वाला (पुरातत्व वेत्ता)
४ पर्याप्तता
५ माँ, उठो, किवाड खोलो
६ कोढी
७ पोलो का खिलाडी
८ ड्रिल शिक्षक
९ खरगोश की चीख
१० स्टव की 'एनाटामी'' का देखकर
११ साम्राज्यवादी का ''रिटायर'' होना
१२ चालीस पृष्ठ का पागलपन
१३ सोने के समय की कहानी
१४ निदेशक को रपट भेजना
१५ कचीनुमा आदमी
१६ अण्डरवियर
१७ यत्न न करने वाले कवि के प्रति
१८ एक पागल बच्चे का इलाज करते हुए

इस तरह की नव्यतर कविताओं को पढकर ऐसा लगता है कि सकट बोध सतह पर नही है। वह गहराई मे नीचे और नीचे जाकर बैठ गया है लेकिन वह सतह पर गुजरती जिन्दगी के सहज तौर से हमे काटता नहीं, न उसकी व्यर्थता, निरर्थकता (दार्शनिक मुद्रा मे) की ही वह सस्ती घोषणा करता है। लगातार सिरदर्द की तरह, 'सक्रान्ति बोध'' छा नही जाता बल्कि वह बादलों मे कभी-कभी कौंध जाता है और उस कौंध की तरफ से, बादलों पर सोचने पर, व्यक्तिगत अनुभव सामान्य अनुभव मे बदलने लगता है, इससे

कविता, कविता बन जाती है, वह मात्र आत्म अभिव्यक्ति नही रह जाती। इन सग्रहा मे, एलिन गिसबग की भी कविताएँ हैं लेकिन उसका "रग" अलग है। उससे हिन्दी चेतना परिचित भी है, उसका "नमूना" प्रचलित भी हो गया है, जिसे विरुद्ध कविता या आक्रोशी कविताओ मे देखा जा सकता है लेकिन अन्य नव्यतर कविताओ मे जीवन के सहज स्तर पर, अति सहज मुद्रा मे, बोलते, बतियाते, किसी परिचित चीज पर ध्यान केन्द्रित करते, व जीवन के किसी पक्ष को उजागर करते हुए कवि आगे बढ जाता है। इससे एक मानवस्पश मिलता है जो "चीज" को 'आदमियत' की "छुअन" देकर भी न तो बनावटी मानवीकरण अपनाता है और न व्यथ के "प्रसगगभत्व" को ही समेटता है जो इलियट जसे कवियों की विशेषता थी।

यह नव्यतर कवि धारणा और अनुभूति को पृथक करके भी नही देखता। वह मन हाने पर सीधे युद्ध का विरोध करता है, मानवीय जीवन की साथकताओं, सुखों और मूल्यो को वाणी देता है। वह सुखों, दु खो, सकटो और पराजमा स भागता नही, प्रत्येक अनुभव को व्यक्त करता है—

Mother get up, unbar the door
Throw wide the window pane
I see a man stand all covered in Gand
Outside in Vicarage Lane

चाल्स कौसले की इन पक्तियो मे सभी प्रकार की सकीर्णताओ के विरुद्ध मानव प्रेमी कवि का स्वर है। सचमुच आज हमारे द्वार बन्द हैं और हर एक द्वार के बाहर एक एक आदमी धूलधूसरित खडा हुआ है लेकिन कोई किवाड नही खोलना चाहता।

हे मा, तुम अपने पति की बाहो म,
काफी अरस से बँधी रह चुकी हो
उठो मेरी प्रिय मा, तुम्हारा प्रिय यहा हैं
दस शा त मदान मे।

इसी 'मूड' मे मा के प्रति यह प्राथना ऊपर स सपाट' घरेलू 'बक वास सी लगती है लेकिन जब कवि अभ्यागत का चित्रण करता है तब 'सन्दभ" बदल जाता है और पूरी कविता आज के मनुष्य की स्थिति की व्यजक बन जाती है—

His body is shot with seventy stars
His face is cold as cain
His coat is a crust of desert dust

जो यह समझते हैं कि नयापन सिर्फ "केन" (आदम का पुत्र=हत्यारा) की तरह चेहरे, इस प्रयोग मे है, वह यह भूलते है कि यहाँ कवि का ध्यान बिम्ब वचित्र्य पर नही, युद्ध से उत्पन्न मानव संकट पर है और इसके लिए आदम के पुत्र और हत्यारे (Abel का हन्ता) 'आदमी" का उपमान, चमत्कारक कम संवेदक अधिक है। दूसरे, कवि ने इस अहसास को छन्दोबद्ध करके भी यह साबित किया है कि आधुनिकता" के लिए जो निषेध शुरू मे अपनाए गए थे, अब उनका भी निषेध होना चाहिए। क्योकि आधुनिकता एक दृष्टि है, अपनी और अपनी स्थितियो की सही पहचान और अभीप्साओ की पूर्ति के लिए सभावनाओ और विकल्पो की खोज। इसके लिए कोरी नकारात्मकता और "अस्वीकृति" निहायत पिछड़ापन है क्योकि नव्यतर कवि अस्तित्ववादी, प्रतीकवादी, अतियथार्थवादी वगरह सभी "धर्मो' से ऊपर उठकर भारतीय संवेदनाओं को व्यक्त करना चाहता है। उसका ध्यान पराये प्रारूपो और परायी मनोदशाओ की नकल पर नही, अपनी चिन्तना और अहसास के द्वारा आदमी को आत्म जागरूक बनाना है। कोई व्यर्थ की चातुरी नही, कोई भाषाडम्बर नही कोई अचल्य या छन्दलय या लयहीनता का आग्रह नही। जसा कि मार्टिन बेल कहता भी है—

Help me to tell the truth and not feel dull

आधुनिक मुद्राएं

पाश्चात्य दशो म आधुनिकता का विस्फोट लगभग अधशती पूर्व हुआ था । उस समय अकादमी स सम्बन्धित विद्वानो न आधुनिकता के वामपथ का अतिरंजित रूप म पेश किया ग । टी एस इलियट को 'एक मदिरो मत्त-बोलशविक" (ए ड्रकिन बोल्शेविक) कहा गया था । अब इलियट म कुछ भी वामपथी (रडीकल) नही प्रतीत होता । यही स्थिति हिन्दी मे अज्ञेयजी की है । पहले उनके वामपथ का अतिरंजित रूप मे प्रस्तुत किया गया लेकिन अब उनमे कुछ भी "वामदिशापरक" नही मिलता । "हिन्दी साहित्य-एक आधुनिक परिदृश्य" म तो लगता है कि अज्ञेय का अध्यापकीकरण" हो गया है । अज्ञेय इस पुस्तक मे वामपथ या रडीकल होन के साथ-आधुनिकता का कोई सम्बन्ध नही दिखात । हिन्दी मे स्थापित' होते ही कितनी जल्दी आधुनिक लेखक विस्थापित हो जाता है कितनी जल्दी उसकी ताजगी लुप्त होती जाती है-अज्ञेय, भारती नरश महता, सर्वेश्वर श्रीकान्त वमा, और अब कलाश वाजपयी-वगरह इनके सबूत ह ? सिनमा के नायक-नायिकाओ की तरह इधर लेखक भी बडी त्वरा से नायक की भूमिका छोडकर, 'चरित्र-भूमिकाएँ' करन लगा है ।

यही कारण है कि उम्र क साथ आधुनिकता का सम्बन्ध स्थापित करने देता जाने लगा है । दो चार साल 'छोटा लेखक" अपने अग्रजो को 'पुराना' कहने लगता है । योटस ४५ वष की उम्र मने 'ग्रीन हेलमट' शीषक आधुनिक कविता लिखी थी जिसके विषय म एजरा पौड ने कहा था कि इस रचना ने अंग्रेजी कविता को अलकारो से मुक्ति दी ।

ग्रीन हैल्मेट' का रचनाकाल १६१० ई० है । इसमे पहली बार अंग्रेजी कविता के मुहावरे म एक लचक पदा की गई थी । उम्र क साथ आधुनिकता का सम्बन्ध जोडने पर दूधनाथसिंह की कहानियो का पुरानी-पीढी" की कहानी कहना पडेगा क्योकि "सपाट चेहरे वाला आदमी" नामक कहानी यथाथ क एक बोध को ही व्यक्त करती है और दूधनाथसिह, इस सग्रह म बिल्कुल भी 'अप्रतिबद्ध लेखक' नहीं लगत । अत यदि कोई कह कि दूधनाथ सिह न सिफ पत्तरे बदले है कथ्य और उसके प्रति मानवसवेदना वही है जो प्रेमचन्द म थी या कि यशपाल म तो एसा कथन 'अनाधुनिक' कहा जायगा,

किंतु सत्य यही है। अत उम्र और आधुनिकता का सम्बंध हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है इसलिए इनका नित्य सम्बंध मानना बचपना है।

प्लखानोव ने "कला और सामाजिक यथार्थ" में पारनेसियन तथा रोमांटिक कवियों की मुद्राओं का आकर्षक वर्णन किया है। हमारे यहाँ छायावादियों से प्रभावित अनेक 'किशोर' छायावादी मुद्राएँ अपनाकर समझते थे कि वे कवि हैं, लेकिन कवि पंत प्रसाद निराला और महादेवी ने उतनी 'मुद्राएँ' नहीं अपनाईं। प्रसाद और महादेवी ने तो बिल्कुल नहीं अपनाईं। बड़े बड़े केश रखना, "सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है"—कुछ ऐसा भाव मुख पर लादे रखना, आँखों में सपने और अतीन्द्रिय सत्यों को उतारना, बोलते समय यह प्रभाव देना कि किसी दूर और ऊँची चोटी से बोल रहे हैं या फिर किसी घाटी अथवा कुएँ से आदि मुद्राएँ प्रसिद्ध ही हैं। तब ये मुद्राएँ आधुनिक थीं और बाद में कुभार, पन सेवर वाले, मारपीटपरक लहजा वाले, महाप्राण-प्रगतिवादी उनके की आकांक्षा रखने वाले लेखकों को वे हास्यास्पद मुद्राएँ अब पुरानी हो गई हैं। अगर हमारे विश्वविद्यालयों में ग्रीन हैल्मेट और प्रथम युद्ध के बाद की रोमांसविरोधी रचनाएँ (वेस्ट लैंड आदि) पढ़ाई जातीं तो हमारे रोमांटिक आंदोलन का क्या वही स्वरूप होता जो हमें मिला है? कुकुरमुत्ता में निराला ने इलियट पर व्यंग्य किया है किंतु 'जुही की कली' के समय क्या वे उससे परिचित थे? और कहीं "मार्ट्यू चैम्सफोर्ड सुफ्राग्युन" में रूसी विद्रोह-काव्य से हमारे कवि परिचित होते तो निश्चय ही छायावादी मुद्राओं के अलावा अन्य मुद्राएँ भी उभरती पर खैर।

और आज आधुनिक बनने की होड़ है। क्योंकि अंग्रेजी नहीं आती अत अत्याधुनिक या बिल्कुल 'टटके' कवि—कहानीकार आलोचक दिल्ली बम्बई की मुद्राओं का अंधानुकरण कर रहे हैं। दाढ़ी रखना विद्रोह या नाराजी का चिह्न है, इसलिए दाढ़ी रखाओ, लेकिन नाराजी वहीं दिखाओ, जहाँ 'करियर' का नुकसान न हो। किताब कोस में लगवाने के लिए किसी सड़े हुए 'अधिकारी आलोचक' की तारीफ करनी पड़े तो कर दो लेकिन व्यक्तिगत रूप से उसे गालियाँ देकर क्षतिपूर्ति कर लो। वस्तुत अजनबीपन उस गहरी-तीखी असंतुष्टि का सबूत होता है, जब आप इतने अधिक विसंगतिबोध से संतप्त हों कि किसी भी स्थिति या व्यक्ति को महत्त्व न दें। क्योंकि लड़ने से शत्रु को महत्त्व मिलता है अत अलग रहो, अजनबी की तरह, कुछ न चाहो

यश भी नही, पद भी नही, गरिमा और आत्मगौरव भी नही। कामू के अजनबी मे इसकी एक झलक मिलती है। लेकिन हिन्दी म यह बेमानगी और 'अस्वीकृति' भी भुनाने के लिए ही है—ऐसा लगता है।

अलबेयर कामू ने "द फाल" मे आधुनिकता के नाम पर इस 'आत्मरति' का गहरा चित्रण किया है। अभी तक कोई ऐसा पर्यवेक्षण नहीं हुआ है जिससे पता चले कि आधुनिक मुद्रा धारणा करने के बाद बाजार मे कौन कितने मँहगे या सस्ते बिके? कितनो ने कितना रुपया पद, यश और शिष्य प्राप्त करन के लिए क्या-क्या किया? कितनो ने कितनो के साथ विश्वासघात किए? मानवीय सम्बन्धो की अस्थिरता और अप्रतिबद्धता के नाम पर कितने कपटी मुनियो को कितना लाभ हुआ? इत्यादि, इत्यादि। मुद्राओ और कर्म के अंतर्विरोध का अनुसन्धान अब होना ही चाहिए, क्या कोई साहसी अनुसन्धानकर्त्ता यह काय नही कर सकता?

संग्रहमूलक समाज मे संग्रह इसलिए किया जाता है कि सुख हो, और दूसरो का ध्यान आकर्षित हो, ताकि अपना भाव बढ सके। अगर रचना अन्यत्र नही छप सकती तो अपनी पत्रिका निकालो और उसमे अपनी तारीफ छापो। आत्मसाक्षात्कार हो न हो नौकरी के लिए 'साक्षात्कार' के समय वह योगदान उपयोगी साबित होगा। मेरा मतलब यह हरगिज नही है कि नई पत्रिका निकालना गलत है, लेकिन नवपत्रिका के पीछे दृष्टि क्या है? जमने की और उखाडने की यानी अस्तित्व का सघर्ष या कोई और बडा उद्देश्य है? विसगतिवृद्धि मे इस प्रवृत्ति का बहुत योग रहा है।

'द फाल" मे कथित आत्मरतिग्रस्त आधुनिक के कुछ स्वीकार' प्रस्तुत हैं, ये हिन्दी के अनेक नकली आधुनिको की असली तस्वीर पेश करते हैं—

(१) मैं अन्यो के साथ सम्बन्धो मे अप्रतिबद्ध' हूँ क्योकि मैं अपने को सर्वोच्च मानता हूँ।

(२) 'दूसरा के दिमाग का अपमान किए बिना, दूसरों पर धाक नही जम सकती है।

(३) कोई भी व्यवस्था चाहे वह कितनी ही प्रतिभा उज्ज्वल क्यों न हो शीघ्र ही मुझे उबा देती है लेकिन मैं उन प्रेमिकाओ के साथ नही ऊबता, जिन्हें (जिस क्षण मे) मैं चाहता हूँ।

(४) मैं झुक जाता हूँ क्योकि मैं अपने को प्यार करता हूँ।

(५) ऊब की दवा औरत है।

(६) (कुछ लोग) दूसरों की नुक्ताचीनी इसलिए करते हैं ताकि उनकी आलोचना न होने लगे।

(७) उन मित्रों का विश्वास मत करो जो आपसे कहें कि आप उनके प्रति सच्चे रहें।

(८) मैं कभी विश्वास नहीं कर सकता कि मानवीय विषयों को गम्भीरता से लेना चाहिए।

(९) 'मनुष्यों की आशा आकांक्षाओं या स्वार्थों में भागीदार न बनने के कारण मैं प्रतिबद्धता में विश्वास नहीं कर सका।''

(१०) ''मैंने औरतों में शरण इसलिए ली क्योंकि वे कभी मानवद्रोहलता की निन्दा नहीं करती'' दो स्त्रियों के मध्य ऐश करने पर, तृष्णा समाप्त होती है और आत्मा यन्त्रणादायक नहीं रहती। दूसरे शब्दों में जीवित रहने का संकट समाप्त हो जाता है। (कम से कम कुछ समय के लिए!)

किन्तु इन ''आत्मग्रस्त आधुनिक'' का कामू समर्थन नहीं करता अपितु वह इस आधुनिकता की विसंगतियों का पर्दा फाश करके रख देता है और इस पुराने नतीजे या 'मूल्य' पर पहुँचता है कि एन्द्रिय भोग कल्पनाशक्ति और निर्णयशक्ति का क्षय करता है। (पृ०७८) इसी तरह कामू ने यह भी महसूस किया था कि बहुत से लोग आजकल अपनी ही सूली पर इसलिए चढ़ रहे हैं (या कविता में ऐसा घोषित कर रहे हैं!) ताकि दूर से लोग उन्हें देख सकें और मजा यह है कि पहले से सूली पर चढ़े हुओं को कुचल कर वे स्वयं सूली पर चढ़ते हैं। सूली पर चढ़ने के लिए भी प्रतियोगिता है, आपाधापी है!

स्तरीय, सुखी, समृद्ध जीवन बिताने की दृष्टि से भी बड़ी सरगर्मी हुई है। अज्ञेय और मुक्तिबोध को एक मंच एक साथ रख कर देखना पर कैसा लगता है? लगता है, नेहरूजी गांधीजी के साथ खड़े हैं यानी आधुनिकता में असलियत मुक्तिबोध के पक्ष में है। मात्र भाषा संस्कार, चेहरे और तर्क की सफाई तथा अवसरवादी हाथापाई अज्ञेय की विशेषता है और मुक्तिबोध में मुद्राएँ नहीं थीं, स्वांग नहीं था संग्रहमूलकता नहीं, असंगतियों का तीखा बोध था और अभिव्यक्ति ऊबड़ खाबड़—भारतीय जीवन की ही तरह! उधर कहानीकारों में जिनमें मुद्राएँ अधिक हैं विद्रोह की जगह आक्रोश अधिक हैं, उनमें 'पिद्दड़ापन' अब उभरता आ रहा है। राजेन्द्र यादव का ह्रास 'लेखन में मुद्राओं' के आधिक्य के कारण ही हुआ है। श्री कान्त वर्मा जैसे 'मालीमार्का' लेखकों में वह गहराई नहीं आ पाई जो निर्मल वर्मा और दूधनाथसिंह की

यहाँ 'यथार्थ' या अ'-यथार्थ' 'व्यथा का तीखापन' या "बनावटी शब्दिक हिंसा" भी एकमुश्त ही है और साथ ही अन्धविश्वास भी कि इसी तरह का टोन' अपनाओ या देखने में ऐसे लगो तो 'आधुनिक मान लिए जाओगे !

आधुनिक कविता को टी० ई० ह्यूम ने जो दर्शन या मानसिक स्थिति दी, उसमें मानववाद का विरोध किया गया था। धर्म से प्रेरणा लेने के अलावा 'युद्धआहत' यूरोप के सम्मुख अन्य कोई विकल्प नहीं था। इलियट और एजरा पौंड इस चेतना के प्रतिनिधि कवि थे। वे उस आधुनिकता के विरोधी हैं जो 'सम्रथित चेतना' को लेकर नहीं चलती, जिसमें सारा इतिहास नहीं बोलता अथवा जो अपने युग के लिए परम्परा का पुन उपार्जन नहीं करती अथवा जो भूत की वर्तमानकालीनता को नहीं पकड पाती। अंग्रेजी को छोड़कर अन्य अधिकांश आधुनिकों ने तो नकारात्मक दृष्टि अपना ली, क्योंकि नकारात्मक होना सुविधाजनक है, उससे अपनी प्रतिष्ठा और स्थान सुरक्षित होता है। सर्जन के स्तर पर, नयी भाषा या संवेदना की खोज में नकारात्मक होना ठीक है, लेकिन मानव नियति निर्धारण में या जीवन की जटिलताओं की तलाश में 'नकारात्मक' या 'अस्वीकृति' अपनाना अबोधता या जडता है। और यह अस्वीकृति भी एक 'मूड' के रूप में रहे तो कोई हर्ज नहीं लेकिन इसे तो जीवनदर्शन' के रूप में प्रसारित किया जा रहा है, सिर्फ दूसरों से अपने को भिन्न सिद्ध करने के लिए !

इस विराट 'नकारात्मकता' ने अनेक अन्धविश्वासों या पूर्वाग्रहों को जन्म दिया है जैसे —

(१) यहीं युद्ध नहीं हो सकता अतः सिर्फ अपने को सम्बोधित रहो !

(२) विसंगति ऊब अस्पष्टता और सन्देह के व्यक्तीकरण के लिए–विसंगत ऊबे हुए अस्पष्ट और सन्देहग्रस्त होकर जीना और भोगना अनिवार्य है तथा इसे 'व्याधि के रूप में नहीं, उपचार और 'अनोखेपन' के लिए अपनाना चाहिए !

(३) लेकिन सर्जन में किसी भी तरह की 'रोक' का विरोध करो। उदाहरण के लिए साठोत्तरी अमरीकी कविता में छन्दों का प्रयोग बढ रहा है, इस प्रवृत्ति की ओर से आँख मीच लो क्योंकि छन्द का अनुशासन न मानना ही हमारा ध्येय है, अच्छी रचना बने या न बने !

(४) अपने को सकारो' दूसरों को नकारो !

(५) धारणावाद का विरोध करो लेकिन मतलबपरस्ती की धारणाओं में विश्वास करो !

(६) नया और पुराना परस्पर विरोधी होता है, धारणा और अनुभव भी परस्पर विरोधी होते हैं तो फिर कथन और कर्म भी यदि परस्पर विरोधी हो तो इसमें क्या हानि है ?

आन्दोलन के अगुवा लेखक जो कहे उसे दुहराओ। जब उनकी जगह दूसरे नेता आगे आ जाएँ तो उन्हें दुहराओ। इसकी चिन्ता मत करो कि कल तुम क्या कह रहे थे या कल क्या तुम कहोगे ?

जलता और उजलता प्रश्न यह कि जिस 'विसंगति' या 'एब्सर्डिटी' के अस्तित्व की बात कही जा रही है, वह जीवन और समाज में है, लेकिन उसकी बढ़ोतरी में भागीदार होना क्या वस्तुतः वाञ्छनीय है ?

स्पष्ट है कि अपने वतन में जिस प्रकार अनेक राजनीतिक सिद्धान्तों की खिचड़ी पक रही है उसी तरह अनेक 'परस्पर विरोधी' आधुनिकताओं की की भी खिचड़ी खदक रही है, विसंगति का एक कारण यह भी है। इसलिए कोई किसी की नहीं सुन रहा है और वास्तविकता का अहसास एक दूसरे को काटती रेखाओं का अमूर्त चित्र बन गया है। इस दुष्चक्र को तोड़ने का उपाय तो राजनीतिक, सामाजिक प्रान्ति है, किन्तु बौद्धिकस्तर पर इसे तोड़ने का उपाय है "आधुनिकताओं का वस्तुगत अध्ययन"। विचारणीय यह है कि हमारे लेखकों के सम्मुख जो प्राप्त है नमूने हैं, वे कहाँ से आए हैं ? किन परिस्थितियों में उगे, पनपे और उनकी हमारे यहाँ संगति किस रूप में हो सकती है ?

उदाहरण के लिए एक 'आधुनिक दल' सिर्फ रचना प्रक्रिया के अध्ययन पर बल देता है, तो दूसरा–'रचना' को प्राकृतिक कृति न मानकर (प्राकृतिक कृति में प्रयोजन और प्रभाव का अध्ययन नहीं होता यथा विज्ञान में। वहाँ रचना प्रक्रिया का ही अध्ययन होता है।) उसे मानव कृति मानता है और प्रत्येक 'मानव रचना' अपनी सकुलता में अपनी दृष्टि, या प्रयोजन तथा प्रभाव को भी छिपाए रहती है। योरोपीय–अमरीकी आधुनिकता रचना के प्रयोजन और प्रभाव की चर्चा को गौण मानती है तो वामपंथी आधुनिकता प्रयोजन और प्रभाव के अध्ययन को 'रचना प्रक्रिया' का अपरिहार्य अङ्ग मानती है। पिछड़े समाजों की आधुनिकता के अध्ययन में रचनाकार और रचना के इरादों, अभिप्रायों (चाहे वे कुछ भी कहें) की जाँच पड़ताल ही नहीं, उस परिस्थिति या सन्दर्भ का भी निर्मम विश्लेषण अनिवार्य है जिसमें एक खास तरह की 'अप्रतिबद्ध' आधुनिकता के प्रचार के लिए विदेशी स्वार्थ इतना रुपया खर्च

कर रहे है। (यानी साहित्य सस्कृति के क्षेत्र मे वे धन का नियोजन कर रहे हैं, हम पर अहसान नही कर रहे।) वे हमे अपने जसा बनाना चाहते हैं, वे चाहते हैं कि हमारी चेतना—मूलहीन और मूल्यहीन हो जाए। वे चाहते हैं हम उनकी जीवन विधि को यथावत् अपना लें। यदि हम उनसे भिन्न रहना चाहते है, अथवा अपने आप अपनी नियति का निर्माण करना चाहते है, तब अपने विवेक को ही हमे निकष बनाना होगा जसा कि अज्ञेयजी हिन्दी साहित्य के 'आधुनिक परिदृश्य' (पृष्ठ ९–१६) मे "अन्तत" स्वीकार कर लेते हैं। यह क्या आकस्मिक तथ्य है कि नव्यतर किशोरो के द्वारा पिट जाने के बाद आधुनिकता के पूव दावेदार विवेक की बातें करने लग जाते है? या यह भी स्वीकृति पाने की कोई मुद्रा है?

प्रबुद्धों की भूमिका

"प्रबुद्धवग" ("इन्टलैक्चुअल") इस अथ मे एक वर्ग नही होता, जिस अथ म श्रमिक, कृपक या सेठो का वग होता है। प्रबुद्ध वग मे सभी वर्गों, जातियो और समूहो स व्यक्ति आते हैं। पिछले बीस वर्षों मे पीडित समूहो से, अनेक व्यक्ति प्रबुद्ध तबके मे शामिल हुए है यह नीचे से ऊपर या लम्बाकार गति (वर्टीकल) बढ़ती ही जायगी।

शिल्स ने भारतीय बुद्धिवादी-वग के विषय म कुल मिलाकर सतोषजनक धारणा व्यक्त नही की। शिल्स ने इस वग की साधनहीनता-संस्कारप्रियता, अयोग्यता और अमौलिकता पर कटाक्ष किये हैं जो सही हैं। सम्भावना की दृष्टि से इस वग स बडी बडी आशाएँ की जा सकती हैं।

लेकिन इस शिविर की भूमिका के लिये भारतीय समाज की सरचना को ध्यान मे रखना जरूरी है। भारतीय समाज विभिन्न जातियो, धर्मों और परस्पर विरोधी स्वार्थों का एक पिटारा है। इसलिए प्रबुद्ध वग एक अजीब कशमकश म पडा रहता है। मुख्य विशेषता यह है कि प्रबुद्ध व्यक्ति अपनी स्थिति की सुरक्षा के प्रति सर्वाधिक जागरूक रहता है। राजनीति, शिक्षा, साहित्य और अन्य सभी क्षेत्रो मे यही हकीकत है।

यही कारण है विचारो और चिन्तन प्रक्रिया का उतना महत्व नही रह जाता, जितना महत्व स्वरक्षा-चेतना' को मिलता है। इस दशा या दुर्दशा म सक्रिय योगदान के लिए स्वतन्त्रता' एक सीमित मात्रा म ही दिखाई पडती है।

'स्वरक्षाचेतना' व्यक्तिवादी आदशो, अदाओ और धारणाओ की ओर ले जाती है। अनिश्चय, सहिष्णुता निष्करणा और 'बहरेपन' का कारण भी यही है।

विज्ञान म विचारो का सघष कम आविष्कारो का सघष अधिक होता है। इसलिए वहाँ 'प्रबुद्ध व्यक्ति' मानव और समाज सम्बधित प्रश्नो पर मौन रहता है लेकिन कला राजनीति, समाज शास्त्र सस्कृति और दशन के क्षेत्रो मे 'वरण' और 'चयन' का प्रश्न आता है।

भारतीय प्रबुद्धवग आज की सर्गा त, ह्रास और दुःस्वप्न को भोग रहा है। लेकिन उसकी मुख्य असगति यह है कि वह अपने वग की भूमिका से बेखबर है। आजादी के सघष मे उसी वग या जमात ने अपने बल का स्मरण किया था और विराट "जनता" का नतृत्व किया था—लेकिन आज वह समग्रत मध्यवर्गीय भ्रमो म उलझ गया है उनसे निकलने की छटपटाहट भी है, लेकिन सिफ व्याकुलता, घुटन और अपनी इस निष्क्रियता को 'मानवीय नियति" मानकर सहते जाने का अहसास, उपचार नहीं है, विसगति है।

इस हालत मे अस्तित्ववाद आकषक लगता है। लगता है कि मनुष्य सिसिफस है, जिसे पाताललोक म दण्ड दिया गया है ताकि वह अपन भार को ढोकर या ठेलकर चोटी पर ले जाय और वहाँ से उसे नीचे लुढकाय, फिर उसे ऊपर ठेल—यह निरथक चढन उतरने की जिन्दगी, यह अनन्त यातना का बोध इसलिए प्रिय लगता है क्योंकि उसके लिए परिस्थिति अनुकूल है।

दाशनिक दृष्टि से अपने अस्तित्व को, प्रवाह से काटकर, सोचने पर सब कुछ निरथक प्रतीत होता है, लेकिन वास्तविकता इस मानसिक प्रत्यय को स्थायी और व्यापक नहीं बनने देगी। यथाथ जीवन की असगतियाँ, 'विसगति बोध' को व्याधि का नाम देगी और जनजीवन मे घुमडता तीव्र असतोष, प्रबुद्धों की जमात म, उसके सर्वाधिक सवेदनशील व्यक्तियो मे, किसी भी निराशा वादी जीवन बोध को अस्वीकार करने के लिए विवश कर देगा। पिछले बीस वर्षों से, इस प्रकार का आक्रोश अब गूँजने भी लगा है।

इस तरह व्यापक जडता और 'निष्करुणा' के प्रसग मे, मानवन्धु त्व से दग्ध व्यक्ति, 'प्रबुद्धो की जमात' मे भी बढते जा रहे हैं अत सकल्प विकल्प मे सिफ एक का देखना अतिवाद है।

प्रबुद्ध–वग म सकल्पशील तत्व भी सब एक जसे नही हैं। कुछ केवल धीरज के साथ समाधानो पर मनन कर रहे हैं लेकिन किसी नतीजे पर नही पहुँच रहे हैं, कुछ ध्वस के माग पर चलने को समाधान की रचना–प्रक्रिया' समझ रहे हैं और कुछ सिफ गरजते है—तिलमिलाते हैं, दाँत पीसते है लेकिन मौके पर खीसें निकाल देते है।

विशेषीकरण के कारण, बारीक श्रम विभाजन और इसलिए सत्य विभाजन' का शिकार यह तबका दोहरे सघष से पीडित है एक अपने क्षेत्र मे मौलिक काम करके दिखाओ, दूसरे शताब्दी की प्रत्यक्ष दहलीज पर मुखरित हो और मौलिक नेतृत्व करो।

इस जमात की शक्ति समझकर, इसका रुख अनुकूल करने के लिए पश्चिमी विदेशी सत्ताएँ इस क्षेत्र मे भारी वित्त-विनियोग कर रही हैं जो इङ्गलावो अंग्रेजो को स्थितिशीलता के हावभावो मे बदल दें लेकिन रूस, चीन वगैरह भी डट कर रस्साकशी कर रहे हैं। एक और तबका राष्ट्रवादी है जो दोनो से फायदा उठाकर भी न केवल राष्ट्रवादी बना रहता है, बल्कि स्थितिशील भी बना रहना चाहता है।

बौद्धिकों मे होने वाली हर बहस, भीतरी-बाहरी दबावो से एक गोल चक्कर म घूमने लगती है। इस प्रवृत्ति के विरुद्ध भी आक्रोश बढ रहा है। क्योकि 'सहमति' नही बिकती, असहमति बिकती है, अत मात्र ज्ञान का प्रदान करो और दूसरो का मूख सिद्ध करो-श्रोता समाधान स्वय खोज लेंगे-अब इस स्थिति से भी घृणा होती जा रही है।

सतोष का विषय है कि असतोष है और असतोष का विषय है कि अभी भी सतोष बहुत है और असतोष वही जाहिर होता है, जहाँ वह अधिक नुकसानदेह न हो।

उधर 'स्थापित तत्व यह देखते रहते है कि देखें कौन असतोष प्रकट करता है। बडे लोगो की 'खोज प्रतिशोध-परक होती है। 'प्रबुद्धो मे प्रभु' लोग समर्थक या अनुगामी खोजते हैं, साथी नही।

मनहीम का ख्याल है कि प्रबुद्धवर्ग सभी प्रचलित-धारणाओ कार्यों-परिवर्तनो का तटस्थ द्रष्टा हो सकता है। सत्य' का पक्षधरता और पक्षपात से बचाने का काय प्रबुद्ध वर्ग ही कर सकता है। यह शुभकामना या सम्भावना, इस निरीक्षण पर आधारित है कि मनुष्य मे सीमाओ और सभी प्रकार के परिवेश के प्रभावो का अतिक्रमण कर, सत्य की ओर बढने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है जो चाहे प्रवृत्तिगत हो या विकासमूलक, लेकिन वह वहाँ है और प्रबुद्ध वर्ग की मुख्य भूमिका यही हैं कि इस 'निस्सगविवेक' के साथ कोई समझौता न करे और वह प्रत्येक तथ्य का वस्तुगत अन्वेषण करे।

इस 'विवेक' का एक सबूत यह है कि प्रबुद्ध व्यक्ति, प्रत्येक विचारवाद, काय और स्थिति की कमियो को पकड ही लेता है। जो 'दूरदर्शी' अपने दल या मत का समर्थन भी करते हैं वे उस दल या मत को 'शब्दप्रमाण' नही मानते, और यह भी कि विरोधी तत्वो और व्यक्तियो के आवश्यक या ग्रहणीय तत्व भी विवेक के अवधान मे आजाते हैं। इस विवेक' के आधार पर दृढता से खडे रहकर, विरोधों-समाधानो की खोज और उसे प्रेरणापरक शब्दो म

प्रस्तुत करना ही तत्ववेत्ताओं का काम है—दूसरों का मात्र ढिंढोरची होना नही, चाहे वह दल या मत कोई भी क्यों न हो।

कोई नही कह सकता कि यह 'विवेक' पिछले बीस वर्षों मे, बावजूद सारी विसगतियो और भटकावो के, बढा नही है। प्रबुद्ध वर्गों के सम्पर्क मे छात्र, कार्यकर्त्ता श्रमिक आदि पहले से अधिक सतर्क, मुग्ध, सूचनायुक्त और अधिक सनकी—साहसी हो गये हैं, होते जा रहे हैं। इसके पीछे प्रबुद्धो की सगत-असगत भूमिका भी है और उनकी बेबसी, क्लीवता और जडता भी।

यह रोमाटिक कल्पना है कि बिना किसी बडी उथल पुथल के प्रबुद्धवर्ग किसी एक दिशा मे, जनता का नेतृत्व करेगा। परिवर्तन का भार श्रमिक' ढोते हैं, बुद्धिजीवी नही। बुद्धिवादी तो और भी नही क्योकि विवेक की रक्षा के लिए उन्हे आराम से रहना पडता है — 'गमे कौम है लेकिन—आराम के साथ''।

लेकिन किसी व्यापक 'बदलाव'' मे अथवा समान—स्वार्थ वाले सवालो (जैसे देश की प्रभुसत्ता आदि) पर प्रबुद्धवर्ग की एकता देखी जा सकती है। फ्रास की राज्यक्रान्ति मे अगुवा प्रबुद्ध थे लेकिन श्रमिको के साथ अपना भाग्य न बाधने और 'मध्यवर्गीयभ्रमो'' के कारण प्रबुद्धों की ही क्लीवता प्रमाणित हुई थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से देश के विभाजन का समझौता भारतीय प्रबुद्धो'' ने ही किया था, जिसमे गाधी, नेहरू और जिन्ना सभी समान रूप से दोषी हैं। अगर श्रमिको और बुद्धिजीवियो का वास्तविक 'समीकरण'' इस तत्व मे होता तो क्या देश बँट सकता था? क्या साधारण व्यक्ति को सम्प्रदायवादी भ्रष्टाचारी, स्वार्थी, ''प्रभु'' और 'प्रबुद्ध वर्ग' के ही व्यक्ति नही बनाते? प्रभु और प्रबुद्ध अपना हृदय—परिवर्तन करलें तो ठीक, अन्यथा मजदूरी मे उन्हे बदलना होगा।

क्या यह कल्पना अधिक कठिन है कि हमारे प्रबुद्धो मे अधिकतर बुद्धि-वादिता' को पेशा समझ कर आते हैं, ध्येय समझ कर नही? यह क्या पहचानना असम्भव है कि औसत 'प्रबुद्ध अहकार की दृष्टि से पहाड सज्जा की दृष्टि से रईस, सस्कारो की दृष्टि से आदिम या अधिक से अधिक मध्य कालीन, लहजे की दृष्टि से आधुनिक और नैतिक साहस की दृष्टि से चूहा है? उसमे बिल्ली की चालाकी कुत्ते की भक्ति, गिद्ध की दूरदृष्टि वानर की वासना और शूकर की आत्मतृप्ति है। यह बौद्धिक सूचनाओ की दृष्टि से है नेतृत्व की दृष्टि से नही। यह निष्कर्ष वर्ग के विषय मे है, अपवाद अनेक हैं और बढते जा रहे हैं।।

प्रबुद्ध वर्ग, वर्गत तब अपनी भूमिका समझेगा जब वह प्रभु वर्ग' की नकल से बाज आएगा और दृढता से अपना भाग्य आम जनता से जोड लेगा, इस जुडाव के अभाव के कारण ही साहित्यिक' विसिम के जीव 'तुडाव या अलगाव' को 'शाश्वत जीवन दशा' मानने लगे हैं। यह व्यभिचारी भाव' है और सिर्फ सामयिक है।

साहित्य मे प्रबुद्धचेतना के लिए आम आदमी की हरारत का ही घाट न हो बल्कि सकुल यथार्थ का वस्तुगत चित्रण और अधिक होना चाहिए। क्या कथाकारो ने प्रबुवर्ग और समूहा की तस्वीर पेश की है ? मात्र गालियाँ देने से या 'यौनशक्ति' से नहीं, बल्कि पाठक के सम्मुख सामाजिक यथार्थ को विशद रूप म प्रस्तुत करना होगा। वयक्तिक सकटबोध को वाणी तो दी ही गई है। साहित्यकार इन प्रबुद्धा का असली हुलिया आम पाठक को पेश क्यो नही करते ? हिन्दी मे तो किसी न किसी नौकरशाह का भी निर्भय-बेलौस चित्रण नहीं है, न किसी 'वज्ञानिक' का, न किसी 'बुद्धिवादी' की जब यह स्थिति है तब हम 'असाहित्यिक प्रबुद्धा' से क्या आशा कर सकते हैं ?

आलोचना : बनाम आलोचना

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में 'आलोचना' (त्रमासिक) की कहानी दिलचस्प है। श्री शिवदानसिंह चौहान इसके प्रथम सम्पादक थे – पाठकों को आशा बँधी थी कि अब हिन्दी में एक विशेष दृष्टि से साहित्य, संस्कृति और समाज को देखा जा सकेगा और इस 'दृष्टि' (प्रगतिवादी) के सम्बन्ध में भी अन्य "दृष्टियाँ" मिलती रहेंगी लेकिन जब तक आलोचना का प्रगतिशील स्वरूप निश्चित हो, जब तक आलोचना पर कम्यूनिज्म का आरोप लगाकर, उस–कम्यूनिज्म विरोधी धर्मवीरभारती विजयन्यनारायण साही वगैरह का सौपन की स्थिति आई लेकिन चौहान जी जिस तरह अपनी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि के बावजूद एक व्यापक लेखक समूह को साथ लेकर चले, वह नवीन "सम्पादकों" के लिए असम्भव हो गया फलत पुन आलोचना को वहाँ से तलाक दिला कर उसे आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी को सुपुर्द कर दिया गया लेकिन बाजपेयीजी की "अध्यापकवाद", रूढ़ी और अपूत भारतीय संस्कृति प्रधान" एवम् नवलेखन विरोधी दृष्टि के कारण, पुन पाठकों ने महसूस किया कि "वरण" में फिर गलती होगई। अन्य कारण भी होंगे। पुन आलोचना चौहानजी के पास लौट आई। लेकिन अब तक चौहानजी भी उतने सक्रिय नहीं रह गए थे और यह भी था कि उनके साथ शायद प्रकाशकों ने जो बर्ताव किया, उसके वह अभ्यस्त नहीं थे फिर भी उनमें अभी इतना तेज था कि वह आलोचना और उसके प्रकाशक दोनों को छोड़ सकते थे। इस दुबारा "तलाक" की कार्यवाही में आगामी सम्पादक ने भी अपना सहायक योगदान किया और आलोचना अब डा० नामवरसिंह के पास है।

बहरहाल, डा० नामवरसिंह के पास आने पर आशा यह थी (अभी तक हिन्दी के पाठकों का भ्रमभंग नहीं हुआ है।) कि पिछले दो दशकों में जो उलझाव उत्पन्न हो गया है, उस पर नामवरसिंह अब जमकर विचार करा एँगे और आलोचना को वामपंथी चेतना और चिंतन का माध्यम बनाया जा सकेगा लेकिन आलोचना के दो अंकों को देखकर यह कहा जा सकता है कि नामवरी आलोचना ने इस उलझाव को बढ़ाने में काफी कामयाबी हासिल की है और जिस तुले हुए और दावपेंची अंदाज में रचनाओं और

लेखकों का संग्रह किया गया है वह गौरतलब है। आलोचना से किन पक्षों पर प्रकाश अपेक्षित था ?

१—साम्यवाद और समकालीन साहित्य का स्वरूप और रिश्ता क्या है, क्या होना चाहिए ?

२—आइडियालोजी को पिछले दशकों के बहुत से लेखक नकारते रहे हैं, उनमें कुछ लेखक तो ऐसे हैं जो अपने को शहीदाना अंदाज में कम्यूनिस्ट भी कहते थे। आज ऐसे लेखकों की हिन्दी में स्थिति क्या है ? भारत भूषण (जिनकी कविता दी गई है) प्रभाकर माचवे, नेमीचन्द जैन आदि की स्थिति यदि "चुनाव के बाद" स्पष्ट हो पाती तो 'साहित्यिक जनता" को अधिक लाभ होता क्योंकि चुनाव का या राजनीति का जो विश्लेषण दिया गया है उसका समकालीन साहित्यिक चेतना से सम्बन्ध जोड़कर नहीं दिखाया जा सका।

साम्यवादी सिद्धान्त उसके असली रूप, विशेषकर सन् १९६२ के चीनी आक्रमण के बाद, के "बौद्धिक भ्रमभंग" का विश्लेषण हो सकता था लेकिन शायद "खुलेपन" लड़ाकूपन तजतर्रार (द्वितीय अंक, पृष्ठ ८, सम्पादकीय) विश्लेषणों का सम्बन्ध "अपनी स्थिति' से नहीं है, पराई स्थिति से ही है। और यदि यह आवरण, अस्पष्टता, संकेत, मौन वगैरह किसी विस्फोटक राजनैतिक "क्रांति" की प्रतीक्षा के कारण है तो वैसा साफ कहने में क्या हानि है ? कोई उग्रवामपंथी अपने इरादों को नहीं छिपाता। यदि मार्क्सवाद में मौलिक संशोधनों की आवश्यकता है तो उसे वैसा कहने में क्या संकट है ? यदि मार्क्सवाद त्याज्य है तो क्या नामवरसिंह उसे मन से छोड़ चुके हैं ? केवल तन से साम्यवादी होना अजीब स्थिति है। आखिर अब तो पाठकों को बताइये कि आप क्या हैं और क्या करना चाहते हैं ? जब तक "आधुनिकता" और साम्यवादी चिंतन और व्यवहार का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं किया जाता तब तक पाठक को हक है कि वह संदेहवाद और अवसरवाद का आरोप लगाए। आलोचना को पढ़कर यह नहीं लगता कि सम्पादक सामाजिक दृष्टि-अवरोध की हालत में कोई दिशा देना चाहता है। हाँ अपनी दोस्ती दुश्मनी भँजाने पर उसका ध्यान अधिक है। इसका सबूत है कमलेश्वर, भारती के लेखों का नामवरसिंह पर आतंक। क्या प्रथम अंक के सम्पादकीय का स्तर यही होना चाहिए था ?

हिन्दी का पाठक आपके निजी मैत्री-अमैत्री संबंधों में कोई दिलचस्पी नहीं रखता। वह सच्चाई जानना चाहता है जिसे प्रथम संपादकीय और

राजेन्द्र यादव की टिप्पणी पर सपादकीय नोट से छिपाया गया है। कल तक कमलेश्वर, यादव और राकेश प्रगतिगामी लेखक थ, आज वे अशत नहीं, 'पूर्णत' पथभ्रष्ट हो गए। यदि यह सही है तब प्रगतिवाद के प्रथम उत्साह म जो सकीर्ण समाजशास्त्र पनपा था, उसमे और इस "नव मार्क्सवाद" मे क्या अतर है? 'सकम" सबधी गरजिम्मेदाराना रवय्ये का विरोध चाहे शत्रु करे या मित्र, यदि आपका ध्यान सच्चाई पर है तो उसका स्वागत करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि कमलेश्वर या यादव से आप सब जगह सहमत ही हो। अत नामवर की दृष्टि "सत्योन्मुख" न होकर न होकर राजनतिक दावपचा के कारण, असत्य से 'डिफ्यूज्ड" हो जाती है, और यह कनफ्यूजन तथा डिफ्यूजन दोनो सपादकीयो म स्पष्ट देखा जा सकता है। साफ लगता है कि सपादक खुल नही रहा है, कुछ छिपा रहा है, कुछ कहना चाहता है पर कहते कहते कुछ और कहने लगता है। ऐसा क्या है, किसका डर है?

अब सपादक की कतिपय 'धारणाओ" पर विचार होना चाहिए।

जिस तरह प्रारभिक प्रगतिवाद ने नेतत्व के लिए छायावादी कवियो को जबरदस्ती अपने चौखटे म कसने का प्रयत्न किया था, और उनमे भी अपने प्रिय" कवि को, क्रातिकारी और अप्रिय को प्रतिगामी घोषित किया था, उसी तरह (दावपच भिन्न है) नामवरसिंह ने अब 'सकमालीन" लेखको का नेतत्व करना चाहा है। जब कि असलियत यह है कि आज का 'नवलेखक' बेचारे नामवरसिंह तो क्या मार्क्स माओ या फिर इलियट, अज्ञेय किसी को भी अपना नेता नही मानना चाहता। वह आलोचक, नेताओ अथवा पत्रकारो पर भी भरोसा नही करता क्योकि पता नही कब, कौन नेता, लेखक विशेष के विषय म अपनी 'व्याख्या' बदल दे। इस स्थिति म आलोचना दादागीरी न करके यथासभव निस्सग होकर, अपनी द्वद्वात्मक दृष्टि से समकालीन साहित्य की विशिष्टताओ और न्यूनताओ पर विचार कर सकती थी तभी प्रगतिशील लेखको का सहयोग प्राप्त कर सकती थी लेकिन क्या ऐसा हो सता है?

यदि "कृति एक सास्कृतिक प्रक्रिया है और कृतिकार पाठक और आलोचक एक ही प्रक्रिया के अग है" (द्वितीय अक, पृष्ठ २, सम्पादकीय) तब परिवतनकामी, आलोचक के सम्मुख शत्रुता मित्रता का 'द्वद्व' नही रह सकता। शत्रु वह है जो गति मे बाधक है, क्राति का अवरोधक है चाहे वह क्रिया के रूप मे हो या धारणा के रूप म। अत मार्क्सवादी चेतना मे यह भ्रम नहा चल सकता कि लेखक अपने" लिए लिखता है। यह 'स्व' और 'बाह्य'

"व्यक्ति और समाज", "क्षण और प्रवाह" आदि को परस्पर विरोधी तत्वों के रूप में, जो पिछले दशकों में प्रस्तुत किया गया है, गलत है। यह बाह्य परिवेश में, भेदों और वर्गों की अधिकता तथा संग्रह मूलक सम्यताओं (एक्वीजीटिव सोसाइटीज) का प्रभाव है, जिससे हम तब तक नहीं बच सकते जब तक अपने देश की "अर्धऔपनिवेशिक" स्थिति समाप्त करके, हम १९ वीं शताब्दी की साम्राज्यवादी संस्कृति के अवशेषों से मुक्त नहीं होते। तब तक हम स्पष्ट विकल्प पाठक के सम्मुख रख नहीं सकते। लेकिन "आधुनिकता" के नाम पर नामवरसिंह, "समकालीन लेखन' व "अमूर्त समर्थन" में इस बढ़ते हुए सांस्कृतिक खतरे को नकारते हैं, जो हैरीसन (इण्डिया द मोस्ट डजरस डिकेड्स') सीगल' आदि अमरीकी लेखकों की कृतियों से उभर कर सम्मुख आ रहा है। संग्रहमूलक जनतन्त्रों की इस 'आधुनिक सभ्यता" और उसके 'साहित्य" के प्रति "नामवरी" आलोचना की दृष्टि क्या है ?

यदि "आलोचना' प्रकाशित मात्र प्लेटफार्म है तो भी कोई हर्ज नहीं लेकिन 'विभिन्न प्रतिक्रियाओं के द्वन्द्व" से जो संगति निर्मित होगी, उसका क्या पूर्वाभास सम्पादक को है ? यदि यह पूर्वाभास' सम्पादक का होता तो "नई आलोचना" "संघटनात्मक आलोचना' (स्ट्रक्चरल क्रिटीसिज्म) तथा 'शैली विज्ञान' के मात्र परिचय से संतुष्ट न होकर, सम्पादक इन नवीन "मथडालोजीज" की न्यूनताओं का "भी' रेखांकित करता। सत्य यह है कि "भाषा शैलीवादी' विश्लेषण पद्धतियों में रचना प्रक्रिया की अवधि में, विचारों की भूमिका को उपेक्षित कर दिया जाता है। अमरीका में वस्तुत जिस "नवरीतिवाद का आविष्कार हुआ है, उससे नामवरसिंह आतंकित लगते हैं। निश्चय ही, अमरीका की इस 'नयी आलोचना" या "कृतीक्षा" से भी बहुत सी बातें हम सीख सकते हैं, लेकिन यहाँ तो 'अंधानुकरण' की परंपरा प्रबल है अतः खतरा यही है कि पाठक कहीं यह न समझ लें कि अन्य विधियाँ तो पिछड़ गई, नवीनतम विधि अमरीकी विधि है और इस 'नवीनतम' विधि के अंधानुकरण का परिणाम यह होगा कि हमारे साहित्य चिन्तन में सामान्य प्रश्नों पर (संस्कृति समाज के सन्दर्भ में साहित्य पर विचार आदि) जो 'संवाद' होता है, वह असम्बद्ध हो जायगा। यह स्मरणीय है कि अमरीका में भी इस 'विवरण प्रधान विधि' से वहाँ के सभी आलोचक सन्तुष्ट नहीं हैं और स्वयं— 'एलेन टेट' जैसे प्रबुद्ध नये आलोचक ने भी, तथाकथित—"नया आलोचना" का सोच समझ कर ही प्रयोग किया है। उसके संकलित निबन्धों" में "सामान्य प्रश्नों" पर भी विचार मिलता है। नामवरसिंह यह भूलते हैं कि

'नयी आलोचना' पद्धति मे निहित, वस्तुगत या अव्यक्तिगत 'एप्रोच' को ही स्वीकार किया जा सकता है, उसकी 'औपचारिक" विवरणपरकता को नही। 'नयी आलोचना' व नवरीतिवाद से चिढकर, शिकागो व नव अरस्तूवादियो ने पुन सैद्धान्तिक आलोचना का समर्थन किया है।

अत प्रश्न मानदण्डो का भी है और पद्धति का भी है। प्रत्येक आलोचक जान या अनजान मे, प्राय जानकर ही, किसी 'विश्लेषण विधि' को अपनाता है। इस 'विधि' के पीछे उसकी जीवनदृष्टि और रुचि रहती है और यह आवश्यक नही कि उसम अन्य विधियाँ सहायक न हो। उदाहरणत मार्क्सवादी विधि से यथावसर आप मनोवैज्ञानिक विधि, भाषाशास्त्रीय विधि आदि का प्रयोग कर सकते है, इसी तरह मनोविश्लेषक, समाज मनोविज्ञान को व्यक्ति मनोविज्ञान के साथ ही अपने अवधान मे रख सकता है। जब भी हम किसी चीज का अध्ययन करना चाहते हैं तुरन्त 'विधि' का प्रश्न आ जाता है, स्वय—मार्क्सवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यदि एक दृष्टि है तो एक विधि भी है और प्रत्येक विधि म विवेच्य वस्तु पर नूतन प्रकाश पडता है। 'आधुनिक" ज्ञान के विकास का एक बडा कारण इन विधियो और उनके लिए धारणाओ का ही विकास है।

इसी सन्दर्भ म विश्लेषण के अस्त्रो और मानको के रूप म प्राचीन काव्यशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र आदि के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक युग म परम्परा का संशोधन होता है। त्याग और ग्रहण होता है, विदेशो से तुलना और सादृश्य प्रस्तुत होता है, यह 'चयनवाद' (एक्लक्टिसिज्म) नही, तलाश है प्रयोग है—और तलाश और प्रयोग मे भूतकाल का बहिष्कार सम्भव नही है। मानवशास्त्राओ (ह्यूमनिटीज) म, प्राचीन शास्त्र यदि कही, किसी विवेचन बिन्दु पर महत्वपूर्ण आलोक देते हो, तो उसे वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाला व्यक्ति कैसे त्याग सकता है?—एक्लक्टीसिज्म' वहाँ होता है, जहाँ आप सग्रह के लिए सग्रह करें अथवा चयनवाद वहाँ होता है जहाँ किसी एक पद्धति के आधार पर अन्य पद्धतियो, धारणाओ का सग्रथन (इंटीग्रेशन) नही हो पाता। उदाहरण के लिए मार्क्सवादी लेखक, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि और पद्धति के आधार पर अन्य दृष्टियो और पद्धतियो का, 'सृजनात्मक उपयोग" कर सकता है उदाहरणत क्रिस्टोफर काडवल ने, भौतिकवाद के आधार पर इसी सग्रथित पद्धति का प्रयोग, अपने चिन्तन और आलोचना म किया है। इसके सिवा वर्तमान प्रश्नो के समाधान के लिए ही तलाश होती है और उस प्रक्रिया म भूत' का अध्ययन होता है वहाँ उस

'चयनवाद' कहना अविवेक है। जहाँ मात्र ज्ञान प्रदर्शन के लिए "अभिनवगुप्त, रिचर्ड्स, काडवेल" आदि को एकत्र किया जाय वहाँ चयनवाद होता है किन्तु सुग्रथित चिंतक के लिए, सत्य के अनुसंधान की एक शृंखला होती है जिसमें पूर्व की कड़ी से अगली कड़ी बनती है स्वयं मार्क्स इसके सबूत हैं। प्रत्ययवादी विचारकों और विशेषकर हीगेल के 'प्रत्ययवाद' के संदर्भ में, विकसित 'द्वंद्ववाद' का "चयन" ही मार्क्स ने किया था क्योंकि मार्क्स सामयिक अनुगूंजों और तमाशों से प्रभावित नहीं थे। वे मात्र नवीनता नहीं, 'सत्य' की तलाश में थे और इसीलिए प्रत्ययवाद के घोर विरोधी थे लेकिन थे उसी के ऋणी। लगता है नामवरसिंह सामयिक गूंजों अनुगूंजों के शोर में, अपना स्वर खो रहे हैं अथवा वे जानबूझ कर "फ्रॉड" कर रहे हैं।

क्योंकि विज्ञान की भाषा तनाव पक्षपात, आवेश, रंग, और हाय हाय से बचकर चलती है अतः आलोचना का आदर्श रूप यही होगा जिसमें— भावुकता न हो और जो अपने विश्लेषणपरक स्वरूप को न खो दे। रामचन्द्र शुक्ल की शैली इसीलिए चल पड़ी क्योंकि वह 'पत्रकारिता' से बचकर (शुक्ल जी के पूर्व पत्रकारिता की शैली प्रबल थी) विवेचनात्मक (एनालिटिकल) व्यक्तित्व बनाकर चलती है। लेकिन यत्र तत्र, किसी भी 'गम्भीर'' किन्तु "सजीव" व्यक्ति की तरह वह चुटकियाँ लेती है चिकोटियाँ काटती है और मौज आ जाए तो थापड़ भी रसीद कर देती है। लेकिन उसका मुख्य रूप विवेचनात्मक ही है। इस शैली में ध्यान कृति, प्रवृत्ति या प्रतिमान के विश्लेषण पर रहता है, मूल्यांकन छनकर स्वतः आ जाता है। इसमें अपनी रुचियों, पक्षपातों से ऊपर उठना पड़ता है और अपने निष्कर्षों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है, (प्रत्येक बात पर संदेह करो'—मार्क्स) किन्तु संदेह और आत्मालोचन का अर्थ—संदेहवादी होना नहीं है। इस प्रकार, आलोचना का प्रामाणिक स्वरूप, और उसकी भाषा विवेचनात्मक (एनालिटीकल) ही होगी क्योंकि पाठक आलोचना को मनोरंजन के लिए नहीं, कृति की विशेषताओं, न्यूनताओं के उद्घाटन, सृजनकर्म से सम्बन्धित सामान्य चर्चा (कला क्या है, सार्थकता क्या है, कथ्य और रूप क्या है, संस्कृति और समाज में उसका क्या स्थान है आदि) के लिए पढ़ते है। यह अच्छा है कि नामवरसिंह ने शुक्ल जी के उद्धरण से बात शुरू की है लेकिन वे यह भूलते है कि शिवदानसिंह चौहान और स्वयं उनकी अपनी भाषा भी शुद्ध शुक्ल परम्परा की है और यह भी कि डा० रामविलास शर्मा सर्वत्र सरलीकृत पद्धति नहीं अपनाते। निबन्धों के अलावा उन्होंने पुस्तकें भी लिखी हैं। (शिवदानसिंह रांगेय राघव, राहुल आदि के नामों का बहिष्कार ध्यान देने योग्य है)

सृजनशील आलोचना का अपना महत्व है, लेकिन अतत बुनियादी चिंतन के लिये वह कच्ची सामग्री ही साबित होती है। प्रारम्भ मे प्राय प्रभाव आविष्ट आलोचना आती है, धीरे धीरे कृतियो और युगों का वस्तुत वर्गानिक अध्ययन अनुसधान चल पडता है अत विश्वविद्यालयों मे प्रचलित "नैनी" का दोष नही है, दोष आत्म सतुष्टि का है, जो तत्पर्मी, प्रश्नाकुल और वर्गानिक नही होने देती है। अतिविशेषीकरण से साहित्य को जो निरपेक्ष रूप मे देखा जा रहा है वह ज्यादा बडा खतरा है। वस्तुत अपने "मुहावरे" के विकास के चक्कर मे विभिन्न ज्ञानविभाग से अपरिचित रहना और व्यवस्थित चिंतन न करना अब फशन बनता जा रहा है, "बचकाने पन" का एक बहुत बडा करना यह है।

अत मे 'मार्क्सवादी आलोचना" के विषय मे पुन कुछ कहना आवश्यक है। लुकाच का कथन है कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का विकास सभव है (इटोडक्शन टू ए मोनोग्राफ आफ इस्थटिक्स) इससे एक ओर तो "प्रत्यय वादी चिंतन" का प्रभाव कम होकर "वर्गानिकता" बढ सकेगी और दूसरे समकालीन संग्रह मूलक समाजो को "जस्टीफाई" करने वाली और वस्तुत इसी उद्देश्य के लिए उत्पन्न की गई रचनाओ—धारणाओ और आलोचनाओ का—शील भग किया जा सकेगा। आलोचना" मे इस तरह की—वचारिक जागरूकता का कही परिचय नही मिलता।

मैं 'आलोचना' के 'लेखको की धारणाओ पर यहाँ विचार नही करना चाहता क्योकि लेखको को "आलोचना" मे लिखना है और धर्मयुग या सारिका मे भी छपना है, अथवा जो "सादर" उनसे रचना, मागे उसमे प्रकाशित होना है। किन्तु यह क्या आकस्मिक है कि हिन्दी म सिफ दो ही आलोचक माने गये, एक श्री विजयदेव नारायण साही, दूसरे आलोचना के सम्पादक डा० नामवरसिंह! यह क्या आकस्मिक है कि आलोचना मे, जिस ग्रुप ने साम्यवाद की कुत्सित निन्दा की और जो अब भी या तो सेठो की थलियो के चट्टे बट्टे हैं अथवा अपने मध्यवर्गीय भ्रमो के कारण कम्यूनिज्म विरोध का काम बडी हैंकडी से कर रहे हैं, उसी ग्रुप के—लेखको को विशेषकर, आमत्रित किया गया, शेष लेखको म 'पक्षधरो' को भी लतियाया गया? क्या नामवरसिंह अज्ञेय श्री कात वर्मा, रघुवीर सहाय वगरह की वचारिक असगतियो से वाकिफ हैं या जानबूझ कर अपने किन्ही विरोधियो के खिलाफ उन्हें इस्तमाल करना चाहते हैं?

निराला समसामयिक सौन्दर्य में

"अँग्रेजी कविता में समाप्ति" नामक पुस्तक में वी० पिंटो ने लिखा है कि अँग्रेजी कविता में आधुनिक और पारम्परिक की खाई भर ली गई है, कि टी० एस० इलियट, ई० सिटवल और सी० डे० लीविस को न 'आधुनिक' कहा जा सकता है, न 'पारम्परिक', क्योंकि इन कवियों ने आधुनिकता से सजग लेकर अँग्रेजी काव्य परम्परा को अपने में समेट लिया है किन्तु बाह्य परिवेश में अब भी समाप्ति है जो अब भी संगति नहीं पा सकी है। अपने स्वरूप की रक्षा के लिए कविता अब भी केवल कुछ लोगों की कविता बनी हुई है। एफ० आर० लीविस का कथन है कि जनता के बिना कविता जि'न नहीं रह सकती। साधारण व्यक्ति कविता को नहीं पढ़ता, यह महत्वपूर्ण सत्य है।[1]

किन्तु आस्ट्रेलिया में जनवरी १९६७ में होने वाले 'आस्ट्रेलिया और एशिया के साहित्यों में आदान प्रदान" विषय पर परिसंवाद में कवयित्री जूडिथ राइट ने आतरिक खाई और बाह्य खाई दोनों को स्वीकार किया है। उनके अनुसार "पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता में कवि की स्थिति दुःखद है। पूर्वी देशों में कवि कम जितना सहज और सामान्य माना जाता है, या कम से कम कुछ दिन पहले माना जाता था, पाश्चात्य देशों में उतना नहीं माना जाता। कवि यहाँ अजूबा होकर रह गया है। कवि को आदर निश्चय ही प्राप्त है, यानी अगर आलोचक किसी कवि को महान घोषित कर दें तो लोग उसका नाम जान जायेंगे भले ही उसकी कविताएँ उन्होंने कभी न पढ़ी हों। लेकिन यह विचित्र प्रकार की प्रतिष्ठा है। इससे कभी कभी संरक्षण भाव की गंध आती है हम मृत चुड़ैलों में आस्था नहीं है लेकिन एक माने में उनका स्थान कवि ने ले लिया है। अधिकतर लोग मानते हैं कि कवि और कविता का सम्बन्ध कुछ निषिद्ध और गोपन विषयों से है। किसी गप गोष्ठी में किसी कविता का उद्धरण प्रस्तुत कीजिए और फिर देखिये कैसा सन्नाटा छा जाता है। हमें कविता पर भरोसा नहीं है, हमारे लिये निश्चय ही वह किसी चुनौती

---

१ Crisis in English Poetry, V de S Pinto, Page 234 235

का रूप नही है। हमे डर है कि अगर हम उसे कच्चा खाने की कोशिश करेंगे तो वह हमे कच्चा खा जायगी। कविता से भावात्मक अपच हो जाऐगा, किसी न किसी रूप मे हमारी कलई खुल जायगी। इसीलिए हम बिचौलिए की मांग करते है। हम कहते हैं कि कोई अध्यापक या आलोचक हमारे और कविता के बीच आकर खड़ा हो।"[1]

इससे स्पष्ट है कि बाहरी खाई के अलावा आंतरिक खाई भी अभी है और यही समसामयिक कविता की स्थिति है। इस आतरिक खाई की पहचान ही नयी कविता, अकविता, दिगम्बर कविता भूखी पीढ़ी की कविता, क्रुद्ध युवकों की कविता, युयुत्सावादी कविता, विद्रोही कविता, ताजी और ठोस कविता में विभिन्न रूपों मे सामने आती रही है। बाह्य परिस्थिति मे भी उलझन इतनी अधिक है कि प्रत्येक साधारणीकृत निष्कर्ष जन्म लेते ही अधूरा लगने लगता है।

निराला जी के काव्य के प्रारम्भिक दौर मे, कम से कम कवि की दृष्टि से परिस्थिति और प्रेक्षक प्रयोक्ता के मध्य 'द्वन्द्व' की एक रोमांटिक 'मिथ' द्वारा 'सगति' की गई थी जो समसायिक दृष्टि से आरोपित लग सकती है किन्तु निराला के लिए वह स्वय उपलब्ध विश्वास के रूप म थी। प्रश्नो परेशानियो के सकट को विवेकानन्द ने अद्वैत' वेदान्त के आधार पर, सुलझा लिया था और निराला ने वही से 'अधिवास' प्राप्त कर लिया था जिसके बल पर जीवन और प्रकृति ही नही आधुनिक और पिछड़ी सभ्यताओ के व्यक्ति मात्र की एकता और मुक्ति घोषित हो रही थी।[2]

यह 'सप्रयन सूत्र', आज की दृष्टि से 'भ्रम' होने पर भी 'सौन्दर्य' की सृष्टि के लिए, विराट और उदात्त के प्रति उन्मुखता के लिए एवम् दूसरी

---

१ दिनमान १७ फरवरी सन् १९६७ ई०

२ "साहित्य की मुक्ति उसके काव्य मे देख पडती है, इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है, चित्रो की सृष्टि होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रो का अनादि और अनन्त सौन्दर्य मे मिलान की बडी चेष्टा रहती है साहित्य मे इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जा रहा है और यही मुक्तिप्रयास के चिह्न भी हैं जाति के मस्तिष्क मे विराट हृदयो के समावेश के साथ ही साथ स्वतन्त्रता को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं—
—"परिमल की भूमिका"

और 'प्राणसत्ता' के अभावजन्य 'दर्शनों' के प्रति तादात्म्य के लिए भी एक सहायक तत्व है, जिसकी अभिव्यक्ति 'विधवा', 'भिक्षुक' आदि में और मनुष्य की विवशताओं, परंतु ग्रताओं के विरुद्ध 'बादलराग' 'जागो फिर एक बार', 'शिवाजी का पत्र' जैसी रचनाओं में हुई है अतः देश काल को—अतिक्रांति करने वाले इस 'ग्रहा' का बोध, स्वच्छन्दतावाद व मानववाद का अविरोधी बनकर आया था जिसमें अपूर्णता का निषेध था, पूर्णता का नहीं। 'जुही की कली', सन्ध्या सुन्दरी, 'तरंगों के प्रति' गीतिका के गीत, तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा में कमनीय और महान को अपने में उतारने का वह प्रयत्न, समतल को ऊँचाइयों से जोड़ता था जो अंतिम व्याख्या में निराला के शब्दों में 'कुरूपता' से "मुक्ति का व्यापक प्रयास" था।

किन्तु परवर्ती प्रयोगशील काव्य में निराला जहाँ अर्चना और आराधना में उक्त "मित्र" के प्रति निवेदन करते रहते हैं वहाँ 'कुकुरमुत्ता', 'नए पत्ते', 'बेला' और 'अणिमा'—विशेषकर प्रथम दो में, असंगतियों को वे 'अविनश्वर' से नहीं जोड़ते हैं, वह सीधे 'सामयिक' की कुरूपताओं को प्रस्तुत करते हैं। अवयवों में अनुपात और अविच्छिन्नता खोजने वाली उनकी चेतना ऊल-जलूल्य और विसंगतियों पर ही ध्यान केन्द्रित करती है। अभिव्यक्ति का 'छायावादी' रूप अस्त होता हुआ, आक्रोश और व्यंग्य का मार्ग अपना लेता है। वस्तुतः यहीं से समसामयिक प्रयोगशील काव्य का प्रारम्भ मानना चाहिए।

'कुकुरमुत्ता' में ही सर्वप्रथम 'वार्तालापात्मक' शैली मिलती है। इसी कविता में सर्वप्रथम प्राचीन नवीन, प्रगति, अप्रगति का विद्रूप प्रस्तुत होता है। 'नए पत्ते' की "आजकल पण्डित जी देश में विराजते हैं" में 'वीर-पूजा' के खिलाफ विद्रोह मिलता है जो नए मानव मूल्यों की खोज में एक नया तत्व है, साधारण व्यक्ति या लघु मानव के प्रति निष्ठा अब भी शेष है और यह 'क्रम' सामयिक कविता की एक धारा में शृंखला भी है।

निराला के इस प्रयोगशील काव्य में, उनके 'कुल्लीभाट' और 'चतुरी चमार' की तरह 'आत्मा' की आंच व्यंग्यों के आवरण में[1] साफ महसूस होती है। यद्यपि पूर्वकाव्य भी निराला के लिए 'प्रयोग' ही थे और उनमें उदात्त और सुन्दर के प्रति आसक्ति के साथ-साथ 'बादल राग' आदि में क्रान्ति

---

१ "आज कल तो ब्यूटी सटायर की ही हो रही है।" —'निरुपमा'

का घोष सुनाई पडता है किन्तु परवर्ती काव्य मे निराला अर्चना-आराधना करते हुए भी भारतीय समाज की जडता और रीढहीनता की खबर मुख्यत 'विद्रूप' से लेते हैं। प्रकृति को छोडकर सारा परिवेश अतुकान्त, असगत और निरर्थक लगने लगता है, उन्हे केवल 'साधारण व्यक्ति मे विश्वास और आशा का अवलम्ब मिलता है —

अधिक सोच न सका, मालूम किया, जो कुछ पढा है, कुछ नही, जो कुछ किया, व्यर्थ है, जो कुछ सोचा है, स्वप्न। कुल्ली धन्य है, वह मनुष्य है इतने जम्बुको मे सिंह है।" वह अधिक पढा लिखा नही, लेकिन अधिक पढा लिखा व्यक्ति कोई उससे बडा नही। उसने जो कुछ किया, सत्य समझकर।[1]

राष्ट्रीय नेताओ के द्विविध जीवन को देखकर निराला स्पष्टत इनके नकली नेतृत्व मे सदेह करते थे। "शक्ति का विकास होने पर दूसरे अशक्तो से मनुष्य भिन्न हो जाता है—भारत की जनता की मौन करुणध्वनि ने दूसरी सत्ताओ को शासन के लिए बुलाया।"[2]

एक ओर यह "मौनकरुणध्वनि" और दूसरी ओर चारो ओर फैली 'एब्सर्डिटी' नेतृत्व की सक्रान्ति आदि द्वद्वो ने निराला की विद्रोही चेतना को टूटन न दी, अवसाद और ऊब दी जो बनावटी नही, असली अनुभूति थी अत उनका आक्रोश पाखडियो पर फूट पडता है

> आजकल पडितजी देश मे विराजते हैं
> लन्दन के ग्रेजुएट, एम० ए० और बरिस्टर
> बीसियो की पत्तों के अदर खुले हुए
> राजो के बाजू पकड, बाप की वकालत से
> लेंडी जमीदारो को आँखो तले रक्खे हुए
> मिलो के मुनाफा खाने वालो के अभिन्न मित्र
> देश के किसानो, मजदूरो के भी अपने सगे
> विलायती राष्ट्र से समझौते के लिए
> गले का चढाव बोलु आजी का नही गया।[3]

दुःख ही जिसके जीवन की कथा है', उस 'लघु मानव' ने अपने नेत्रो के सम्मुख जन स्वाधीनता के सौदागरो को देखकर, और दूसरी ओर—सामा

---

१ कुल्ली भाट, १९३९ ई०
२ प्रभावती
३ नए पत्ते

जिक जड़ता का साक्षत्कार कर जो सहा था, उसने अमष को प्रज्वलित करके उन्हे तोड डाला। असगत परिवेश ने इस त्रास को कवि ने पूव ही स्वीकार कर लिया था —

होगया व्यथ जीवन, मैं रण मे गया हार
सोचा न कभी ! (वन वेला)

अथवा

धन्ये मैं पिता निरथक था, कुछ भी तेरे हित कर न सका।
रखकर अनथ आर्थिक पथ पर, हारता रहा मैं स्वाथ समर।
दुख ही जीवन की कथा रही, क्या कहूँ आज जो नही कही।[1]

निराला म यह 'भ्रम भग" की स्थिति वास्तविक अनुभूति के रूप मे मिलती है अपने ही "प्रामाणिक अनुभव" से वह उन्हे मिली थी, यह "आयातित" भ्रमभग नही है। 'जुही की कली' की इकाई मे विराट की स्वच्छन्द सजन प्रक्रिया के दशन कर, अतिक्रातिमयी चेतना भी इस 'भ्रमभग' से कवि को बचा नही सकी। विद्रोह लक्ष्यवेध मे असफल होकर अपने आश्रय को मारता है। विद्रोह म चित्तवत्ति 'या तो पूण अथवा कुछ नही" (All or nothing) का भाव रहता है विद्रोही अपने "भोलेपन" (Innocence) मे विश्वास करता है और 'समझौता' पसन्द नही करता क्योंकि उससे "प्राप्ति" चितकबरी हो जाती है जो बदले म चितकबरी पीढी तयार करने लगती है। विद्रोही का 'भ्रमभग स्वाभाविक होता है क्योंकि जो वास्तविक 'करुणा' से प्रेरित होता है वह कभी सन्तुष्ट नही हो सकता[2] और जो व्यक्ति विद्रोह करता है वह प्रकारया अन्य व्यक्तियो मे तादात्म्य करता है।[3] इस स्थितिमे अन्याय के विरोधी को यदि वह नही मारता तो वह स्वय अपने को मारने लगता है।

निराला न 'सहसा आत्महत्या नही की किन्तु उनकी 'सजग चेतना' ने स्वत आत्महत्या की थी, धीरे धीरे अपनी एक एक डोर तोडकर, अपनी

---

1 सरोजस्मृति १६३५ ई०

2 'There is no salvation for the man who feels real compassion" (The Rebel, Albert, comus, London Page 52)

3 "When he rebels a man identifies himself with other men' वही, पृष्ठ 23

एक एक सीढ़ी काटकर, अतृप्ति में अपना ही रक्तपान करती हुई शक्ति, जो यह जवाब न पा सकी कि आदमियों की दुनिया में अन्यायी क्यों जीतते हैं —

आया न समझ में यह दैवी विधान
रावण अधमरत भी अपना, मैं हुआ अपर
यह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर, शंकर ![1]

राम ने अपने 'कमलनयन' की बलि देनी चाही, निराला ने अपनी "पूर्ण चेतना" का बलिदान दिया, 'All or nothing' । "पूर्ण स्वतन्त्रता" की प्राप्ति में समसामयिक विद्रोह ने "अतिचेतना" या ईश्वर को अस्वीकार किया । यदि जीवन विधान ही गलत है तो 'अतिचेतना' गलत है और यदि 'अतिचेतना' गलत है तो सृष्टि का प्रयोजन ही गलत है,—गलत प्रयोजन में विश्वास और भी गलत है ।।

भारतीय "रोमांटिक विद्रोह" "अतिचेतना" का निषेध नहीं करता, वह "अलक्ष्य सत्य", "लक्ष्य सत्य" और "स्व" में एकता का दार्शनिक अनुसन्धान था जिसे 'समसामयिक विद्रोह' ने नामंजूर कर दिया और पूर्ण निषेधवाद अपनाया । इसके विरुद्ध भारतीय रोमांटिक कवियों और विशेषकर निराला में विश्वास का उक्त स्तर अन्त तक बना रहा । इसलिए उनमें "मूल्यगत सभ्रान्ति" का तीखा बोध नहीं मिलता ।

निराला 'मूल्यहीन' परिवेश को पहचानते थे लेकिन वह अपने को भी पहचानते थे, सामयिक साहित्य में अपनी पहचान मुश्किल होती जा रही है । सन्देह निराला में है, अन्तर्द्वन्द्व भी है किन्तु वह निर्द्वन्द्व स्थिति की कल्पना कर सकते थे, वे परिवेश का अभिशप्त समझते थे, अपने 'अस्तित्व' को नहीं । हम कहाँ आगए ' इस ज्ञान में यह शामिल है कि 'हम सही जगह जन्मे होते, तो ऐसा न होता किन्तु ' हम क्यों आए कोई एक जगह अभिशप्त नहीं, हमारी सत्ता ही अभिशप्त है", मानव नियति की एब्सर्डिटी की यह अनुभूति निराला में नहीं है । उनका विद्रोह इस बोध पर आधारित है कि "हम कहाँ आ गए । ' इसमें आशा छिपी हुई है टूटने पर भी यह कहीं चेतना है कि लोहा यदि और ढग से तप्त किया जाता और अन्य ढग से पीटा जाता तो वह ईस्पात बन जाता लेकिन आज का, भ्रम भंग पर आधारित तीखा विद्रोह यह मानता है कि लोहा लोहा नहीं है, धोखा है हर धोखा अपने को ईस्पात कहता

---

१ राम की शक्ति पूजा

है, 'पारस' कहता है। इसलिए 'दास्तावस्की' का 'ईवान' पाप को चुनता है, ईश्वर को विदा करता है। पाप के द्वारा अपने अस्तित्व को सगति (Cohr enco) देता है। अपनी आधारभूत "निरीहता" (Innocence) में विश्वास कर वह अन्य सबको नकारता है। उसकी आवाज और अन्दाज मे तेजावी तीखापन आ जाता है, जब वह देखता है, "सब व्यथ है, कुछ नही हो सकता" और इस स्थिति म 'आत्महत्या' द्वारा भी वह अपना विरोध प्रकट करता है अथवा साहस के अभाव मे, शक्ति और प्रभुत्व की ओर मुड जाता है। निराला ने बिकना मजूर नही किया। यदि हम कुछ नही कर सकते, तो तुलसीदास, राम, राजकुमार, (अप्सरा), चन्दन (अप्सरा), विजय (अलका), 'प्रभावती' (प्रभावती) कुमार (निरुपमा) कमला ("कमला" कहानी) ज्योतिर्मयी (सखी) चतुरी, कुल्ली और बिल्लेसुर तो निरन्तर—सघषशील रहेंगे। निराला की सनक' के पर मजबूत जमीन पर है, तभी उनम 'पूण अस्वीकृति" नही है। स्वय 'धुरी हीन" होकर वह दूसरो को 'धुरी हीन' नही कहते। वह अपनी धुरी कायम रखते हैं, और दूसरो की धुरीहीनता' को कभी बिना छेडे नही मानत वह बार बार याद दिलाते है—

वे पहले फटीचर थ पर अब अमीर बन गए ह। दो मजिला मकान खडा कर लिया है, मोटर पर सर करत हैं। मुझे देखत हैं, जसे मेरा उनका नौकर मालिक का रिश्ता हो, नक्की स्वरो म कहत हैं, हा अच्छा आदमी है, जरा सनकी है"[1]

हिन्दी म सामयिक लेखन म तीखापन आया है लेकिन उसकी जडे निराला मे हैं।

विद्रोह और सनक क्रान्ति और पागलपन यदि मानववेदना, प्रेम या गम्भीरचिन्तन पर आधारित नही हैं, तो वह नकली विद्रोह है। निराला की "पगली' की मुद्राओ मे व्यापक प्रतीक नही खोजते लेकिन विद्रोह का अथ ही यह है कि विद्रोही अन्य कदियो से जुडा हुआ महसूस करता है—

"आज तक कितने वर्षा शीत ग्रीष्म इसने झेले है पता नही। लोग नपोलियन की प्रशसा करते हैं पर वह कितनी बडी शक्ति है, कोई नही सोचता। सब उसे पगली कहत हैं पर इसके परिवत्तन के क्या वही लोग कारण नही ?"[2]

---

१ देवी कहानी "सखी" शीषक कथा सग्रह।
२ पगली—"सखी"।

रोमांटिक विद्रोह के विषय में कहा जाता है कि उसमें 'पाप' और 'व्यक्ति' को अधिक पसन्द किया गया था। उसमें अव्यावहारिक "शिवत्व" के लिए, पाप करने की विवशता का अनुभव था। शैतान अपने स्रष्टा के प्रति इसलिए विद्रोह करता है कि उसे दबाने के लिए ईश्वर ने शक्ति का प्रयोग किया था। अंधकार के इस देवता ने अन्धकार का समर्थन भाग इसलिए चुना क्योंकि ईश्वर ने शिवत्व की ऐसी परिभाषा की, जिसके द्वारा बल प्रयोग होता है। यह भी कहा गया है कि दिखाऊ बांकेपन, जो रोमांटिकों की विशेषता थी, अन्त में इस भाव में परिणत हो जाता है कि जिन्दा भी दर्पण के सामने रहेंगे और मरेंगे तो भी दर्पण को सामने रखकर।[1]

किन्तु निराला में न तो पापप्रियता है और न "रुग्ण व्यक्तिवाद" ही मिलता है, उनमें *'बेगानगी'* और हर चीज के जिगर में प्रश्न चिह्न भोंकते चलने की भी स्थिति नहीं है किन्तु एक "अकेलापन और आघातित" होने का तेज अहसास मिलता है। उनका अहंकार भी मौन और मरणासन्न आम आदमी की दमित प्रखरता का विस्फोट था, उनमें महानता इसलिए थी कि वह साधारण के असाधारण प्रतिभू थे। भीड़ अपने लिए ही अपनी किसी इकाई को अपनी विशिष्टता देकर उनके सामने खड़ा कर देती है जो यह नहीं मानते कि भीड़ सचेतन जीवों का समूह है। अतः भारतीय रोमांटिक विद्रोह' का भारतीय रूप पश करता है उसमें भ्रम हैं किन्तु यह स्मरणीय है कि साहित्य में वह उल्लेखनीय विद्रोह है। उसके कुछ पक्षों से अलगाव जरूरी है, किन्तु उसने सरहपा, कबीर और सरमद से जिस तरह अपने को काट कर नहीं देखा उसी तरह हमें समसामयिक विद्रोही चिन्तन में (जो पूर्ण स्वीकृति का दावा करता है) उस अस्वीकृति को नहीं भूलना चाहिए जो प्रत्येक विद्रोह के मूल में रहती है और निराला तो इसलिए भी इस विद्रोहीधारा से जुड़ हुए हैं कि उन्होंने सृजन में प्रयोगोन्मुखता का सर्वप्रथम परिचय दिया था। कुकुरमुत्ता और नए पत्ते के बाद विरोधी दल के सभी कवि 'अस्वीकृति' की आधार शिला पर खड़े हुए हैं, इनमें रामविलास शर्मा हैं, शमशेर हैं गजानन माधव मुक्तिबोध हैं केदार और त्रिलोचन हैं, नागार्जुन हैं, राजकमल चौधरी हैं मुझे लगता है कि "अंधेरे में" मुक्तिबोध निराला के ही मार्ग पर हैं—

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।[2]

---

१ काम् पृष्ठ ४६
२ "चाँद का मुँह टेढ़ा है"

"अभिव्यक्ति मे खतरे" निराला ने सबसे ज्यादा उठाए थे । जिस नये कवि म उक्त मौन करुणा की ध्वनि है, उसमे निराला का ही आत्मदाह उसके प्रयोगो को कागज के फूल नही बनने देता । "मुक्तिबोधा ' को, जसे अपनी व्यथा सौंप कर ही निराला जी होश को अनावश्यक समझ सके और आज प्रत्येक कवि चाहे वह प्रथम तारसप्तक और 'प्रतीक' से नूतन काव्य का प्रारम्भ मानता हो अथवा "नयी कविता" (१९५४) से या नयेपत्ते (१९५३) से[1] किन्तु ये सब कुकुरमुत्ते'' के ही "नये पत्ते" हैं । कुकुरमुत्ते भी तरह तरह के हो सकते हैं और जिस गुलाब और 'जुही' को निराला न इतनी ललक स देखा था, उसे तो वह स्वय छोडकर, "गम पकौडी" खजाहरा "महगू महगा रहा ' तथा कुकुरमुत्ते को अपना लेते हैं । टी० एस० इलियट के ' कही का इट कही का रोडा ' का यह पहचानते हैं । अनेय जी माइकल मधुसूदनदत्त और पन्त जी क नय रोलाइ दो की चर्चा करते हैं, किन्तु यह स्पष्ट नही कहते कि उनस पूव निराला प्रयोगशील काव्य के प्रवतक हैं, उनके परिकर के अ य कवि भी यह नहा कहते । ~न्दा जो भी कारण हो लेकिन अन्य नये कवि निराला को प्रथम प्रयोगशील कवि मानत है । 'चाँद का मु [illegible] टेढा' का भूमिका म शमशेर बहादुर सिंह मुक्तिबोध द्वारा चित्रित सघष मन म नव का चित्र उद्धृत करत हुए कहत हैं कि इसम निराला की याद उभरती है ।

दिल के भीतर गम इट है, गम ईट है
जले हुए ठूंठ के तने सी, स्याह पीठ है
जमीन की जीभ निकल पडी है ।

ज्यो कोई च्यूँटी शिलालेख पर चढती है, अक्षर अक्षर रेंगती नही कुछ पढती है त्यो मन भीतर के लेखो को छू लेता है, बेचन भटकता है, बेकार ठिठकता है पर पकड नही पाता उसके अक्षर (मुक्तिबोध)

निराला के काव्य म करुणा ही नही है, एक "फ्रस्ट्रेशन" भी है । और इस निराशा के कारण हम है, हम जो बरबाद हाने के बाद ही इस अहसास को पा सके कि हम किश्तो म बागी बनते रहे,हम एकदम समूचे बागी नही बन सके —

---

१ नवरेखन, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ ४१ (विद्या निवास मिश्र भी काव्य सकलन मे मौन हैं)

ठीक है कि हम भी तो दब गए
हम जो विरोधी थे
कुँआ तहखानों मे बद बद
लेकिन, हम इसलिए मरे कि जरूरत से
ज्यादा नही, बहुत बहुत कम हम बागी थ ।

(मुक्तिबोध)

हम कुछ भी कह लेकिन हमे यह बोध है। यही सकट है। यही अन्तर्द्वन्द्व का कारण है। समाज भी जानता है। वह हमें उन नजरों से देखता है, जिससे हमारी आत्मसजगता जगी रहती है और 'हम देखे जा रहे हैं" यह ज्ञान "शहादत' के लिए हमें विवश करता है। यही कारण है कि सामयिक कवि प्रत्येक देश मे आज अभूतपूर्व बेचैनी से पीड़ित है वह न पश्चिम मे स्वीकृत है, न पूर्व म, न घर न बाहर। यदि निराला के विद्रोह जैसी उसमें ईमानदारी है तब विद्रोह की कीमत देकर भी (फिर जीवन जो पाता ही आया है विरोध) यह सतोष रहेगा कि टूटने या तोडने वाला मे हम पहले नही हैं। अन्य परम्पराएँ चाहे स्वीकृत न हो पर विद्रोह की परम्परा तो माननी ही होगी।

निराला अपने और पराये दुख को बडी गहराई से महसूस करते हैं, जो कभी कभी भावुकता में बह उठता है— "मर जीवन को धिक्कार है, जिसमे सदा विरोध ही रहा' यह सवेदनशील व्यक्तित्व की स्वाभाविक चीख है, जिसे छिपाना फ्रॉड लगता है लेकिन समकालीन "अजनबी" के विद्रोह मे अपने पर तरस खाने की प्रवृत्ति नही हैं। अतहीन लडाई और किसी भी तरह की आशा के अभाव मे, कवि, अपने को इतिहास की अग्निमय विरोधधारा से जोडकर और विद्रोह को प्रत्येक युग, प्रत्येक व्यवस्था मे, कवि धर्म समझ कर (क्योकि असगतिया हमेशा रहगी) वह विद्रोह को, अपने जैसे दिमागो, दिलों और जिगरो के लिए, नियति मान लेता है सिसिफिस की नियति, व्यवस्था के सिर पर चढते उतरते रहो। इस अनन्त यातना से सिर्फ 'मोटी खालवाले" बच सकते हैं, इसलिए ऐसा विद्रोही एक असम्पृक्ति में जीता है वह किसी पर तरस नही खाता लेकिन वह विरोध उन्ही का करता है, जो जमे हुए हैं और जो अपनी छाया मे न कुछ उगने नही देत हैं और बेशर्मी से, उगे हुओं का मजे ले लेकर बौना बनाते हैं और हर एक हवा के साथ सिर हिलाते हैं।।।

बहुत गहरी तकलीफ म आदमी असम्पृक्त हो जाता है बहुत गहरी नफरत, अमानवीयता से नफरत, विद्रोही को स्थितप्रज्ञ, तटस्थ और ताकतवर

बना देती है उसमे, नतिक शक्ति का तेज रहता है और "मैं सही हूँ, ये गलत हैं, गलीज है, गिजगिजे हैं", इस अहसास से आत्मविश्वास झरता है। ऐसा व्यक्ति रो नही सकता, न इसे दुख का विषय मानता है कि उसे दुख क्या मिला क्योकि उसका दुख वरण किया हुआ है, वह उस पर आरोपित नही किया गया है इसलिए वह न रिरियाता है, न गरजता है, न तड़पता है वह ज्वालामुखी की तरह नही फूटता, बुरादे की तरह चुपचाप जलता है। लेकिन जलन को वह स्वीकार कर चुका है उसे कोई पश्चाताप, कोई ईर्ष्या, कोई लोभ नही होता। "ठण्डी नफरत" आत्मकवच है और सृजन की शर्त भी। ऐसा सृजन, पाठक का माथा नही बदलता भीतर का गूदा बदल देता है। मुझे हिन्दी के किसी कवि के व्यक्तित्व म यह ठण्डी और सृजनात्मक नफरत, अस्सी फीसदी भी नहा मिली, हाँ दस बीस फीसदी ऐसी नफरत जरूर मिलती है। मुक्त म तो यह पच्चीस प्रतिशत भी है!!

निराला की चीख सच्ची है, इसलिए उसका असर होता है, उनम संयम भी है, तरम" स तराशी गई पंक्तियाँ निराला म कम ही हैं। उनकी रचनाओ मे, इस वतन के एक किसान की गरज और गूंज हैं जो न क्रोध छिपाती है और न अनुराग का "आउट आफ डेट' घोषित करती है। एक असली, जान पहचाने कड़ियल किसान का मन, तपता है भीगता है और ठिठुरता है लेकिन जो गड़गड़ाते बादलो मे उस तूफान की गरज सुनता है जो आना चाहता है, कुछ कदम कभी कभी चलता भी है लेकिन कम्बख्त फिर रुक जाता है!!

पटकथा और समकालीन संदर्भ

नयी कविता के ताव और तेवर बदल रहे है, एक सीमा तक बदल गये हैं। इधर भीड की सच्चाइयो की तरफ फिर ध्यान गया है। अभिनव कविता मे कवियो की अन्तर्मुखता, बाहरी हकीकत से अपने को काटकर अपने मे ही घुमड कर नही रह जाती बल्कि भीतरी और बाहरी, अपना और पराये, जैसे ध्रुवो म भटकने वाली रचना प्रक्रिया को, एक बार फिर इस नजरिए से नया रूप दिया जा रहा है कि 'वैयक्तिक और सामूहिक' समानान्तर नही चलते। यही सबब है कि इधर की रचनाओ म बाहरी मुसीबतो को इस तरह पेश किया जा रहा है जैसे वे 'अपनी और भीतरी' हो। निराला जी ने कहा था, 'मैंने मैं शैली अपनाई'। किन्तु इसी रचना म 'एक दुखी भाई को देखे जाने और उससे आख भर आने की वास्तविकता को छुपाया नही गया है।

असलियत यह है कि बहुत कम रचनाओ म इस पद्धति के प्रयोग म सफलता मिली है। मैं की प्रधानता मे रचना मे आन्तरिक कसाव का अभाव, व्यर्थ आत्मालाप, विस्तृत प्रलाप और शब्दो के साथ अश्लील व्यवहार अधिक हुआ है यो इस तरह की रचनाओ म वह 'उबाऊ ऊपरीपन' नही मिलता जो साठोत्तरी कविताओ म बुरी तरह बढ रहा है। फिर भी अपने भीतर सामयिक युग के गहरे और उथले संकटो को उतार कर अथवा अपने मे, सक्रान्ति काल का विस्तृत साक्षात्कार और अपने पर उसकी प्रतिक्रिया महसूस करते समय, 'आत्मालापपरक' शैलीकार को बहुत अधिक सावधान रहना चाहिये अन्यथा आन्तरिकता और एक 'धुन्नेपन' म कोई अन्तर नही रहता। 'धुन्नापन' की स्थिति मे कवि भीतर भुनभुनाता अधिक है और तनाव म चेतना अपने आस पास घूमने लगती है जैसे कोई कीडा थककर भरता और भुनभुनाता है। नतीजा यह होता है कि बाहरी दबावों से मनोवृत्तियो की गतिया साकार नही हो पाती, और स्वभावत वास्तविकता एक 'अमूर्त' रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार की उलझन, पुनरावृत्ति और अमूर्तन उक्त 'धुन्नेपन' के कारण ही आता है। अमूर्तन और चेतनाप्रवाह विधियो के लिए रचनाकार को बहुत अधिक रुक रुक कर चलना पडता है। अन्यथा चेतना प्रवाह विधि, मात्र अमूर्त प्रवाह विधि बन जाती है।

'पटकथा' दूसरे ध्रुव पर, सपाटता[1] के बिन्दु पर पहुँच जाती है, जो शुरुआत "मैं" विधि से ही होती है—

'जब मैं बाहर आया, मेरे हाथों में कविता थी—और दिमाग में आँतों का एक्सरे, वह काला धब्बा, जो कल तक एक शब्द था' मैंने सोचा और संस्कार के वर्जित इलाकों में अपनी आदतों का शिकार होने से पहले ही बाहर चला आया।

यहाँ 'मैं', अपनी कथा कहने लगता है "बाहर हवा थी, धूप थी, मैंने कहा आजादी !"

लेकिन धूमिल की चेतना में धुन धुनाहट नहीं है, मानसिक घटना को सफाई से पकड़ने का रुझान है। उनके साथ दिक्कत यह है कि वह जल्दी जल्दी 'पकड़' के चक्कर में रहते हैं। नतीजा यह होता है कि 'नाटकीयता' आजाती हैं, जैसे किसी नाटक में कोई वक्ता एक विशेष प्रभाव की सृष्टि करने के लिये 'विदग्ध संवाद' प्रस्तुत कर रहा हो।

> "मैंने कहा, आ जा दो
> और दौड़ता हुआ खेतों की ओर गया—
> वहाँ कतार के कतार, अनाज के अंकुर फूट रहे थे।
> मैंने कहा, जैसे कसरत करते हुए बच्चे।
> तारों पर चिड़ियाँ चहचहा रही थी
> मैंने कहा, काँसे की बजती हुई घंटियाँ।
> खेत की मेंड पार करते हुए।
> मैंने एक बैल की पीठ थपथपाई।
> सड़क पर जाते आदमी से, उसका नाम पूछा और कहा, 'बधाई'।

यह सचाई है कि 'नयी कविता' में ऐसा 'बेलाग स्वर' खोजने से ही कहीं मिलेगा। नयी कविता के प्रगतिशील रचनाकार मुक्ति-बोध, शमशेर आदि भी इस साफगोई और सरलता से काम नहीं लेते। फंतासी खड़ी करने या नवीन बिम्बों की तलाश पर तब ज्यादा ध्यान दिया जा रहा था। भाषा या तो प्रयोगात्मक होने से अस्वाभाविक हो जाती थी या 'कविभाषा' (पोयटिक डिक्शन) का रूप धारण करने लगती थी। लेकिन 'पटकथा' जैसी रचनाओं में, लगता है, भाषा को रोजमर्रा की भाषा के निकट ले जाया गया हो। नयी

---

१ यह सपाटता "प्रतिश्रुतपीढ़ी" (सम्पादक, रणजीत) में भी, आवश्यकता से अधिक मात्रा में मिलती है।

कविता का आग्रह कविभाषा को गद्य के निकट ले जाने पर था, अभिनव कविता मे 'कविभाषा' को 'कविगद्य' के स्थान पर 'जीवन म प्रयुक्त वास्तविक गद्य' के निकट ले जाया जारहा है। इस कोशिश की प्रशसा होनी ही चाहिए ।

लेकिन पूर्वपीढी के प्रति प्रतिक्रिया के जोश म, उसकी उपलब्धियो की उपेक्षा गलत है। धूमिल की कविता म या 'कविताकथा' मे बिम्ब प्राय अलकार बन जाते है। यहा 'साहश्य' तो है लेकिन बिम्ब म जो 'कुछ और' होता है वह इनम नही मिलता—'अनाज के अकुरा को कसरती बच्चे' कहने से अथवा चिडियो की बोली को 'कांस की बजती घटिया' कहन म बारीक बीनी नही है। दूसरी पक्ति म कही अधिक व्यामयाबी मिली है। कांस की घटियां 'एक खास ढग' से बजाई जाए तो पक्षियो की चहचहाहट का भान हो सकता है पर धूमिल रुक कर कला रचना म उलभना नही चाहते, वह 'अपनी जाच पडताल करके एक कलात्मक 'बातूनीपन' का अपना कर चलते है—

हवा म गरदन उचका उचका कर
लम्बी लम्बी सास खीचता रहा
देर तक महसूस करता रहा
कि मेरे भीतर, वक्त का सामना करने के लिये औसतन जवान
खून है।

यह 'सरलीकृत' 'औमतिया जहनियत' उलभी हुई स्थितियो की सारी शिराओ, धमनियो, रक्त, अस्थि मास वगरह की पहचान नही करना चाहती, और न प्रतिपक्षी विचारो के वजन का अन्दाजा लगाना चाहती है। यहाँ तो 'आस्था' के लिये खाली दडबो म कबूतरो का जोडा छोड देना काफी समझा जाता है। इस तरह की सरलता स पाठक हर बात के तुरत फसले से, पहले तो बहुत खुश होते है, लेकिन जब वह देखते है कि रोटी, कपडा की समस्या तो अब सिर्फ तकनीकी ज्ञान से ही हल हो सकती है तो 'क्रांतिबोध' उन्हें फालतू लग सकता है। धूमिल ही नहीं, अन्य साठोत्तरी कवियो का असन्तोष और आक्रोश सामान्य क्रांतिचेतना मे सहायक तत्त्व है लेकिन क्रान्ति बडा ही धोखेबाज शब्द है क्रांति सिर्फ आर्थिक ढाचे को बदलने तक ही सीमित नही होती, प्रत्येक 'अमानवीयता' या 'कुरूपता' अथवा प्रत्येक प्रकार की असगति के विरुद्ध निरन्तर सघर्ष ही क्रातिबोध है।

साठोत्तरी पीढी को भ्रम है कि सिर्फ वक्तव्यपरक हो जाने स काम चल जायगा। लेकिन 'वक्तव्यता एक अन्य भ्रम की सृष्टि करती है। वह

'मनुष्य' की असंगतियों का टाकर अध्ययन नहीं करती, सरलीकृत निष्कर्षों की, 'बातूनी' लहजे में अभिव्यक्ति करने लगती है। वह मध्य वर्ग, जिसका यह भ्रम दूर करना चाहती है, उसे कविता न मान कर, मात्र प्रचार कहकर टाल जाता है, क्योंकि सच्चाई अपने सरलीकृत रूप में इतिहास, समाजशास्त्र और अन्य ज्ञानों के पास रहती ही है। वक्तव्यता' के हलके रूप इस रचना में बहुत हैं—

> संस्कृति, शांति मनुष्यता
> ये सारे शब्द थे, सुनहरे वादे थे
> खुशफहम इरादे थे, सुन्दर थे, मौलिक थे।
> इस तरह के भाषणों के मध्य कभी कविता भी कौंध जाती है—

> ' भीड़ बढ़ती रही, चौराहे चौड़े होते रहे !'

दरअसल, कविताहीन सहज गद्य में गहराई भरकर कहने पर, साठोत्तरी पीढ़ी को और अधिक ध्यान देना होगा। इस गहरे लेकिन बोधगम्य गद्य में कविता लिखने के लिये, मेरी दृष्टि से, एक विशेष तरह की अतिक्रांति' की जरूरत होती है। कवि 'अपने' तनाव और आवेगों और फफकती भाषा की सीमाओं को तोड़कर, उन्हें इस तरह देखे, जैसे वह किसी और की भीतरी हरारत को देख रहा हो। अंतरावलोकन में 'अजनबी' न हो सकने का नतीजा यह होता है कि इस तरह की लफ्फाजी कविता के नाम पर मिलती है—

> हिमालय से हिन्दमहासागर तक फैला हुआ, गीली मिट्टी का ढेर है
> जहाँ हर तीसरी जुबान का मतलब, नफरत है, साजिश है, अंधेर है !
> यह मेरा देश है ! और यह मेरे देश की जनता है' जनता क्या है एक शब्द
> सिर्फ एक शब्द है !

> इस भाषण में 'मनतंत्र' कोई पंक्ति ध्यान अवश्य खींचती है—
> "(अपना देश) एक पेड़ है जो ढलान पर
> हर आती जाती हवा की जुबान में
> हाँ ऽ ऽ हाँ ऽ ऽ करता है।"

> जो चेहरा आत्महीनता की स्वीकृति में कंधे पर लुढ़क रहा था
> किसी सनसनाते हुए चाकू की तरह खुलकर खड़ा होगया।

"एक समूचा और सही वाक्य टूटकर, बिखर गया है।"

धूमिल हाल की घटनाओं का सतही जायजा लेते हैं और चुनाव, अकाल और ताशकन्द की झाकियाँ प्रस्तुत करते है। फिर हिन्दुस्तान' को वो एक हमशक्ल के रूप मे अपने सामने पेश करते हैं (यह 'देश' को मनुष्य या 'माता जी' बनाकर पेश करना रूढिगत है)।

इस नाटक म भी कुछ पक्तिया दिलचस्प हैं। पटकथा मे 'वातावरण सृष्टि' की कोशिश भी है लेकिन इस काम मे मुक्तिबोध अब भी अद्वितीय हैं। वातावरण सृष्टि और भाषण साथ नही चल सकते। फिर भी यह 'उदाहरण' गौरतलब है—

एक अजीब सी प्यार भरी गुर्राहट
जसे कोई मादा भेडिया अपने छौने को दूध पिला रही है।
और साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है

धूमिल म तमतमाहट खूब है। दुश्मन को, उसकी 'मशहूर' हरकतो के साथ उखाडने के लिए भीड को बोधित' करने की सामर्थ्य भी कम नही है। वह "फसले तक आते आते बात का रुक जाना या चन्द टुच्ची सुविधाओ के लालच के सामने अभियोग की भाषा के चुक जाने के, समकालीन सकट की नब्ज सही तौर पर पहचानते हैं लेकिन उनकी कविता कहानी के विवरण और नाटकीय अन्दाजो मे दबन लगती है। स्थिति का विश्लेषण न होकर, विशेषणो की बौछार होने लगती हैं—

'कुछ रोगी है कुछ भोगी है
कुछ हिजडे है, कुछ जोगी हैं
तिजोरियो के प्रशिक्षित दलाल हैं
आँखो के अन्धे हैं, घर के कगाल हैं
गूगे हैं, बहरे हैं

वे इस बात पर सहमत है कि इस देश मे असख्य रोग हैं और उनका एकमात्र इलाज चुनाव है।

यह विशेषणपरक शली छायावादी ही नही, शास्त्रीय काव्यो की भी परिचित शली है और अखबार भी इसका प्रयोग करते हैं। यो सटीक विशेषण की खोज कला है लेकिन उसके अभाव म 'अखबारी' होने से विद्रूपीकरण तो होता है वास्तविकता का 'बिम्बन' नही होता। तस्वीर न बनकर 'कारटून' बनने लगता है।

असगतिया तीव्रतम होने पर और विकल्प अस्पष्ट होने पर, जो 'समूहशास्त्री' हैं, या सामाजिक इजीनियर' है, व निर्भ्रात स्वर मे एक बुनियादी तब्दीली की माग करते हैं और वे अपनी बुनियादी तब्दीली की धारणा को इतने व्यापक, मानवीय और प्राय सभी प्रश्नो के उत्तरो सहित प्रस्तुत करते हैं कि कवि के आकाश का माग मिल जाता है, मार्क्स ऐसा ही सामाजिक तत्ववेत्ता था और उसकी दृष्टि ही 'धूमिल' को, अपने सामान्य रूप मे, दिशा देती है। यही कारण है कि 'पटकथा' 'आलोचना' मे प्रकाशित हुई है।

निश्चित रूप से राजनतिक चेतना जाग्रत करने की दृष्टि से पटकथा, एक जोशीली राजनतिक कविता है। वह किसी भी कवि सम्मेलन मे या राजनतिक सभा में हडकम्प मचा सकती है लेकिन आलोचना म प्राय सतही, राजनतिक कविताएँ ही क्यो प्रकाशित होती है ? सम्पादक, चितन मे अनिणय का शिकार है लेकिन सृजन के लिये जो 'प्रारूप या माडल वह प्रस्तुत करता है, वह प्रचारात्मक क्यो हो जाता है ? एक ही कवि एक तरह की रचना 'आलोचना' मे लिखता है, दूसरे तरह की 'धमयुग' मे लिखता है।

यदि किसी रचना मे निम्नमध्यवर्गीय लेखक अपनी सशयग्रस्तता या असगतिया का गहरा चित्रण करता है तो क्या वह मार्क्सवाद द्वारा वहिष्कृत हो या उसे 'अनिवाय स्थिति के प्रतिबिम्ब' के रूप मे अपनाया जाये ? क्या अज्ञेय, भारतीय, नरेश महता, कुँवर नारायण, सर्वेश्वर, लक्ष्मीकान्त वर्मा, निम्न मध्यवर्गीय चेतना के यथाथ को कलात्मक रूप म प्रस्तुत कर सके हैं ? यदि वे ऐसे न होते, जसे वह हैं, तो क्या बीसवी शताब्दी के पिछले दशक के 'मानसिक मौसम' को उसके उतार चढाव के साथ व्यक्त किया जा सकता था ? क्या सशय और अनिणय सिफ वगगत है अथवा बौद्धिको मे सशय के लिये स्वय रूसी, चीनी और नामवरसिंह जसे हिन्दुस्तानी साम्यवादी भी जिम्मेदार हैं ?

असलियत यह है "पटकथा एक सरलीकृत भ्रान्तिरोध की रचना है। इस सरलीकरण के विरुद्ध 'आलोचना' के सम्पादक आक्षेप करते आये हैं लेकिन उनकी कविता के चयन म वही सरलीकृत, सपाट मनोदशा मिलती है। साधारण व्यक्ति यह समझता है कि प्रगतिवाद, ऊपरी राजनतिक चेतना का नाम है। वह व्यक्ति और समाज के गूढस्तरो और अगाध मनोवृत्तियो की जाँच पडताल या अहसास को समझने के लिये कोई अन्य पैमाना खोजता है ।

नव कथा साहित्य मे भारतीय संस्कृति

भारतीय सस्कृति की धारणा बहुत उलझी हुई धारणा है। अगर भारतीय सस्कृति का अथ "हि दू सस्कृति" लिया जाये तो अधिक सुविधा हो सकती है, क्योंकि तब वद, पुराण, षड्दशन स्मृति और धमशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कालिदास की सास्कृतिक परम्परा, मूल्य और मा यताओ पर ध्यान केद्रित हो सकता है, लेकिन "भारतीय सस्कृति" का यह अथ "सकीण" है। इसलिये स्वभावत बौद्ध, जन सिख, पारसी तथा इस्लाम के आदर्शों, जीवन-विधियो, मूल्यो और कलाओ वगरह को भी शामिल किया जाता है। नतीजा यह होता है कि एक 'अनमल या अधमेल'—सास्कृतिक धारणा, "भारतीय सस्कृति" के नाम स उभरती ह।

इस स्थिति म, "व्यतिरेक-विधि" द्वारा "भारतीय सस्कृति" क्या नही है, इस पर विचार किया जाए। प्रथम, भारतीय "जाति", अभारतीयो (अरबो, यूरोपियनो आदि) स स्पष्टत भिन्न दिखाई पडती है। हिन्दू, मुसल-मान, पारसी ईसाई या बौद्ध, विदशियो की भीड म, भारतीय कौम के रूप मे अलग से पहचान लिये जात है (कुछ सीमाओ पर बसी जातियो को छोडकर)। इस भारतीय चेहरे के रूप साहित्य और कलाओ मे चित्रित होते आये हैं— "रुकोगी नही राधिका" म उषा प्रियम्वदा ने और 'कृष्णकली" मे "शिवानी" ने, इसी भारतीय चेहरे को पहचाना है। अनजाने ही कथाकारो द्वारा मुद्राओ और बनावटो के विवरणो स भारतीयता' का वणन हो जाता है। शायद किसी कथाकार न यह नही कहा कि 'भारतीय रूप' से वह ऊबा हुआ है।

लेकिन भारतीयो का अभारतीयो से, एक स्वतन्त्र "स्वभाव" भी होता है। विवादास्पद होते हुए भी, इस "भारतीय स्वभाव" को लक्ष्य किया जा सकता है। क्षेत्रीय वविध्य होन पर भी, शताब्दियो की अवधि मे-हम एक विशिष्ट वातावरण से प्रभावित रहे हैं। यह वातावरण लगभग सारे देश म एक सा रहा है। 'आधुनिक" युग के पूव यह "स्वभाव' अधिक व्यापक था। पिछले दो सौ वर्षों मे, पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा, वज्ञानिक चेतना आदि के कारण

इस "स्वभाव" म अन्य तत्वा का मिश्रण बढ़ा है, फिर भी अभी यह मिश्रण सिर्फ शिक्षितो (इलीट) म ही अधिक हुआ है।

इस भारतीय स्वभाव की प्रथम विशषता "भावुकता" है। सभवत यह भावुकता सभी उष्ण देशो की विशषता मानी जा सकती है। एशिया और अफ्रीका के देशो म यह "भावुकता" अधिक मिलती है। अत भारतीय भावुकता की तुलना, यारोपीय स्वभाव क 'ठडेपन' स की जा सकती है। इस प्रसग म यह भी कहा जा सकता है कि भाव ऊष्मा" सामान्य जनता की विशिष्टता है। बौद्धिका म "ठडापन" या "ठहराव" या सतुलन अधिक होता है, लेकिन "दिमागी आँख" स यह साफ देखा जा सकता है कि भारतीय अधिक भावुक होते हैं,[1] भाव या रस प्रधान साहित्य इसी स्वभाव की परिणति है। लेकिन नवकथा साहित्य म इस "स्वभाव" पर प्रहार पर प्रहार किये गय हैं। बगाल के शरत् चन्द्र चटर्जी की कथाओ म भी यह भावुकता मिलती है लेकिन प्रेमचन्द और शरत् के बाद का कथाकार इस "भावात्मक टायप" की जगह अधिक "सतुलित" ऊपर स 'ठण्डे', भीतर स गहर उत्तेजनारहित और मननशील "टायप' के विकास म जान-अजनान मदद कर रहा है।

भावुक व्यक्ति परिस्थिति का निमम विश्लेषण नही कर सकता। वह एक "भ्रम" मे रहता है, निरथक मोह पालता है जो टूटन पर भावुक व्यक्ति को, घणा, उदासीनता या वराग्य के दूसरे ध्रुव पर ले जाता है। कथा साहित्य म, 'प्रेम" से सम्बधित भावुकता का पर्दाफाश सर्वाधिक मात्रा म हुआ है। कारण यह है कि यह भारतीय संस्कृति", औद्योगिक सभ्यता के प्रतिकूल पडती है। भारतीय सस्कृति एक दीघ साम ती समाज व्यवस्था म विकसित हुई है जिसम 'भाव" क लिय पयाप्त स्थान रहता है। स्वामी-सेवक, माता-पिता, पिता-पुत्र आराध्य-आराधक, प्रकृति मानव आदि रिश्तो म मात्र 'मुद्रा" (रुपया) ही निर्णायक नही होती बल्कि 'भाव' भी निर्णायक होता है। इस "भाव" को बनाये रखने के लिय कवि कविता लिखते हैं (रामायण, भक्ति के पद, रीतिकालीन प्रेम आदि) कलाकार चित्र बनाते हैं और सगीतकार शाश्वत प्रेम क गीत गाते हैं लेकिन यह भावात्मकता", औद्योगिक तकनीकी युग मे विशेषकर पूँजीवादी प्रतिष्ठानो म, "अयोग्यता' और "पिछड़ापन" मानी जाने लगती है। सम्बधो का "सातत्य" समाप्त होता है और सम्बधों की मानवीयता मुद्रा परक" सम्बधो मे बदल जाती है, प्रतियोगिता और

---

१ एशियाई होने पर भी चीनी लोग उतने भावुक नही होते।

क्रय-विक्रय ही प्रधान हो जाता हैं, "मूल्यों" के स्थान पर 'मुद्रा" वरेण्य हो जाती है।

इस मानव-मूल्यहीन वातावरण में "नवीन" कथाकार वह है जो इस 'भाव की हत्या' से उत्पन्न स्थिति का चित्रण करे और "नवीन" संबंधों को पहचान ले। यही कारण है कि राजेन्द्र यादव की एक कहानी में (एक कटी हुई कहानी) नायक विवाह के बाद बंधन महसूस करता है और स्वच्छन्द प्रेम की लालसा के कारण, अपनी प्रेयसी से कहता है कि विवाह एक दूसरे को "बोर" करने का विधान है। इसी तरह हास्य रस'[1] में ज्ञानरंजन ने विवाह प्रक्रिया को हास्यास्पद रूप में चित्रित किया है —

"अगर प्रेम से छुटकारा मिल गया है, तो इसमें दुःख की कोई बात नहीं है। दरअसल, मुझे समझ नहीं आ रहा है कि क्या किया जाए अथवा क्या किया जा सकता है। मेरी पत्नी संतुष्ट और निश्चिन्त है और उसके खिले हुए चेहरे से मुझे प्रसन्नता नहीं हो रही है। यह खिला हुआ चेहरा और कुछ नहीं, विजय का गर्व है। यह स्पष्ट है कि मैं घाटा खा चुका हूँ और मुझे पराजित करने वाला मेरा साथी तत्काल हर चीज की माँग करने का अधिकारी हो गया है।"

तो प्रश्न 'स्वच्छन्दता" का है, विवाह इस स्वच्छन्दता में बाधक है, इसीलिए यह सब ऊहापोह है। स्वतन्त्रता आधुनिक व्यक्ति की मूल विशेषता है और "भारतीय संस्कृति" का सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रयत्न इस स्वतन्त्रता को कर्तव्यों में कसने पर रहा है (पितृ ऋण, ऋषिऋण आदि)। स्वच्छन्दता में व्यक्तित्व का विकास मनमाने ढंग से हो सकता है, बंधन में "टायप" ढल सकते हैं। यही सबब है कि "भारतीय संस्कृति' के अनुगामियों में स्वतन्त्र व्यक्तित्व सिर्फ यत्र तत्र ही मिल पाते हैं। "भारतीय संस्कृति" वासना को अनुशासित करने और परिवार की व्यवस्था के चलाने के लिए विवाह को अनिवार्य करती है किन्तु इस व्यवस्था में "स्वेच्छा से वरण" का अभाव होने से[2] नवीन कथा साहित्य इसके विरुद्ध विप्लव कर रहा है।

यह प्रयत्न वस्तुतः औद्योगिक तकनीकी और पूँजीवादी सभ्यता के

१—अणिमा का कथा विशेषांक।

२—पूर्व काल में स्वयंवर की परम्परा थी, पर वह कभी जनप्रचलित प्रथा नहीं रही। अतः 'भारतीय संस्कृति' से यहाँ अब प्रचलित जीवन विधि से ही लेना चाहिये।

लिए वर्गितयो को तयार करने का साहित्यिक आयोजन है और साथ ही इसके पूँजीवादी रूप का विरोध भी हो रहा है

साम ती घेरो मे मनुष्य को बाँधने का एक उपाय यह था कि "असामाजिक" समझी जाने वाली अनुभूतियो और भावनाओ को गुप्त रखा जाए। मसलन पुरानी कथाओ मे प्रेम के बाद विवाह आवश्यक है (फिल्मो मे अब भी यही भारतीय परम्परा चल रही है) या यह कि वासनाओ का वणन निषिद्ध है, उनका एकात भोग हो तो हो पर उसे गुप्त रखा जाए। इस "भारतीय प्रवत्ति का" पदाफाश, नवीन कथाओ म बहुत हुआ है। वजनाओ या अवचेतन मन की विकृतियो का वणन नए कथा साहित्य की विशेषता है। 'अपना मरना" और "रीछ" नवीनतम कथा प्रयत्न उदाहरण है। "अपना मरना" मे गगाप्रसाद विमल ने एक ऐसी पत्नी का अकन किया है, जिसका पति एक "बकरी" से रति करता है या उसे इस तरह का भ्रम होता है। प्रत्येक पति किस तरह भीतर ही भीतर अपनी पत्नी से बचकर, या तो बाहर प्रेम प्रसग खोजता है या विकृति तक पहुँच कर 'पशु गति, करता है, यह एक आम प्रवृत्ति है। नतीजा यह निकला कि विवाह प्रथा घातक है। "रीछ" मे दूधनाथसिंह मन म छिपे हुए रीछ का कलात्मक वणन दते है। इस मन के रीछ से सभी पीडित है, लेकिन किसी मे भी साहस नही जो "भारतीय सस्कृति" के बधनो को तोडकर, स्वच्छन्द जीवन जिए, क्योकि सामाजिक सम्मान विवाहवादियो को ही प्राप्त है। सरकार ने नियम बनाया है कि तलाक सम्भव है लेकिन उसमे झझट भी तो बहुत है अत भीतर ही भीतर छटपटाहट रहती है।

'ऐयाश प्रेतो का विद्रोह" शीषक लेख म कमलेश्वर ने स्वच्छन्दतावादियो की अराजकता पर कशाघात किए है। सत्य पर भारतीय सस्कृति के बन्धनो का विरोध स्वागत योग्य होने पर भी, उस अराजकता तक नही पहुँचने देना चाहिए, यह भावना भी ठीक है। लेकिन कमलेश्वर ने "अराजक आधुनिको" के इस अधेपन को रेखाकित नही किया कि प्रेम सम्बन्धो की स्वच्छन्दता की माग अभी तक सतही स्तर पर ही हुई है। आधुनिक लेखक ने बधन से उत्पन्न घुटन की वणना तो खूब जमकर की है लेकिन यह बहुत कम सोचा गया है कि सम्बन्धो का अस्थायित्व परिस्थिति-सापेक्ष्य है वह 'शाश्वत सजा" नही है जो मनुष्य को प्रकृति या परमेश्वर से अनिवायत मिलती है। यह भी नही सोचा गया कि विवाह और स्वच्छन्द सम्बन्ध ये दोनो विकल्प अपनी-अपनी मुसीबतें उत्पन्न करते है। बर्टेण्ड रसल ने 'स्वच्छन्द प्रेम'

के विकल्प की असफलता की ओर ध्यान खीचा है। उधर साम्यवादी देशो मे भी विवाहविधि उतनी असफल नही हो सकी क्योकि वहा मुक्त प्रतियोगिता पर समाज संघटना नहा की गई। "सहयोग" के आधार पर वहा सामाजिक रचना को गई है। लेकिन इस "विकल्प की ओर नव्य कथाकार ने ध्यान ही नही दिया और अगर 'सहयोग' की स्थितियो का विश्लेषण कथासाहित्य म हो तो "भारतीय संस्कृति' के इस 'पुराने" सत्य को स्वीकार किया जा सकता है कि प्रेम मे भोग और 'त्याग' दोना की संगति हाती है। यानी प्रेम संबधो के भीतर मानव मूल्य रहते हैं, प्रेममात्र वासना नही है। प्रेम का सारा प्रपच, मनुष्य का खडा किया हुआ है, जिसम केवल ऐंद्रिय स्तरो की संतुष्टि ही नही, है, मनोवैज्ञानिक स्तरो की तृप्ति भी शामिल है।

अतएव ऐयाश प्रेतो" के विद्रोह म जो अतिवाद है वह बिला सोचे समझे विरोध की दिशा म बढते चलना या नजर का अधापन है। प्रेम की समस्या कितनी गभीर है, इसके लिए ज्या पारा सात्र का सक्स पर निबध पढना शिक्षाप्रद हो सकता है। प्रेमम, प्रेमी को अपने व्यक्तित्व के निरन्तर "परीक्षित" होने का सकट सताता रहता है। मैं देखा जा रहा हूँ (I am being looked at) यह प्रतीति प्रेमिका और प्रेमी को एक दूसरे के प्रति सावधान रखती है। अत प्रेम म भोग और प्रेम के स्तर के अतिरिक्त उनम एक 'आपसी-इम्तहान' भी चलता रहता है जो विग्रह का कारण बन जाता है। वासना का पजा ढीला होने ही अत म यह 'इम्तहान' ही बाकी रह जाता है। इस "परस्पर सूक्ष्म परीक्षण" से बचना नामुमकिन है- इसलिए 'स्वच्छद प्रेम" का समाधान कुछ राहत दे सकता है लेकिन उसम इतनी उलझन है कि फिर आदमी शाति के लिए व्याकुल होने लगता है और यह शाति तभी मिल सकती है जब प्रेमिया म एक दूसरे को सतुष्ट करने की स्पर्धा हो। इस प्रकार का प्रेम, उक्त "परीक्षण' को भी 'क्रीडा' मे बदल सकता है।

इस तरह भारतीय संस्कृति मे जो आरोपित निग्रह और दमन है उसका विरोध यदि भारतीय संस्कृति का ह्रास है तब अवश्य नवकथा-साहित्य म वह मिलता है। लेकिन यह भी तो सभव है कि पश्चिमी देशो, विशेषकर अमरीका की तरह ऊब कर पुन प्रेम को एक मानव-मूल्य मान लिया जाए और उस अराजकता से आदमी थक जाए जिसकी आज व्यर्थ बधना को तोडने के लिए एक सीमा तक आवश्यकता भी है। सहयोग के आधार पर नया समाज जब बनेगा, तब पुन भारतीय संस्कृति के पुराने प्रेम मूल्य रुचने लगेंगे। रूस म रामचरित मानस' म चित्रित प्रेम इसीलिए प्रिय लगता है।

रामचरित मानस के रूसी पाठक राम सीता के एक अखण्ड प्रेम को साम तो प्रेम नहा मानते। व उसे एक आदर्श के रूप म ग्रहण करते हैं और

ऐसा प्रेम राजाओ या शासको की ही बपौती नही है साधारण व्यक्ति भी, इससे प्रेरणा ले सकता है। लेकिन प्राचीन प्रेममूल्यो म, जो "सामती" तत्व हैं ("पति" शब्द स्वय सामती है, "पिता" शब्द भी, क्योंकि ये "पत्नी" को "रक्षिता" और पुत्रको 'पोषित' मानते है) उन्हे छोडा जा सकता है।

इसी तरह 'भारतीय सस्कृति म अन्य मानवीय सम्बधो की 'स्वीकृति' भी व्यक्तिवादी प्रतियोगी-आधुनिक समाज की "अस्वीकृति' मे बदल रही है। रमेश बक्षी की एक कहानी म पत्नी के छोड जाने पर नायक अपने अबोध शिशु को शराब पिलाता है। लेकिन यहाँ भी नए सबधों की तलाश है। नयी कहानियो म पिता माता, अध्यापक आदि गुरुजनो के प्रति विद्रोह मिलता है। यह भी स्वच्छ दता की प्यास है। भारतीय सस्कृति म ढले पिता माता, सतान को अपने अनुरूप ढालना चाहत हैं लेकिन 'नयी पीढी' भटकाव का खतरा उठाना चाहती है। वह किसी तरह का अकुश नही चाहती वह गुरुजनो से अधिक दोस्तो को मानती है। कविता और कहानी मे यह 'समान धर्मा मित्रवाद' कल्पित नही एक वास्तविकता है। नवशिक्षित विद्यार्थी अपने मित्रो की सहायता से जम सकता है, तरक्की कर सकता है अत माता पितादि "फालतू' लगने लगते है। घरो म सुविधाओ का अभाव होता है अत विद्रोह और बढता है। वृद्धो की अगर पूछ होती भी है तो तभी जब पेंशन वगैरह का लोभ हो या प्रभाव का या अन्य किसी प्रकार की सुविधा का। भीमसेन त्यागी की "पशन" कहानी इस प्रवृत्ति की ही परिचायक है।

मानवी रिश्तो की पुरानी धारणाएँ तो टूट ही रही है, अस्तित्व सबधी सवालो पर भी आधुनिक कथासाहित्य भिन्न रुख अपनाता है। भारतीय दर्शन और धर्म के सम्मुख अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्नो का कोई सकट नही है। यहाँ हिन्दू हो या बौद्ध या मुसलमान-अस्तित्व के ऊपर एक 'महाअस्तित्व' स्वीकृत है, जिसम लय होना ही मोक्ष है। लेकिन आधुनिक व्यक्ति इस महा अस्तित्व को कल्पना मानता है। उसके लिए 'ईश्वर मर गया है।' आस्था का तब आधार क्या होगा? इस प्रश्न के उत्तर की चिंता आधुनिक को नही है, क्योंकि "महाअस्तित्व के बिना भी 'अस्तित्ववाद जैसा तत्त्ववाद मिल सकता है और 'सीमाओ के क्षेत्र" (बार्डर सिचुएशन्स) म जाकर जीवन की असलियत जानी जा सकती है अथवा एक 'अनपहचानी स्थिति" मे भी रहा जा सकता हैं। रवीन्द्र कालिया की 'चक्र" कहानी इस स्थिति का उदाहरण है।

"उसे भी मालूम नही कि मन स्विच कहाँ है और उसका नम्बर क्या है और ग्लूकोज कहाँ रखा है, क्योंकि मेरी ही तरह न यह कमरा उसका है न

नौकर। न ड्रेसिंग टेबिल और न रेफ्रीजेटर। दरअसल इस घर का हमे बहुत कम ज्ञान है।"

यह अनिश्चय, चीजो और हालात की पहचान का अभाव, एक अज्ञात बेचनी, हम लूटे जाने को है कुछ इस तरह का भास, या मृत्यु आशका, विवशता, गतव्य का लोप और उलझन यह सब स्वीकृत भारतीय सस्कृति की दृष्टि स त्याज्य है क्योकि हमार दशन म आस्था है, विश्वास है, मजिल निश्चित है, आत्मा का स्वरूप निश्चित है तथा साधना का माग निश्चित है। नयी कथा म इस 'निश्चितता' क विरुद्ध विद्रोह है। यह "आरोपित निश्चय" प्रत्येक व्यक्ति को म।चन नही देता, व्यक्ति का भीड मे बदलने लगता है। "दरअस्ल, इस घर का हमे बहुत कम ज्ञान है', इस समसामयिक स्थिति मे आधुनिक विचारधाराओ क परस्पर विरोध पुरानी मा यताओ की सपाटता राजनीति की आपाधापी, हर बात पर सदह का प्रवत्ति आदि ने स्थितप्रज्ञ या निन्चयात्मक बुद्धि को एक भँवर म पटक दिया है, अत "किकतव्य विमूढता" ही नवीनतम प्रवृत्ति हो गई है, हम सवालो म जी रह है, उत्तरो मे पुराने लाग जीत थे। यह स्थिति है।

इस दृष्टि स जीवन को देखन पर वह विसगतियुक्त या हास्यास्पद लगता है अथवा वह एक उलटबासी सा प्रतीत होता है। काफ्का की कहानियो म जीवन की इन विसगतियो और विडम्बनाओ का क्रूर मजाक बनाया गया है। अवधनारायणसिह क 'अनिश्चय'' म उक्त निश्चयहीनता का ही एक रूप है।

प्राय कहानियो म इस तरह की स्थितियो क चित्रण से यह पता नही चलता कि ये हालात किसी परिस्थिति की गडबडी क कारण है अथवा यह मनुष्य जीवन की प्रकृति ही है। सत्य यह है कि आज का व्यक्ति इन सकटो को "देहधरे का दण्ड" भी मानता है और यह भी कि ये कही समाज रचना, शिक्षा वगरह की असगतियो से भी उत्पन्न होत है। परेश की "कुछ कहा था उसने' कहानी मे यह बात देखी जा सकती है। लेकिन सिद्धेश के अथहीन वह मैं तथा दूधनाथसिह की 'सपाट चेहरे वाला आदमी" की कई कहानियो मे, भारती की "गुल की बनो" और रागेयराघव की "मदल और "ऐयाश मुर्दे" एवन् कमलेश्वर, राकेश तथा राजेन्द्र यादव की अनेक कहानिया को पढकर लगता है कि सकट दाशनिक नही, परिस्थितिज य है।[1] और जिस

---

१ कमलेश्वर की ताजी कहानी 'जोखम' (कहानी, जून १९६६) तलस्पर्शी और कलात्मक यथाथवाद का एक अच्छा उदाहरण है।

सीमा तक संकट, बाहर के हालात की बेवकूफियों में है, उस सीमा तक आदमी उसे दूर कर सकता है। शायद उसे दूर करने के लिए ही वह अपने माध्यम से सबके अनिश्चय, संकट और त्रास का वर्णन कर रहा है।

भारतीय भाषाओं के नव लेखन में जिस दुःख का वर्णन है, वह सामंती व्यवस्था से आधुनिक औद्योगिक तकनीकी व्यवस्था की ओर बढ़ने के कारण उत्पन्न हुआ है। नवीन परिवेश के प्रति, मानव चेतना के अनुकूलीकरण के प्रयत्नों में, कहानीकारों का योगदान कम नहीं है। उधर इस औद्योगिक सभ्यता के कारण भी संकट उत्पन्न हुआ है, एवं पूर्ण प्राचीन मूल्यव्यवस्था नष्ट हो रही है—प्राचीन संस्कृतियाँ के विखंड हो रहे हैं। स्थिरता, पिछड़ी तकनीक, स्थायी मानव मूल्य और भावपरक कला के आधार पर निर्मित भारतीय संस्कृति में प्रचलित आचार-विचार, रीति रिवाज और मर्यादाएँ ध्वस्त हो रही हैं लेकिन मेरी दृष्टि, में भारतीय संस्कृति का 'मूल तत्व" धोती कुर्ता नहीं है, न यज्ञ और सत्यनारायण की कथा है, न भजन पूजन है न देवता और पूर्वजों की पूजा है, न नुमाज आरती उसका असली रूप है, सांख्य, वेदान्त, वगैरह भी विचारों के सोपान मात्र हैं, उसका असली तत्व निम्न से ऊर्ध्वगति, अंधकार से प्रकाश की ओर गति की प्रेरणा है। श्रेय और प्रेय "दोनों" का अभ्युदय और समन्वय है। वन्य और पलायन भारतीय संस्कृति नहीं है, न रूढ़ियों का नाम भारतीय संस्कृति है—राजा, पुरोहित, स्वामी-सेवक के स्थायी रिश्तों का नाम भी 'भारतीय संस्कृति' नहीं है। चावल, गोश्त, मसाला डोसा, इडली और आचार को भारतीय संस्कृति नहीं कह सकते। हमारे पास जो कुछ श्रेष्ठ है और वरण्य है, सिर्फ वही "भारतीय संस्कृति" है, जो काल के आगे दर्प के साथ खड़ा होकर कह सके कि मैं अमर हूँ। जो परिवर्तनशील है, वह ऊपरी है। स्थायी तत्व, सृजन चेतना है जो वेदों, पुराणों, तन्त्रों, कलाकृतियों, पुस्तकों आदि में है, लेकिन प्रत्येक "सजन" को किस तरह ग्रहण करे यह "द्रष्टा" पर निर्भर करता है। मानवचेतना, उच्च संघर्ष करने के लिए सर्वदा भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों की ओर उन्मुख होती रहेगी। 'भारतीय संस्कृति" की 'ऊँचाई" और "गहराई" उसकी इस मूल प्रवृत्ति में है कि प्रतीतिमात्र ही सब कुछ नहीं है, उसके भीतर जो तत्व छिपा है, उसे खोजो। विज्ञान में भी प्रतीति और सत्य का यही स्वरूप मिलता है ऊपर से ठोस लगने वाले पदार्थ के भीतर परमाणु प्रवाह" रहता है। अपने (मानवीय रूप) में भारतीय संस्कृति वस्तुतः "मुक्ति" या स्वच्छन्दता की ही धारणा है—अतः यदि आधुनिक कथा साहित्य में मध्यकालीन या प्राचीन

ब"धनो और घेरो के विरुद्ध सघष है तो उसे "अभारतीय" नही कहा जा सकता। "अभारतीय" उसे तभी कहा जाएगा, जब प्रकाश की शोध ब"द होने लगेगी, सास्कृतिक दीपशिखा बुझने लगेगी, मनुष्य प्रतीतियो म ही उलझकर रहने लग जाएगा अथवा वह प्रकृति और समाज को मानव के हितो के अनु-कूल बनाने का प्रयत्न बन्द कर देगा। किन्तु हमारे कथाकारो म तो अद्भुत सजीवता है, उखाडने की शक्ति वाला ही जमा सकता है। एक सवथा नवीन सामाजिक प्रयोग की कामना "अभारतीय" नही हो सकती, इस प्रकार असली भारतीय सस्कृति मनुष्य की स्वच्छ"दता की साधना म है। यह आजादी समाज व्यक्ति आदि प्रत्येक स्तर पर होगी और स्तर और व्यक्ति एक नही, अनेक है, वहा स्वच्छन्दता म अराजकता न होकर, दूसरो की स्वच्छन्दताओ का आदर भी उस धारणा मे स्वीकृत होगा। अत दूरगामी दृष्टि स तो 'सतयुग' की अवतारणा के लिए ही यह विराट प्रयत्न हो रहा है लेकिन सत्य का माग सीधा नही होता। उसम बडे भटकाव होत हैं और ये भटकाव भी आदमी को प्रामाणिक अनुभव ही देते हैं। कोरे उपदेशो और रूढियो के पालन से सत्य की खोज असम्भव है अत "नचिकेता' और "वाजिद अली शाह" दोनो मानवात्मा की पहुँचो या 'प्राप्तियो" म ही आलम्ब ह। स्वय कृष्ण जस योगिराज" भारतीय सस्कृति के सर्वोच्च प्रतीक हैं जो भौतिक और उच्चतर मानसिक जीवन मे एकसूत्रता स्थापित करने और अखण्ड कमयोग का उपदेश देते हैं। परम स्वत"त्रसिद्धा (बीट्स हिप्पी तथा अवागाद साहित्यिक, इ ही के आधुनिक सस्करण है) की साम्य मूलक और सहज जीवन पद्धति भी भारतीय सस्कृति का ही अग है। भेदभाव तथा रूढि जब जब प्रबल होती है, तब तब यहा क्रान्ति द्रष्टा उत्पन्न होते रहे है, 'आधुनिक नव लेखक" इसी क्रा तिकारिणी भारतीय परम्परा के ही अग हैं। उनका "निर्वासन" या "आत्मनिर्वासन" उसी रूढिविरोधी "सतत क्रान्ति चेतना" का अश है, जो सवदा अ याय पर आधारित स्थापित व्यवस्था की शत्रु होती है। अतएव भारतीय मन और समाज के "कायाकल्प" के लिए मैं नव कथाकारो का प्रयत्न अभिन"दनीय मानता हूँ। सस्कृति की खोल को उतार कर उसके भीतर के "अमृत" के अनुसधान के लिए यह आवश्यक है कि 'भारतीय सस्कृति" के नाम पर साम ती मूल्यो, अ"धविश्वासो, मानव विरोधी रीतियो आदि का डट कर विरोध हो तभी सवथा नवीन समाज व्यवस्था मे नूतन और प्राचीन का विरोध शान्त हो सकेगा, अ य कोई पथ नहीं है ना"य प"थ विद्यते।

सामयिक सकट और विद्रोह साहस

साहित्य, सस्कृति और समाज म पिछले डेढ दो दशको मे बाहरी और भीतरी टकराहटो के विभिन रूप सामने आये है। हम इस अथ म अपने को भाग्यशाली कह सकते है कि हम बडी दिलचस्प शताब्दी म जी रह हैं। विनान की अद्भुत उन्नति इसी अवधि म क्षितिज छू पाई है, इसी अवधि म अनको देश सुप्तमहाद्वीपा म आजाद हुए है । निर्माण और सकट क तरह तरह के परिणाम सामने आए है। इसी अवधि म जहाँ शप ससार ने 'आइडियालाजी' के कारण उत्प न अ तर्विरोधो से हम परिचित हुए हैं, वही चीन और उसके समथक तत्वा म आइडियालाजी' के आधार पर ही अफीम के 'नसनाशक' नशे की जगह एक अभूतपूव सकल्पशक्ति का उदय हुआ है और विकल्पपीडित' जनतन्त्रो और समाजवादी दगो क बौद्धिका के लिए अब यह एक नयी चुनौती बन गया है—क्या विकल्प से सकल्प को पराजित या अनुशासित किया जा सकता है ? क्या चीनी वियतनामी हवा को एशिया के अवरुद्ध भ्रस्त और वग कोटरा मे सुरक्षित समाज रोक सकगे ?

और उधर एशिया—अफीका क दशो मे बढता अमरीकी प्रभाव 'धार णावाद' का विरोधी है। विश्वविद्यालया म मानव विनानो मे अमरीकी अनुकरण, अपरिवत्त नकामी चिंतन और सत्य का बिना किसी परिप्रेक्ष्य के टुकडो म बाँटकर किया जानेवाला अध्ययन इस अनुकरण की विशेषता है। क्राति नही, 'एडजस्टमेंड ही इस प्रवति का रहस्य है। आजादी' शब्द क अथ म, इसका ध्यान केवल थोथी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर ही है, यह ऐस समाज की कल्पना है जिसके पर और पट भूखे और भूखे हो लेकिन जिस पर चहरा अमरीकी हो और तेवर—तेवरो की क्या जरूरत है, तेवर तो प्रतिबद्धता' स उत्पन्न होते है।

और ऊपर से विश्व विनाश का भय—सस्कृतिवत्ता टायन्बी चीख रहा है कि रूस और अमरीका यदि एक नही होते तो चीन विश्वयुद्ध करा देगा और तब यह नक्षत्र जो हमारी कविता और चिंतन का आश्रम रहा है हमार

प्रेम और पराक्रम का अखाडा—वह कुछ मदाधा की मृत्यु-कामना या विकृति से, उबलते तेजाब, गस और आग की लपटा का मेहमान बन जाएगा !

इस पहली-जसी स्थिति म बौद्धिक उलझन मे है, और स्रष्टा इस उलझन भरी नजर से परिचित है। उसने इसीलिए अपन को 'बेगाना' और 'शहर-बदर' घोषित कर दिया है। भीतर रहना असगत लगता है—बाहर रहना व्यर्थ' लगता है, लेकिन स्वीकार किसे कर—नकावा के पीछे क्या है, यह तो नकाबपोश स्वय नही जानते। क्याकि ज म लेन क साथ ही नयी खाल की जगह समाज नयी नकाब उगाता है। इसे उतारना सम्भव ही नही लगता इसलिए एकदम सबको 'नामजूर' करो। अस्वीकारो और अपने मे जियो आउट सायडस !!

साहित्य के अग्रिम दस्त म इसीलिए अ धता तथा अ धेरे का चित्रण अधिक हुआ है। प्रत्यक आत्महत्या अ धकार से ही शुरू होती है, स देह से ही ढलान पर लुढकना साथक लगता है। अत आतरिक असगतियो की खोज, सामयिक साहित्य की विशषता रही है और दूसरी दृष्टि से यह 'आत्म अनुसधान' भी कहला सकता है। हर एक बड़े काम के पूव आदमी अपन को तौलता है, जब रेखायें समाना तर न हा, एक दूसरे को काट रही हो सब कुछ अस्पष्ट-अपरिभाषित और अपरिचित होता जा रहा हो सामने बठे व्यक्ति, सामने के पदाथ और घटनाय विशृ खल और बेमानी लगने लग, तब इस स्थिति म बहुत समय तक (डेढ़ दशक !) रह लेने पर कौन निणय कर कसे करे, किस आधार पर करे ?

उधर सतही स्तर पर जीनेवाला सादा आदमी आज भी सघष करता है। वह घर मे, गाँव गली म लडता है, सरकार से लडता है देश के दुश्मन से लडता है—उत्सवो म मस्त होता है, प्यार करता है, खाता-पीता है, स्वप्न देखता है और सपनो के लिए ही खटता हुआ मरता है। मरने के बाद भी औसत आदमी की खुली आँखो म सपने होते है, कोई भी यह शव औसत आदमी के पास जाकर उसकी मरणोत्तर आँखो म देख सकता है !

तसवीर का दूसरा पहलू भी है, जो अब उपेक्षा का विषय बनता जा रहा है। यह पहलू उस प्रतिबद्ध आदमी का है जो 'ऐब्सड सम्प्रदाय' के सनकियो को पुराने वराग्यवादियो की औलाद कहता है जो *की भावनाओ का अपमान करते थे और साथ ही उसी मनुष्य का* घात थे। यह आदमी कहता है कि जीवन का चाहे अपन म कोई

सामयिक सकट
और विद्रोह साहस

साहित्य सस्कृति और समाज म पिछले डेढ दो दशको म बाहरी और भीतरी टकराहटो के विभिन्न रूप सामने आये है। हम इस अथ म अपने को भाग्यशाली कह सकते है कि हम बडी दिलचस्प शताब्दी म जी रह है। विज्ञान की अद्भुत उन्नति इसी अवधि म क्षितिज छू पाई है, इसी अवधि म अनेको देश सुप्तमहाद्वीपो म आजाद हुए है। निर्माण और सकट के तरह तरह के परिणाम सामने आए है। इसी अवधि म जहाँ सब ससार म 'आइडियालाजी' क कारण उत्पन्न अतर्विरोधो स हम परिचित हुए है, वही चीन और उसके समथक तत्वो म आइडियालाजी' के आधार पर ही अफीम के 'नमनाशक' नश की जगह एक अभूतपूव सकल्पशक्ति का उदय हुआ है और विकल्पपीडित' जनतत्रो और समाजवादी देशो क बौद्धिको के लिए अब यह एक नयी चुनौती बन गया है—क्या विकल्प स सकल्प को पराजित या अनुशासित किया जा सकता है ? क्या चीनी विषतनामी हवा को एशिया क अवरुद्ध त्रस्त और यग कोटरो म सुरक्षित समाज रोक सकग ?

और उधर एशिया—अफ्रीका क देशो मे बढता अमरीकी प्रभाव, 'धारणावाद' का विरोधी है। विश्वविद्यालयो न, मानव विज्ञानो म अमरीकी अनुकरण, अपरिवत्तनकामी चितन और सत्य को बिना किसी परिप्रक्ष्य क टुकडों म बाँटकर किया जानवाला अध्ययन इस अनुकरण की विशषता है। क्रांति नही, 'एडजस्टमट' ही इस प्रवृत्ति का रहस्य है। आजादी' शब्द क अथ म, इसका ध्यान कवल थोथी व्यक्तिगत स्वतत्रता पर ही है, यह एस समाज की कल्पना ह जिसक पर और पट भूख और भूखे हो लकिन जिस पर चहरा अमरीकी हो और तवर—तवरों की क्या जरूरत है तवर तो प्रतिबद्धता स उत्पन्न होत है !

और ऊपर स विश्व विनाश का भय—मनुष्यविवेक टायन्बी सोच रहा है कि रूस और अमरीका यदि एक नहा हात तो चीन विश्वयुद्ध करा दगा और वह यद्ध न हो तो हमारी कविता और चितन का आधार रहा है हमारे

प्रेम और पराश्रम का अखाडा—यह कुछ मदान्धा की मृत्यु-कामना या विकृति से, उवस्त वेजाव, गस और आग की लपटा का मेहमान वन जाएगा !

इस पहली जसा स्थिति म बौद्धिक उलझन मे है, और स्रष्टा इस उलझन भरी नजर से परिचित है। उसन इसीलिए अपन को 'वेगाना' और 'दाहर-वदर' घोषित कर दिया है। भीतर रहना असगत लगता है—बाहर रहना 'व्यथ लगता है, लेकिन स्वीकार किसे कर—नकाबा के पीछे क्या है, यह तो नकाबपोश स्वय नही जानते। क्योकि ज म लेन क साथ ही नयी खाल की जगह समाज नयी नकाव उगाता है। इस उतारना सम्भव ही नही लगता इसलिए एकदम सबको 'नामजूर' करो। अस्वीकारो और अपन म जियो आउट सायडस !!

साहित्य के अग्रिम दस्त म इसीलिए अ धता तथा अ धेरे का चित्रण अधिक हुआ है। प्रत्येक आत्महत्या अ धकार स ही गुरू होती है, स देह से ही ढलान पर लुढ़कना साथक लगता है। अत आतरिक असगतियो की खोज, सामयिक साहित्य की विशेषता रही है और दूसरी दृष्टि से यह 'आत्म-अनुसधान' भी कहला सकता है। हर एक बडे काम के पूव आदमी अपन को तोलता है, जब रेखायें समाना तर न हा, एक दूसरे को काट रही हा सब कुछ अस्पष्ट-अपरिभाषित और अपरिचित होता जा रहा हो सामन बठे व्यक्ति, सामने के पदाथ और घटनाय विशृ खल और बेमानी लगने लग, तब इस स्थिति मे बहुत समय तक (डेढ दशक !) रह लेने पर कौन निणय करे कसे कर, किस आधार पर करे ?

उधर सतही स्तर पर जीनवाला सादा आदमी आज भी सघष करता है। वह घर म गाँव गली मे लडता है, सरकार से लडता है देश के दुश्मन स लडता है—उत्सवो म मस्त होता है, प्यार करता है, खाता-पीता है, स्वप्न देखता है और सपनो के लिए ही खटता हुआ मरता है। मरन के बाद भी औसत आदमी की खुली आँखो म सपने होते हैं, कोई भी यह सब औसत आदमी के पास जाकर उसकी मरणोत्तर आखा मे देख सकता है !

तसवीर का दूसरा पहलू भी है, जो अब उपेक्षा का विषय बनता जा रहा है। यह पहलू उस प्रतिवद्ध आदमी का है, जो 'ऐब्सड सम्प्रदाय' के सनकियो को पुरान वराग्यवादियो की औलाद कहता है जो मनुष्य की भावनाओ का अपमान करत थे और साथ ही उसी मनुष्य का दिया खात थ। यह आदमी कहता है कि जीवन का चाहे अपन म कोई अथ

न हो, किन्तु जीने की निलज्ज इच्छा जीवन का सार्थक बनाने के लिए हम अभिशप्त कर चुकी है। यह आदमी जीवन को इकहरा नहीं मानता, सकुल मानता है—एक लहर को सागर मत समझो सागर लहरों का सघात है द्वन्द्वा का अनवरत उत्ताव। अत प्रतिकूल व विरुद्ध पराक्रम ही जीवन है। वेगाना बन कर तमाशा देखना भी तभी सम्भव है जब अधिकतर व्यक्ति तमाशा कर रहे हो और उस तमाशे को वास्तविक समझते हो।

इसलिए यह व्यक्ति 'विकल्पबोध' व 'कामना' सकल्प का आत्मपरीक्षण का विषय बनाता है। वह जानता है यह सामयिक सकट कोई पहला सकट नहीं है। सामयिक सकट की विशेषता यह है कि यह सभावनापूर्ण है। यह खोखला सकट नहीं है। हमारी आज की असगतियाँ बाँझ नहीं हैं इसलिए विश्व विनाश से बचने के लिये कुछ बगैर भी अपना से सहमत है। सहमति के ये स्तर एक नहीं है अनेक है 'स्वीकृति' का यह रूप अस्वीकृतिवादी भुला देना चाहते हैं। 'आधुनिकता' इन सहमतियों के स्तरों को स्वीकारने में भी है। 'अस्तित्व' का अर्थ केवल होना नहीं है विकसित होते रहना भी है।

सारी सास्कृतिक विशिष्टता उस आधुनिकता से टकराती है, जिसमें देश काल रहित धारणामात्र का चित्रण होता है जो हर देश में एक सा ही होता है। इसके विरुद्ध 'वास्तविक आदमी' किसी देश और काल का हाड़ मास का और चेतनायुक्त व्यक्ति होता है—उसे अपने सकट को रिलम्बित कर देखना समझना पड़ता है, सामूहिक स्वर मे स्वर मिलाकर गाना पड़ता है उसका दिल बनकर धड़कना पड़ता है। अपने पक्षपातो अपनी पूर्व कल्पनाओं को विसर्जित करना पड़ता है। असली आदमी को उसके वक्त में होने वाली प्रक्रियाओं में समझना पड़ता है। प्रक्रिया से खीचकर व्यक्ति की नियतिमात्र का चित्रण गलत है, अनाधुनिक है और विशिष्टता और आधुनिकता की इस टकराहट और समीकरण में हम विशिष्टता का स्वरूप और महत्व इसलिये नहीं समझ पाते, क्योंकि हम वेगानेपन को एक पूर्वाग्रह या केवल "मूड" के रूप में लेते है। इस धारणा से चित्त रग जाता है, जो यह भ्रम उत्पन्न करता है कि हम केवल आत्म विश्लेषण कर सकते है दूसरो को न समझ सकते है न दूसरो की भावनाओं-आकाक्षाओं के गुण और परिमाण का अन्दाज लगा सकते है। 'भ्रमभग' हुए है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु कौन से नये भ्रम उत्पन्न हुए है, इस ओर ध्यान नहीं जाता। इस स्थिति मे स्वय 'भ्रमभग' की स्थिति एक भ्रम बन जाती है।

अनुभव से यह भी सिद्ध नहीं होता कि जो व्यक्ति और समूह मोहो में पल रहे है उनसे भ्रममुक्त व्यक्ति या समूह श्रेष्ठ है, अथवा यह कि पश्चिमी

सभ्यताएं नष्ट भी हो सकती हैं, किन्तु जीवन का नाश नहीं हो सकता। और महाप्रलय भी हो जाय, तो भी पुनः सृष्टि होगी। इस 'निरन्तरता-बोध' के बल पर ही यहाँ संकटों का सामना किया गया है। बोध अस्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि बोध प्रक्रिया में अस्तित्व ही बोलता है। अतः जब चिन्तन अस्तित्व विरोधी होता है तब अधिक स्वस्थ चिन्तन की माँग होती है। और यही 'आइडियालाजी' के विकास का क्रम है। किन्तु शासक वर्ग "अपनी" आइडियालॉजी द्वारा स्वार्थों को छिपाते हैं।

कामू ने द रिबेल में इस संकट का तलस्पर्शी वर्णन किया है। 'क्रांति' (Revolution) सदा सरकार बनाती है, यथा १७८९ की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति अथवा १९१७ की बोल्शेविक राज्यक्रान्ति। प्रथम ने 'पूँजीवादी जनतंत्र' की सृष्टि की दूसरी ने कम्यूनिस्ट तानाशाही कायम की। किन्तु 'विद्रोह' एक सतत प्रक्रिया है, वह अन्तर्विरोधों का शत्रु होता है और व्यवस्था अपने गर्भ में अन्तर्विरोधों को रखती ही है। अतः कामू के अनुसार लेखक या क्रांतिकारी नहीं 'विद्रोही' बनना चाहिए। क्योंकि सरकार बनते ही क्रांतिकारी लेखक सरकार का प्रचारक बन जायगा और जो लेखक ऐसा नहीं करता, वह सताया जाता है। फिर विद्रोह होता है।

विद्रोह को इतने गम्भीर रूप में, एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप में हिन्दी के आधुनिक साहित्य में नहीं लिया गया, क्योंकि बौद्धिकता के नारे बुलन्द होने पर भी हिन्दी में बौद्धिकता अभी प्रारम्भ की स्थिति में ही है। फिर भी 'क्रांति-कारी प्रगतिवाद' और 'एडजस्टमेंटवादी' जनत प्रवाद-दान' के विरुद्ध 'विद्रोह' के स्वर अत्याधुनिक साहित्य में रूपायित हुए हैं। आज का साहित्य किसी भी विचार व्यवस्था में बँधना नहीं चाहता। यहाँ तक कि फ्रेमवर्क' के रूप में भी वह किसी विचार-व्यवस्था को नहीं स्वीकारना चाहता। उसमें परिवर्तन की तीव्र पुकार है और जड़ता का तो वह शत्रु ही है। यह शुभ है किन्तु विद्रोह में जिस संयम' पर कामू बल देता है, उस पर ध्यान नहीं दिया गया। और हमारा विद्रोह भावुकता में उसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है, जिस प्रकार 'क्रांतिवादी' साहित्य भावुकता से प्रारम्भ में नहीं बच पाया था।

इसके सिवा 'विद्रोह' समझौता स्वीकार नहीं करता। 'ब्रुटस यदि रोमन जनतंत्र के शत्रुओं को नहीं मारता तो वह अपने को मारता'—विद्रोह का यह अवश्यम्भावी परिणाम होता है। पूर्ण अस्वीकृति की स्थिति में या तो शत्रु का वध हो अथवा आत्मवध— अन्य कोई उपाय नहीं है। तभी आत्महत्या का प्रश्न आता है, जिसकी गूँज कहानीकारों और कवियों में सुनाई पड़ती है। किन्तु

हिन्दी के 'विद्रोही' साहित्य म विद्रोह इकहरा है, सवरतरीय नही है, वह 'यशलिप्सा स बुरी तरह पीडित है। जीवन के सक्रिय क्षेत्र म वह विद्रोह सक्रियता मे परिणत नही हो पाता और न वह लेखक मे 'आत्महत्या' का साहस ही भर सका है। फलत यदि जातिवादी साहित्य सकीणता से पीडित हुआ, तो 'विद्रोही साहित्य' समझौते स ग्रस्त हुआ है। स्वभावत स्थितिशील या रूढिवादी तबके विद्रोहियो को निय त्रन के लिये प्रस्तुत रहते है और प्राय सफल होते है।

'विद्रोह' मे श्रम विभाजन नही चल सकता कि हम केवल 'लेखन' मे विद्रोह करेगे 'साधारण लोग' जीवन मे विद्रोह करे। साधारण लोगो मे 'मूडस' के अनुकरण की प्रवत्ति उतनी नही होती, जितनी कम के अनुकरण की। विद्रोह' यदि कोरे निषेध पर आधारित होता है तो निषध सवदा 'हत्या' म परिणत होगा। हिन्दी का निषधवाद' तो मौखिक और 'फशनपरक' अधिक है। यहा एक भी ग्रुप' ऐसा नही है जो वस्तुत तेजस्वी हो अत विद्रोह प्रियता और अप्रियता तक ही रह जाता है। यह आकस्मिक नही है कि हिन्दी के विद्रोही साहित्यकारो म सर्वाधिक कमनीय और वल्ड्रड' लोग है, फलत उनका काव्य बनावटी हो जाता है। भीतरी ताप क अभाव म साहित्य कागज का फूल बनता है। नये दीपको की तो बाढ आ जाती है कि तु केवल 'सहना' और 'सहने की स्थिति का भोग धुआ और कुहरे की सृष्टि करता है, अग्नि की नही। यह स्मरणीय है कि कामू कही नही कहता कि विद्रोह एक 'धारणा' नही है मात्र अनुभव है। वस्तुत अनुभव और धारणा का अलग करना सरल नही है।

यदि विद्रोह दशन' पर विचार किया जाये तो जिस तरह कामू ने उसे 'क्राति' से अलग किया है, वह सम्भव नही लगता। विद्रोह और क्राति की समस्या वस्तुत व्यक्ति और समूह की समस्या है। अराजकतावाद क्यो असफल हुआ? इसलिये कि व्यवस्था के बिना समूह नही चल सकता। इसी तरह मान' विचारो की व्यवस्था के बिना विकसित नही हो सकता। अत विद्रोह दशन का वास्तविक रूप क्राति का विरोधी नही होता। क्योकि क्राति जब व्यवस्था म परिणत होगी तब विद्रोह 'कन्विटव' रूप मे सक्रिय रह सकता है और यदि कोई क्राति विद्रोह के दमन का माग अपनाती है, तो उसी क्षण से वह आततायी बन जाती है। एकदलीय शासनो की असफलताओ का एक कारण उनकी 'स्थितिशीलता है, वास्तविक अनुभव या यथाथ की उपेक्षा है— 'विद्रोहियो की यह बात सही है। किन्तु विद्रोह और क्राति दोनो मानव-

स्वभाव' की कमजोरियां को यदि पटयत्र समझ बैठे, तो कहना होगा कि विद्रोह में संयम और धैर्य का अभाव है, यानी विद्रोह बोध ही एकांगी है।

'साम्यवाद' ही एक ऐसी विचार व्यवस्था है, जिसने इस "मानव स्वभाव" में व्यापक परिवर्तन के लिये व्यक्ति और समूह के सभी 'द्वन्द्वों' की समाप्ति के लिये व्यापक कार्य किये है। इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि किसी विशाल जनान्दोलन की प्रक्रिया में ही मानव-स्वभाव में गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है। साम्यवादी आन्दोलन इसका एक उदाहरण है। साम्यवाद की उपलब्धियाँ उसकी कमियों की तरह 'असाधारण' हैं, अभूतपूर्व है। दिशा सही है, अवरोध और संकटों के विरुद्ध संघर्ष आवश्यक है, किन्तु इसके लिये केवल कमियों को देखकर, दूसरे ध्रुव पर जाकर, पूर्णनिषेध की पुकार, विद्रोह में संयम के अभाव की द्योतक है। इस देश को यह सुविधा है कि अन्य देशों के 'प्रयोग' इसके सम्मुख है, अतः दूसरे देशों की भूलों से, 'आत्महत्या और सामूहिक हत्या' के मार्ग से बचकर, वैयक्तिक और सामूहिक प्रयत्नों द्वारा 'समाजवादी जनतन्त्र' को सफल बनाने की सम्भावनायें सम्मुख हैं। यह भी पूर्णनिषेधवादी दृष्टि से एक भ्रम है, किन्तु जैसा कि कहा गया है कि सभी 'भ्रम' त्याज्य नहीं हो सकते। अतः भ्रमों मे भी 'वरण' करना पड़ता है। आत्यंतिक दृष्टि से तो स्वयं जीवन भी एक भ्रम ही है, निरर्थक भ्रम, किन्तु इस दृष्टि से तो सिवा 'आत्महत्या' या संन्यास के अन्य कोई रास्ता नहीं रहता। और यह आत्यंतिक दृष्टि 'सार्वजनिक' नहीं हो सकती, सार्वभौमिक नहीं हो सकती, अतः विद्रोह भी दो प्रकार के हो सकते हैं। वास्तविक विद्रोह—जिसमें जीवन और समाज की असंगतियों के विरुद्ध संघर्ष एक अनवरत प्रक्रिया के रूप में स्वीकृत होता है और प्रयोजन होता है, 'पूर्णता'। और व्यक्तिगत या व्यक्तिवादी विद्रोह मे 'सनक' ही प्रक्रिया होती है, और सनक' ही प्रयोजन होता है। सामयिक साहित्य और संस्कृति में इसी 'सनकी विद्रोह' की मात्रा बढ़ रही है मूल्यों की संक्रांति का कारण एक यह भी है। विधि' के बिना 'निषेध' की धारणा परस्पर विरोधी कथन है। प्रयोजन के बिना परिवर्तन की मांग अराजकतावाद है, अतः सामयिक साहित्य में 'बौद्धिकता' का स्वरूप 'पराये बोधों से पीड़ित है। बिना स्वबोध' के स्वदेश' में क्रांति और विद्रोह केवल समझौते में ही परिणत होंगे, स्वबोध साहस—कामू के शब्दों में संयम (Restraint)—की अनुभूति ही वास्तविक आत्मबोध या आधुनिक बोध है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज

हिन्दी की अपेक्षाकृत कम प्रचलित विधाओ मे संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा साहित्य, आदि को अधिक महत्व प्राप्त नही हो सका। वस्तुत प्राचीन साहित्य मे काव्य को जिस प्रकार सर्वाधिक महत्व प्राप्त था, और उसी को लेकर सिद्धान्तो का जिस प्रकार निर्माण हुआ, उसी प्रकार हिन्दी ही नही अन्य भारतीय भाषाओ मे भी काव्य और तत्पश्चात् कथा को ही अधिक जनप्रियता प्राप्त हुई। आज भी यही स्थिति है। हिन्दी की सिद्धांत-वादिता अधिकांशत 'काव्य को आधार बनाकर प्रस्तुत होती रही है अथवा इधर कथा उपन्यास की चर्चा अधिक हो रही है। गोष्ठियां, परिसंवादो और विशिष्ट व्याख्यानो मे भी काव्य और कथा का ही ऊहापोह अधिक होता है, स्वभावत अन्य विधाओ के लेखक उपेक्षित अनुभव करते हैं और इन विधाओ को साधारण प्रतिभाएँ ही प्राप्त हो पाती है। कभी कभी अन्य विधा विशेषज्ञ इन अप्रचलित विधाओ मे भी कुछ लिख देते है किन्तु हिन्दी मे इन विधाओ मे अभी तक गम्भीर प्रयत्न नही हुए है। आलोचना की एक भी अच्छी कृति इन विधाओ पर अभी तक प्रस्तुत नही हो सकी है, फलत यदि इन विधाओ के लेखक यह कहते है कि हिन्दी मे कवि, कथाकार और आलोचक अन्य विधाओ का विकास नही देखना चाहते तो इस आरोप मे सत्य का अंश अवश्य है।

एक दृष्टि से किसी साहित्य की समृद्धि और व्यापकता का पता इस तथ्य से चलता है कि उसमे कितनी विधाओ मे उच्चतम कोटि का साहित्य विद्यमान है और यह भी कि उसके साहित्यशास्त्र या सैद्धान्तिक आलोचना मे व्याप्ति कहा तक है ? हिन्दी का रस सिद्धान्त पण्डितो के द्वारा अभी तक इतना व्यापक नही बन पाया है कि उसके द्वारा इन कम प्रचलित विधाओ का परीक्षण हो सके। अत अप्रचलित विधाएँ हमारे सम्मुख इस प्रकार की कुछ चुनौतियाँ प्रस्तुत करती है। सिद्धान्त शास्त्र केवल सारतत्व (Essence) पर ही आधारित होकर नही चल सकता क्योकि वह दर्शन की तरह केवल 'मूलतत्व' पर विचार का अभ्यस्त होने के कारण सन्दर्भहीन और सतही बन जाता है।

सारतत्ववादी दृष्टि से साहित्यमात्र की विशिष्टता, विचार भाव और संवेदनाओं की कलात्मक अभिव्यंजना है। स्पष्टत इस महाव्याप्ति म रेखाचित्र रिपोर्ताज भी आ जाते हैं किन्तु इससे साहित्येतर और साहित्य का भेद प्रस्तुत हो जाने पर भी कुछ स्पष्ट नहीं होता। वस्तुत प्रत्येक विधा अपने मूल म एक जीवन दृष्टि—एक परिप्रेक्ष्य छिपाए रहती है। वास्तविकता के 'चित्रण' म परिपेक्ष्य से चित्रण विलक्षता आती है, अतएव का य, कथा, नाटक स रेखाचित्र रिपोर्ताज-सस्मरण आदि म जो चित्रण-वविध्य है, उसका कारण लेखक का परिपेक्ष्य परिवतन है। स्वय रखाचित्र और रिपोर्ताज आदि के मध्य इस परिपेक्ष्य-अनुवेध को देखा जा सकता है और कवल इसी आधार पर इनकी विशिष्टताओं और भेदों को समझा जा सकता है। काव्य रूप की समस्या मात्र बाह्य विभाजन नहीं है, अपितु विधास्थित दृष्टि या परिपक्ष्य का अनुसन्धान है।

कम प्रचलित विधाओं और काव्य-कथा नाटक म मुख्य अ तर यह है कि उपन्यास, काव्य आदि की तुलना म रेखाचित्रादि वस्तु-सम्पूर्णतावादी दृष्टि लेकर नहीं चलते। महाकाव्य और महानाटक तथा उपन्यासों म वास्तविकता को उसकी पूर्णता म बिम्बित चित्रित किया जाता है जबकि रेखाचित्रादि म एक स्थान पर स्थित होकर (Positinal) वस्तु या व्यक्ति को देखा जाता है। रखाचित्रादि व्यक्तिगत, तथा समष्टिगत जीवन की सभी धाराओं, सभी कालक्रमों और सभी प्रश्नों समाधानों एवम् प्रवृत्ति को नहीं दख सकते। सत्य और तथ्य की सागोपागता (Totality) इन विधाओं म नहीं मिलती। कम से कम हिन्दी की अपेक्षाकृता अप्रचलित विधाओं के विषय म यह कथन सही लगता है।

दृष्टि के अतिरिक्त दृष्टिप्रेरक तत्वों—मनोवेगों, उद्देश्यों और भावावेगों (Impulses) की मात्रा, विस्तार और गम्भीरता की दृष्टि से भी अप्रचलितविधाओं और काव्य कथादि में अन्तर उपस्थित हो जाता है। रेखाचित्रादि मे लेखक की सम्पूर्ण चेतना (Total Consciusness) समाविष्ट नहीं हो पाती, शायद इसीलिए इन्हे साहित्यकार उतना महत्व नहीं देना चाहते। परन्तु इसीलिए इनका विशिष्ट महत्व भी सिद्ध होता है क्योंकि समुद्र के अतिरिक्त सुन्दर सरोवरों, लघु वीचिविलासमय सरिताओं और किसी प्रस्तर या पल्लव पर चमकती एक बूंद का भी अपना अद्वितीय सौन्दर्य होता है। शायद 'लघु' हमारे जीवन के अधिक निकट प्रतीत होता है अत महत्ता का अभाव होने पर भी ये लघुविधाएँ परिचित ससार का परिचित पद्धति पर

आलेखन करती हैं। अपने अस्तित्व की नम्रता और लघुता समझकर भी ये विधाएँ साहित्य और जीवन का एक अपनत्व देती है। परायेपन का अभाव, आतक का अभाव और 'अतिरिक्त' मेधागत—कल्पनागत ऊहापोह का अभाव इनकी उपलब्धि है।

कम प्रचलित विधाओ मे सस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्ताज परस्पर निकटतम विधाएँ हैं। सस्मरण म भावात्मकप्रियता अधिक कायरत रहती है उदाहरणत पडित बनारसीदास चतुर्वेदी की 'सस्मरण' नामक पुस्तक मे पडित श्रीधर पाठक आदि पर लिखित सस्मरणो म 'प्रियता' लेखक के चित्त को वर्ण्यव्यक्ति की उन जीवन स्थितियो पर केन्द्रित कर देती है, जो उसे प्रिय हैं, पसन्द है। अत सस्मरणो को पढते समय लेखक के व्यक्तित्व का भी अध्ययन होता चलता है। हिन्दी मे ऐसे सस्मरण बहुत कम मिलते है, जिनमे स्मयमाण व्यक्ति का 'तटस्थ स्मरण किया गया हो। इसका कारण यह है कि दिवगत व्यक्तियो के विषय मे भारतीय धारणा अप्रिय पक्षो की चर्चा को मृतात्मा के प्रति असम्मान समझती है। राग द्वेष से रहित 'शव' को यहाँ परम पवित्र माना गया है और जो उपस्थित नही है, उस व्यक्ति की सत्ता 'शव' है। 'शव' के प्रति सम्मान-पूण दृष्टि का अथ यह है कि व्यक्ति पूण नही होता, कोई कृति पूण नही होती। इसलिए जीवन-तत्वो म सहायक पक्षा और मूल्यो का स्मरण ही विधेय है। प्राचीन काल से 'परम्परा' के प्रति जो यह दृष्टि रही है, वही सस्मरण लिखते समय लेखक के मन मे समाई रहती है अत भारतीय सस्मरणो मे शुभ पक्षा का ही उद्घाटन अधिक होता है, जानने पर भी कुत्सित पक्षो का उल्लेख अवाछनीय माना जाता है।

रेखाचित्र सस्मरणो से अधिक तटस्थ अकन है। 'रेखाचित्र' शब्द से तो लगता है कि इस विधा मे केवल व्यक्ति या वस्तु या स्थान का शब्दचित्र रहता है। मूलत यह चित्रकला के क्षेत्र की प्रवत्ति है, जहाँ रेखाओ द्वारा व्यक्ति या वस्तु का आभास प्रस्तुत किया जाता है। रेखाओ के चित्र म रग अनावश्यक होते हैं इसी तरह शब्द के माध्यम से अकित चित्रो म भाव की ऊष्मा अनावश्यक है। किन्तु रेखाओ से चित्र बनाते समय व्यक्ति या वस्तु के प्रति—एक उन्मुखता आवश्यक है। उसी प्रकार साहित्यिक रेखाचित्र मे व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक राग उन्मुखता अनिवाय तत्व है। बाह्याकृति अकन के लिए वण्य व्यक्ति या वस्तु म कोई विशिष्टता लेखक को आकर्षित करती है। यह विशिष्टता आकृतिगत ही नही, आचरणगत, अभ्यासगत आदत सम्बन्धी) स्वभावगत और पद्धतिगत भी हो सकती है अत प्राय जीवन

मे प्रचलित और स्वीकृत प्रणालियो से भिन्न जब किसी व्यक्ति मे कुछ विल क्षणता दिखाई पडती है तब वह रेखाचित्र के योग्य बनता है। "यह व्यक्ति अपने मे एक 'करक्टर' है, यह रेखाचित्र के योग्य है",—इस प्रकार के कथन प्राय सुनाई पडते है। फिर भी साधारण से साधारण व्यक्तित्व मे कुछ अद्वितीयता होती ही है। प्रत्येक व्यक्ति इस अर्थ मे अद्वितीय होता है और इस दृष्टि से एक सामान्य साँचे के भीतर ढला हुआ होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्तरो पर विलक्षण होने के कारण रेखाचित्र का विषय बन सकता है। उपन्यासो, कथाओ मे रेखाचित्रो का बहुत अधिक प्रयोग होता है। प्रत्येक उपन्यास के ये रेखाचित्रात्मक स्तर वर्णित वस्तु या व्यक्ति को वाणी देते हैं। रेखाचित्र द्वारा वस्तु और व्यक्ति सवाक हो उठते हैं, उनकी असाधारणता स्पष्ट होती है अत रेखाचित्र प्रचलित और स्वीकृति साचा के मध्य व्यक्ति के गौरव का, सौन्दर्य और आकर्षण का, वविध्य और महिमा का आकलन बन जाता है। रेखाचित्र यह सिद्ध करते है कि प्रत्येक अस्तित्व मे सामान्य और विशिष्ट की एक सगति रहती है। इस प्रकार एक बहुत बडा सत्य रेखाचित्र लेखक अनजान ही हमारे सम्मुख प्रकट करता है।

रेखाचित्र मे उपयुक्त 'तटस्थता' और 'उन्मुखता' की सगति जितनी अधिक होगी, उतना ही वह सफल होगा। 'तटस्थता' का अर्थ रुचि का अभाव नही है। 'तटस्थता' का अर्थ है कि हम व्यक्ति' को अपने साथ जुडी—निजताओ-परताओ से ऊपर उठकर—एक सौन्दर्यपरक दृष्टि से देख सकते है। इससे व्यक्ति की विलक्षणताएँ एक सौम्य विषय के रूप मे प्रस्तुत हो जाती हैं। इसका यह अर्थ नही कि वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे मन मे कोई राग नही होता। राग होता है पर वह आवेगम या भावुकता बनकर रेखाचित्रण की स्थिति मे हम सम्मोहित नही कर लेता। तटस्थता और उन्मुखता की सामान्य स्थितियो के भीतर रेखाचित्रलेखक की रुचियाँ मूल्य और जीवन दृष्टियाँ भी कार्यरत रहती हैं, उसका सौन्दर्यबोध भी सलग्न रहता है अत एक ही व्यक्ति, वस्तु और स्थान पर विभिन्न प्रकार के रेखाचित्र मिलते हैं। विशाल भारत के "शहीद अक" मे शहीदो पर लिखे गये रेखाचित्रो मे बाह्याकृतियो के सम्पुञ्जन और आलेखन मे यह दृष्टि' कार्यरत है कि शहीद महामानव थे, व मानवता के उद्धारक तथा सर्वस्वहोमी थे अत उनकी साधारण चाल-ढाल, रूप, हावभाव, चेष्टादि उनके विकट कर्मो व परिचायक निर्देशो या चिह्नो का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसा लगता है जैसे यदि उनका रेखांकन भिन्न होता तो वे ऐसे विकट कर्मा नही हो सकते थे और यह सत्य है

कि दृढ सकल्पी व्यक्ति की शरीर रचना चाहे जसी हो, उसकी चितवनि और चाल-ढाल म कुछ अजीब आकषण आ ही जाता ह। गठन, गति स रूप पाता है। रखाचित्र इस वाह्य गठन आदि को ही अ कित करता है, वह 'गति' के साथ सम्बन्ध जोडकर कारण-काय परम्परा अपनाकर विश्लेपण नही करता अतएव रेखाचित्र प्रतीतियो का अ कन है, ऐसी प्रतीतियो का जिनके कारणा की चेतना रेखाचित्र—लेखक के मन मे होती है पर वह उसकी व्याख्या नही करता। वह परिणाम को देखता है। उसका ध्यान 'सप्टि' पर है तथ्य पर नही कि वह इस प्रकार की ही क्या ह इसमे अ यथा क्या नही ह ?

कुछ रेखाचित्र व्यक्ति या वस्तु की विलक्षणता के रोचक अश पर ही अधिक ध्यान देते हैं, यथा सुरेशनाथ दीक्षित के 'पण्डित जी' मे अथवा बाबू गुलाबराय के नापिताचाय' म। कुछ लेखक व्यक्ति के भीतरी उपकरणो पर अधिक ध्यान दते हैं, यथा व दावनलाल वर्मा क हलकू' म। यह स्पष्टत 'दृष्टिभेद है। यही केवल बाह्य आकृतिया और प्रतीतिया का आकलन होता है जस भगवतशरण उपाध्याय के 'वो दुनिया म। कुछ स्थान का शब्दचित्र प्रस्तुत करत ह जस सहृदय क रांची क प्रपात' तथा रासबिहारीलाल के 'खण्डहर बोलते हैं' म। यहाँ लेखक दृश्य' क साथ अपनी दृष्टि का तादात्म्य करता है, एक सा व्यवधानात्मक तटस्थता के साथ। मानवप्रेमी प्रवृत्तिया पर सर्वाधिक ध्यान दकर रेखाचित्र बनारसीदास चतुर्वेदी न लिखे हैं, जस नवीन जी' पर उनका एक रेखाचित्र है। यह स्मरणीय है कि सस्मरण और रेखाचित्र की विधाए एक दूसरे म समाविष्ट होती चलती है। इन दाना म भेदक तत्व सिफ भावात्मकता की मात्रा का है—सस्मरणा म भाव लेखक को पर्याप्त मात्रा तक अनालोचक बनाये रखता है, रेखाचित्र म उ मुखता अथवा रागात्मक स्पश म त्र से ही काम चल जाता है।

रेखाचित्र व्यग्यमयी चित्तवृत्ति म भी लिखे जाते है और शस्त्रहीन, अजटिल सौ दयबोधक स्थिति म भी। य दोनो स्थितिया एक ही दृष्टि मे मिली भी रह सकती हैं। घोर शत्रुता की मानसिक स्थिति बनाकर खिल्ली उडाने की मानसिक दशाओ म भी रेखाचित्र लिखे जा सकत है लकिन एसी दशा म राग, चित्रित व्यक्ति म न होकर लेखक की धारणाओ म प्रतिबद्ध होता है। मेरी जानकारी म हिन्दी म पूण वनानिक स्थिति मे लिखित रेखाचित्र एक भी नही मिलता। वस्तुत रेखाचित्र मानवप्रेमी विधा है एक विशप प्रकार की सहानुभूति और तादात्म्य इसके लिए अनिवाय है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने साधारण जनो पर 'दीप जल, शख बजे' कृति मे अनक रेखाचित्र प्रस्तुत किये

हैं, यहाँ मानवीय सहानुभूति के कारण साधारण जन विशिष्टता प्राप्त करते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के 'गेहूँ और गुलाब' में भी यही प्रवृत्ति है। बेढब बनारसी के 'उपहार' में हास्यरसात्मक शब्दचित्र हैं। हास्यरस के लेखकों के लिए रेखाचित्र के क्षेत्र में असीम सम्भावनाएँ हैं या बेढब, काका, निर्भय, बरसानेलाल चतुर्वेदी, चोंच, कुल्हड़ आदि ने पद्यात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं और उनमें अनेक रोचक हैं।

रेखाचित्रों में चित्रण की प्रधानता होती है, संस्मरणों में विवरण अधिक होते हैं। संस्मरणों में प्रसंगों और कथाओं का प्रयोग होता चलता है। घटित का विवरण और उसमें वर्ण्यव्यक्ति की विशिष्टता या उपलब्धि पर प्रकाश-प्रक्षेपण, संस्मरण की प्रचलित विधि है जबकि रेखाचित्र में लगड़ी शैली में, रूप अभिव्यक्तिकारक नपे तुले शब्दों का प्रयोग अधिक होता है अतः रेखाचित्र संस्मरण से कहीं अधिक बड़े कलाकार की अपेक्षा करता है। संस्मरण में वर्ण्यव्यक्ति के कृतित्व और महिमा का बल रहता है क्योंकि पाठक या श्रोता का ध्यान लेखक के विवरण से होता हुआ वर्ण्यव्यक्ति के गौरव या विशिष्टता का अनुसन्धान कर, उससे आकर्षित होता है और संस्मरण की दुर्बलता को वर्ण्यव्यक्ति की महत्ता दबा ले सकती है किन्तु रेखाचित्र में कलाकार की शब्दशक्ति पर रूप को स्पष्ट और सवाक करने की क्षमता पर पाठक या श्रोता का सीधा ध्यान रहता है। सफल से सफल संस्मरण लेखक वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति का वह गौरव नहीं दे सकता जिसके लिए यह वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति अयोग्य होता है, हाँ असफल संस्मरण लेखक वर्ण्य व्यक्ति की महत्ता को अस्पष्ट रख सकता है। अतः जिस सीमा तक असफल संस्मरण लेखक अपने विषय का गौरव घटा सकता है सफल संस्मरण लेखक अपने प्रतिपाद्य का गौरव उसी सीमा तक बढ़ा नहीं सकता। सफलतम संस्मरणों में गोर्की का तोल्स्तोय पर लिखा संस्मरण इसलिए भी अधिक सफल हुआ है क्योंकि उसका विषय है तोल्स्तोय। इस संस्मरण में हम गोर्की और तोल्स्तोय दोनों प्रभावित करते हैं। साधारण व्यक्तियों पर लिखित संस्मरणों में गोर्की उतना प्रभावित नहीं कर सके। रेखाचित्र जब किसी प्रसिद्ध और पूर्व से ही मन में बसे व्यक्ति पर लिखा जाता है, तब उसे भी यह उक्त सुविधा मिल जाती है किन्तु साधारण व्यक्तियों पर लिखे रेखाचित्रों और संस्मरणों में रेखा चित्रकार का कार्य अधिक कठिन है।

पद्मसिंह शर्मा और श्रीराम शर्मा के क्रमशः 'पद्मपराग' और 'बोलती प्रतिमा' में वह शब्दशिल्प नहीं मिलता जो बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' और

प्रकाशचन्द्र के 'मिट्टी के पुतले' और 'पीपल', 'खण्डहर' आदि म मिलता है। विशेषकर बेनीपुरी के रेखाचित्र अधिक सफल हुए है क्योकि वहाँ विषय के लिए शब्द का बिम्बपरक चुनाव किया गया है। यह शब्दचयन जितना अधिक वास्तविकता के सदृश होगा अर्थात् वास्तविकता की अनुरूपता या वह जितना अधिक आभासक होगा, उतना ही रेखाचित्र अधिक सफल होगा। मछिन्द्रनाथ की 'घास वाली' इपदेव के 'पण्डित पातेप्रसाद आदि म वह शब्द अन्तर्दृष्टि नही मिलती जो बेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब' और 'माटी की मूरत' म मिलती है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने निर्जीव वस्तुओ यथा लटर वक्स' 'तोता का ताल' 'दिल्ली दरवाजा' आदि का अपन शब्दचित्रो से सजीव कर दिया है। इसका कारण लेखक की निर्जीव वस्तुआ म भी जान डाल देने की क्षमता है जो वस्तुआ म अपनी चेतना प्रक्षेपण की क्रिया है। विस्तृत हृदय का व्यक्ति ही यह चेतनादान कर सकता है। यह दृष्टि स्पष्टत प्रकाशचन्द्र गुप्त को प्रगतिवादी मानववाद स मिली है और बेनीपुरीजी को समाजवादी मानववाद स जबकि बाबू गुलाबराय को पराइ पीर' समझन वाली वष्णवता से और पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को उनको प्रिय अराजकतावादी उदात्त व्यक्ति धारणा और मानवप्रेम से मिली है। यह प्रेम वस्तुओ तक फलकर उन्हे जीवत रूपा के विच्छुरण की शक्ति देता है और दूसरी ओर यही प्रेम किसी व्यक्ति या वस्तु पर केन्द्रित होत ही लेखक की चतना म सार्थक शब्दो को उसी तरह उभारता है जस मथन दुग्ध स नवनीत को जन्म दता है, अत सस्मरणो और रेखाचित्रो मे हिन्दी की यह मानव प्रेमी प्रवृत्ति ही परिलक्षित हुई है।

यात्रा साहित्य और सस्मरण कही जाने वाली कृतिया वस्तुत रेखा-चित्रा की भी उदाहरण बन जाया करती है क्योकि प्राय हिन्दी लेखको म सस्मरण लिखते समय पहले या मध्य म रेखाचित्र प्रस्तुत करन की एक परम्परा ही दिखाई पडती है। इस दृष्टि स अरे यायावर रहेगा याद, एक बूँद सहसा उछली (अज्ञेय), ठेले पर हिमालय (धर्मवीर भारती), सुबह के रग (अमृतराय) नन्दन से लन्दन (ब्रजकिशोर नारायण) सागर की लहरा पर (भगवतशरण उपाध्याय) दूसरी दुनिया (अक्षयकुमार जन) आदि यात्रात्मक साहित्य मे रेखाचित्र के अश मिलत है। सस्मरणो म अतीत के चलचित्रो, स्मृति की रेखाएँ (महादेवी) सस्मरण (बनारसीदास चतुर्वेदी), क्या गोरी क्या साँवरी, रेखाएँ बोल उठी (देवेन्द्र सत्यार्थी) जजीरे और दीवार (बेनीपुरी) जो न भूल सका जो लिखना पडा (भदन्त आनन्द कौशल्यायन), पथचिह्न, परिव्राजक की प्रजा (शान्तिप्रिय द्विवेदी), भूले हुए चेहरे, जिन्दगी मुस्कराई

(प्रभाकर), साहित्यिक जीवन के संस्मरण (किशोरीदास वाजपेयी), मेरी असफलताएँ, कुछ उथले कुछ गहरे (गुलाबराय) स्मृति कण (सेठ गोविन्ददास), पहली सलामी (चतुरसेन), चाँद पत्रिका का 'फाँसी अंक', ज्यादा अपनी, कम पराई (अश्क), आदि कृतियाँ म रेखाचित्र भरे पड़े हैं। रेखाचित्रों की दृष्टि से भी इनका उल्लेख आवश्यक है।

इसी प्रकार 'इण्टरव्यू'-साहित्य म भी रेखाचित्रात्मक अंश मिलते हैं, मैं इनसे मिला' (डा० कमलेश) के अतिरिक्त पत्रपत्रिकाओं म प्रकाशित इण्टरव्यू-साहित्य विपुल मात्रा मे मिलता है, कथा और उपन्यासों म प्राप्त रेखाचित्रों का उल्लेख किया जा चुका है।

रेखाचित्रों की दृष्टि से बेनीपुरी, प्रभाकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, और प्रकाशचन्द्र गुप्त का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

रिपोर्ताज हिन्दी की नवीन विधा है। संस्मरण और रेखाचित्र हिन्दी म आजादी के बहुत पूर्व लिखे जाने लगे। लेकिन रिपोर्ताज १९४० के बाद ही लिखे गए। किसी घटना की रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को रिपोर्ताज कहा जाता है। किन्तु इसमें लेखक घटना का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है यो सुनी हुई घटना पर भी रिपोर्ताज लिखे जा सकते हैं। इस दूसरी विधि मे घटना के होने' के काल का कल्पना और पूर्वानुभव से मानसिक प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। द्वितीय महायुद्ध म इस विधा का विशेष विकास हुआ। इलिया एहरेनबुर्ग के रिपोर्ताज प्रसिद्ध हैं। हिन्दी म बगाल के अकाल पर रागेय राघव ने शक्तिशाली रिपोर्ताज लिखे। प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृत राय, प्रभाकर माचवे आदि ने भी रिपोर्ताज लिखे हैं। आकाशवाणी से मेलो उत्सवों, क्रीडाओं, खेलकूद, जन्म मरण आदि अवसरों पर जनसमूह की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का क्षणपरक वर्णन प्रसारित होता है, ये रिपोर्ताज प्रसारित हुए हैं, गाधी नेहरू और शास्त्रीजी की मृत्यु के अवसर पर प्रसारित रिपोर्ताजो मे यदि करुणा जनक दृश्यों का साक्षात्कार किया गया है जो पर्वो, उत्सवो के के विवरणो म हर्षोल्लास का। खेलकूद के विवरण मे उत्साह और विनोद की अभिव्यक्ति होती है। *अभी यह साहित्य मात्रा और गुण मे प्रारम्भिक* स्थिति मे ही है।

रिपोर्ताज मे घटना का यथावत वर्णन और लेखक का उत्साह ये दो मुख्य तत्व होते हैं। यहा भी लेखक किस दृष्टि से घटना का देखता है और उस 'होन' (becoming) को अपने 'स्व' से कैसे जोडता है, यह बहुत महत्वपूर्ण होता है। मात्र होने की रिपोर्ट या तो पुलिस थाने म लिखी जाती है या अन्य

अधिकृत सूचनाओ मे । किन्तु घटना एक सकुल प्रक्रिया है । व्यक्तियो के समूह घटना को ज म देते हैं अत उनकी आशा अकाक्षाएँ, उनकी चेष्टाएँ, स देह और निश्चय, पराजय और पलायन आदि सभी कुछ रिपोर्ताज म व्यक्त होते है । रेखाचित्र मे लेखक एक सो दयबोधक तटस्थता वरतता है किन्तु रिर्तोर्पाज मे—पक्षधरता ही अधिक व्यक्त होती आई है । राघेमराघव के अकाल पर सस्मरणो मे केवल भूख से तडपते बगाल के व्यक्तियो का ही शब्दचित्र नही है अपितु लाशो पर मँडराते गिद्धो—अन्न के लिए अस्मत वेचती नारियो, मुनाफा खोर धन्नासेठो की लालचग्रस्त आखो, अफसरो की लापरवाह मुखमुद्राओ और सरकार के पाखण्डो का भी जीताजागता चित्रण किया गया है और इन सारी घटनाओ को एक सूत्रता देने वाली दृष्टि है, लेखक की जनता के प्रति प्रीति । यदि राघेयराघव की जगह कोई प्रतिक्रियावादी लखक अकाल पर रिपोर्ताज लिखता तो वह भारतीयो के भाग्यवाद, अ गरेजशाही की कठिनाइयो और उदारता से विवरण म एकसूत्रता का काय लेता। इस प्रकार परिप्रेक्ष्य के प्रति पक्षधरता अथवा प्रतिबद्धता अथवा प्रतिबद्धता के बिना रिपोर्ताज मे लेखक का उत्साह व्यक्त नही हो सकता ।

रिपोर्ताज रुस म बहुत लिखे गए, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के समय । वहाँ लेखको को युद्ध के मोर्चों पर भेजा गया और वहा से उ होने युद्ध म रूसी जनता की वीरता और बलिदान का युद्ध की भयकरता और विनाश का जीवन्त चित्रण किया । भारत पर चीन और पाकिस्तान क आक्रमण क समय लेखको को मोर्चे पर नहा भेजा गया कुछ चित्रकार बाद मे अवश्य भेजे गए अत स्वत त्रता के बाद रिपोर्ताज का यह स्वर्णिम अवसर निकल गया। निर्माण-कार्यों के स्थलो पर भी रिपोर्ताज नही लिखवाए गए । खेद का विषय है कि इधर अब भी यान नही दिया जा रहा है ।

रिपोर्ताज वस्तुगत सत्य को प्रभावशाली बनाता है, उसका सम्बन्ध सिफ वतमान से होता है कि तु उसका लेखक वतमान क उस बिन्दु पर होता है, जिसम भूतकालीन मूल्य और भावानाएँ रहती हैं और भविष्य के प्रति उत्कट लालसा भी अत रिपोर्ताज म सवत्र एकहरा वणन नही होता । इनमे लेखक की युद्ध चेतना से उछलते हुए और चितन और अनुभव से सवलित शब्द और वाक्य अनायास ही सम्मिलित होते चलते हैं और साथ ही आमूलचूल स्पदित भावकण क्षण प्रतिक्षण घटन वाली वास्तविकता का मान वीय स दभ देते हैं । कभी लेखक 'घटना' का क्षण क्षण परिवर्तित रूप आकलित करता है तो कभी उस म 'पूव' और पर' को जोडकर उसे एक काल प्रवाह

में रखकर देखता है, कभी उस 'घटना' के स्वरूप और व्यक्तियों पर नजर डालता है तो कभी घटना और मनुष्य की नियति पर विचार करता है अतः रिपोर्ताज साहित्य क्रिया के क्रम में स्थित होकर रचा जाता है। रिपोर्ताज का लेखक घटना का स्वयं अंश है और उसका द्रष्टा भी है। वह मात्र सिंहावलोकन नहीं करता न वह चित्रकार की तरह दूर से दृश्य को देखता है, वह घटना का साक्षात भोक्ता बनता है। अकाल में रांगेयराघव का लेखक भूखे के साथ भूख की पीड़ा से तड़पता है दो मुट्ठी अन्न पाकर वह उस' भोजन के आनंद की कल्पना को अनुभव में बदलता है। इसी तरह युद्ध में रिपोर्ताज लेखक मारने वाले के साथ मारता है और मरने वाले के साथ मरता है। अतः रिपोर्ताज में लेखक घटना और द्रष्टा के मध्य की दूरी को अपने माध्यम से समाप्त कर देता है और विरोधाभास यह कि फिर भी वह एक स्तर पर तटस्थ रहता है। वह चंदबरदाई की तरह द्रष्टा भी है और भोक्ता भी, लेखक भी है और मरजीवा भी। बिना कल्पना को अनुभव में बदले सफल रिपोर्ताज नहीं लिखे जा सकते और साथ ही अनुभव में पचाए बिना भी वह रिपोर्ताज का सफल लेखक नहीं बन सकता।

इस प्रकार रेखाचित्र की तटस्थता का विगलन और साथ ही रेखाचित्रक की तटस्थता रिपोर्ताज के अनिवार्य तत्व है। रिपोर्ताज में कल्पना भाव और बुद्धि सर्वाधिक रूप में सक्रिय रहते हैं अतः यह विधा साहित्य की सबसे अधिक क्रियात्मक विधा है जैसे एक ही व्यक्ति में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों एक साथ क्रियारत हों और फिर भी एक स्तर से 'परमब्रह्म' की तरह लेखक अपनी चेतना के इन तीनों सक्रिय आयामों को साथ-साथ देखता चल रहा हो।।

ऐसी सक्रिय विधा में शब्द उसी प्रकार त्वरा पकड़ते हैं जैसे स्वचालित बन्दूक से निकलने वाली गोली। यह स्वयंचलित प्रक्रिया रिपोर्ताज लेखन के समय उपयुक्त शब्दों को स्वतः चेतना में अवतरित कर देती है क्योंकि शब्दशिल्प के लिए वरण और चयन का समय रेखाचित्र-संस्मरण आदि में मिल सकता है, रिपोर्ताज में नहीं। अतः यहाँ सरस्वती जैसे विद्युत आघात पा जाती है और लेखक के मुख या लेखनी से बाह्य घटना, विद्युत की तरह झटके दे देकर उसका श्रेष्ठ रचनात्मक तत्व खींचकर बाहर निकाल देती है। इस प्रकार रिपोर्ताज में ध्यान, धारणा कल्पना और भाव की 'गति' में समन्विति होती है जबकि रेखाचित्र में इन सबकी समन्विति 'स्थिरगति' में होती है। रेखाचित्र में लेखक की चेतना का चमत्कार मिलता है रिपोर्ताज में क्रिया और लेखक पर उसकी

तीव्रतम प्रतिक्रिया, इन दोनो का। अत रिपोर्ताज त्रिया का सौन्दय है, सस्मरण क्रिया और व्यक्तित्व के स्मरण का सौन्दय है और रेखाचित्र वाह्याकृतियो और चेष्टाओ की पुनप्रस्तुति का सौन्दय है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज के क्षेत्रो म लखको की सफलता की असीम सम्भावनाए विद्यमान हैं। काव्य, कथा और आलोचना के वशीभूत हिन्दी लेखन यदि इन प्रचलित विधाओ को भी आवश्यक समय और शक्ति दे तो न केवल साहित्य जीवन के अधिक निकट पहुँच सकेगा अपितु हिन्दी का साहित्य-चिन्तन जिस सदेहवाद और निरथकताबाद स पीडित हो रहा है, उससे भी उसे मुक्ति पाने मे मदद मिलेगी। अप्रतिष्टित या कम प्रतिष्ठित विधाओ को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया मे लेखको को भी प्रतिष्टित होने का अवसर मिलेगा और साथ ही हिन्दी की भागीरथी का प्रवाह भी विस्तृत होगा। आशा है लेखक बन्धु इधर ध्यान दगे।

प्रथम आपत्ति म भी अधिक दम नही है। जेम्स ज्वायस का यूलिसिस' नामक नवीनतम शली के उपयास का 'विश्लेषण' विदेश मे खूब हुआ है। एक भारतीय विद्वान् न "जेम्स ज्वायस पर भारतीय प्रभाव" इस विषय पर लखनऊ विश्वविद्यालय से उच्चतम शोध उपाधि प्राप्त की है और इस विश्लेषण की बडी प्रशसा हुई है (डा० बालाप्रसाद मिश्र, अब दिवगत)। उधर नवलेखन म अनेक प्राध्यापक भागीदार है। स्वय रचनाकारो ने अपने रहस्योद्घाटन भी कम नही किए है, और इस सामग्री का उपयोग हो सकता है, अनेक छात्र छात्राएँ भी रचनाकार है वे प्राध्यापको को पढा रहे है।

इसके सिवा जो आज 'रहस्यमय' "व्याख्या स परे" और सवथा "निराकार" लगते है, वे कुछ समय बाद "पकड म" मे आ जाते हैं। टी० एस० इलियट की वेस्टलड, गजानन माधव मुक्तिबोध की 'अधेरे मे", ब्रह्मराक्षस और 'ओरट उटाग", शमशेर क "प्रयोग" और अज्ञेय के "आगन के पार द्वार' भी अब बोधगम्य हो गए है और अब तो सन् १९६० के बाद "प्रत्यक्ष कथन" बढ़ता जा रहा है। जागरूक पाठक "युयुत्सा" का रचनाओ से लेकर राजकमल के "मुक्तिप्रसग" तक अभिव्यक्ति के भिन्न भिन्न तरीको का पहचान गया है।

काव्य-अनुशसा म इसलिए प्रथम प्रश्न यह होगा कि जब कविता अनेक प्रकार की है तब क्या अनुशसा का कोइ एक तरीका अपनाया जा सकता है? स्पष्ट उत्तर होगा कि अनुशसा रचनाविशेष के अनुकूल होगी, उदाहरण के लिए, कुछ रचना प्रकार प्रस्तुत हैं—

आज नदी बिल्कुल उदास थी
सोइ थी, अपने पानी मे
उसके दपण पर, बादल का वस्त्र पडा था
मैंने उसको नही जगाया, दबे पाँव घर वापस आया[1]

यहाँ "रचनाप्रक्रिया" बिम्बात्मक है लेकिन बिम्बवाद पर भाषण देने से काम नही चल सकता। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि वस्तुस्थिति क्या है और उसे किस सटीक बिम्ब द्वारा रूपायित किया गया है। नदी का उदास होना, उसका अपने पानी मे सोना—इस स्थिति को कवि अनुभव करता है, नदी नही। उदासी कवि के मन मे है, जिसका कारण वास्तविक परिस्थिति मे

---

१ केदारनाथ अग्रवाल, "फूल नहा रग बोलते हैं।"

है, अत उदासी क कारणा को समझना होगा ताकि बोध या आधार स्पष्ट हो उठे। अब इस उदासी की स्थिति म वस्तुत लगेगा कि नदी उदास होकर अपने मे सिमट कर सो गई है लेकिन उसका पानी दपण की तरह स्वच्छ है (यहा आज के हर उदास आदमी की चतना की निमलता और विवशता ध्वजित है) और बादल का प्रतिविम्ब पड रहा है। यही कवि की बिम्बविधान शक्ति की परीक्षा होती है और वह "दपण पर पडे हुए वस्त्र" के रूप को प्रस्तुत करता है, इससे दो रूप, एक दूसर के सम्मुख आ खडे होते हैं —दपण, दपण पर पडा वस्त्र। दपण म प्रतिविम्बित वस्त्र दूर स देखने पर, दपण पर पडे हुए वस्त्र सा लगता है। परिणामत नदी का अस्तित्व कुछ भी छिपता नहीं सब प्रकट हो जाता है। नदी की उदासी, उसकी स्वच्छता, उसकी शोभा—एक शब्द म नदी अपने सश्लिष्ट रूप म व्यक्त होने लगती है और इस सम्पूण चित्र से आज क आदमी की 'स्थिति" या "नियति" की ओर भी ध्यान चला जाता है जिससे नदी और समकालीन आदमी "सम्बद्ध" हो जाते हैं।

लेकिन कल्पनाहीन श्रोता या पाठक के लिए यह अनुशसा या विश्लेषण व्यथ है और कल्पनाप्रवण, सवेदनशील व्यक्ति के लिए भी यह अनुशसा उसकी अपनी कल्पना के लिए सहायक मात्र ही है, वह इतने सकेत से कवि की मान सिकता के निकट पहुँच सकता है, लेकिन फिर भी यह महसूस करता है कि यह "काव्यानुभव" अनिवचनीय है क्याकि कविता जो चेतना के भीतर रच देती है, जगा देती ह, क्या उसका वणन सम्भव ह ?

इस प्रकार अनुशसा काव्यगत अनुभव क निकट पहुँचने-पहुँचाने की एक कोशिश ही ह।

इस कोशिश मे कभी असफलता भी हो सकती ह, कभी कुछ सफलता ही मिलती है कभी कुछ अधिक कामयाबी मिल सकती है, यह सब बोद्धा, वक्ता, श्रोता आदि पर भी निभर करता है।

अब "रुचियो की भिन्नता' शीपक एक मायकोवस्की की रचना लीजिए—

एक ऊँट को देखकर एक घोडे ने कहा
"क्या असाधारण दोगला घोडा है !"
ऊँट की बारी आई, बोला—
'तुम कुछ नहा, एक छोटे कद के ऊँट हो" ।
और सनकन अन्तरिक्ष म केवल ईश्वर जानता है
कि दोनो भिन्न भिन्न किस्मो क जीव हैं।

यहाँ 'रचनाप्रक्रिया" का रहस्य सिर्फ इतना है कि रूस मे, क्राति के जोश म, प्राय रुचियो की भिन्नता को स्वीकृति दन म सकोच रहता था और इस प्रवृत्ति से "व्यक्ति की विशिष्टता" को उचित गौरव नही मिल पाता था। इस जहनियत पर हमला करन क लिए मायकोवस्की न गधे, व घोडे का, लोक म प्रचलित, उदाहरण लिया। साधारण व्यक्ति भी जानता है कि भिन्नता के लिए इ ही का उदाहरण दिया जाता ह अतएव कवि ने वही प्रतीक चुना जो 'सटीक' साबित हुआ । लेकिन यदि क्राति की अवधि मे बढ़ती 'एकरूपता" के खतरे का नही बताया जाए तो कविता का मम अस्पष्ट रहेगा।

इसी तरह नागाजु न की 'आत्मा की बासुरी' शीर्षक रचना म-"बूर्ज्वाआधुनिकता" का पर्दाफाश करना कवि का उद्देश्य है। "दृष्टि" का परिचय करा देने के बाद फिर स्वय सब स्पष्ट हो जाता है—

पता नही कितने छेद हैं, तुम्हारी आत्मा की बाँसुरी मे
बजती है फू क से, अथवा बिना फूके ही ?

सभी ओर धु ध, सब ओर कुहासा
निकलोगे कैसे विकट चक्रव्यूह से ?
नादान अभिमन्यु, क्या तुम करोगे ?
हम तो भई, निहायत मामूली किस्म के
अदना से आदमी ठहरे
पडती है उलझन, सुलझा भी लेत है
कैसी भी गाँठ हो, खुल ही जाती है।

एक कविता म धर्मवीर भारती ने अपन को ऐस घायल अभिमन्यु के रूप मे दिखाया है, जिसके हाथ म रथ का टूटा पहिया है और जो युग की यान्त्रिकता, ततीय विश्व-युद्ध की आशका, और इसी तरह की अन्य उलझनो से पीडित है लेकिन इस कायरता, विवशता और किंकर्त्तव्य विमूढता को जनवादी कवि नागाजु न मध्यवर्गीय मनोवत्ति का 'रिचायक मानते है जो पूँजीवादी दशो क सकट को अपना सकट मानकर उसे "मानव नियति" के

पर्यायरूप म प्रस्तुत करती है। नागाजु न इसी 'वायु मनोवृत्ति" पर हमला करते हैं अत यहाँ भी "रचनाप्रक्रिया" का रहस्य "दृष्टि" मे छिपा हुआ है, उस "जीवनदर्शन" मे छिपा हुआ है, जो क्रान्तिकारी है।

यहा प्रतिपक्ष को नीचा दिखाने के लिए, अपने पक्ष को नीचा दिखाने की जनता म प्रचलित कथनविधि का प्रयोग किया गया है।

> अ धेरे मे आँखो पर हथेलियाँ रख—दबाने पर
> दीखते है, अनेक रग
> और-हरे काले रग को घेरती है
> लाल, लाल परछाई।
> सुबह के पहले ही, पेट के खाली कनस्तर मे
> गू जने लगती है, गू गे आदमी की चीख
> धूप का ताप उसे गस सिलडर की तरह
> "बस्ट कर देता है।
> मुझे चारो तरफ स—ठण्डे गोश्त की हवा घेरे है,
> आखिर क्यो ?[1]

यहा "क्रांति का स्वर" पृष्ठभूमि म है, सवेदना के माध्यम से ही 'क्रान्तिकामना' को व्यक्त किया गया है। अधेरा प्रतिगामिता का प्रतीक प्रसिद्ध ही है। अधकार म सचमुच आँखो पर हथेली रखकर दबाने पर अनेक रग दिखाई देते हैं (इसका 'प्रयोग प्रदशन' भी किया जा सकता है) और लाल लाल परछाई भी महसूस होती है जो वस्तुत इन्कलाब का चिह्न है। "गू गे आदमी की चीख" क विरोधाभास द्वारा कवि आज के आदमी की स्थिति का वणन करता है कि किस तरह वह सह रहा है, लेकिन भीतर ही चीख रह जाती है और खाली पट के लिए कनस्तर और फिर धूप म गससिलेंडर की तरह उसका फटना—सामयिक भूख और लाचारी का सार्थक चित्र बन जाता है।

इस भयकर स्थिति म जब कोई उपाय नजर नही आता तब कुछ कवि विसगति" की गू ज के लिए अटपटे रुख अपनाते हैं, काव्य का ढाँचा

---

१ अधेरे क रग—श्री हष, युयुत्सा, कलकत्ता, नवम्बर, १९६७, पृष्ठ ६०।

तोडते हैं। उनके अनुसार 'विसगति" ('एब्सर्डिटी") को चिकनी, बनावटी, कायकारणयुक्त, काव्य भाषा द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता अत "विसगत कविता" की यह पृष्ठभूमि समझ लेने पर, रचना का स्वरूप और उसकी साथकता उभरने लगती है—

कुछ कुछ नही, ही, न, कु
कु-छ न ही न कु ही न छु।
कुछ नही, कुछ नही कुछ नही, कुछ नही
नही, नही नही, कुछ।

अथवा

दि दि दि दि दि *व्या व्या व्या* दि *व्य* दि *व्य*
व्य दि *व्य* दि *व्य* दि दि *व्या* दि दि दि दि ।

प्रथम मे "निरथकता" और दूसरी "रचना" (?) मे "दिव्य" शब्द का जो "प्राचीनो' द्वारा दुरुपयोग हुआ है, उसकी ओर इशारा है। प्राचीनता के हामी लेकिन आडम्बरपूण जीवन व्यतीत करने वालो के पाखण्ड का खण्डन ही दूसरी रचना का उद्देश्य है जो 'नयी पीढी" के उपहास, विडम्बक स्वर और आक्रोश को व्यक्त करती है।

किन्तु ऐन्द्रिय सवेदन (शब्द, स्पश रूप रस और गध के अनुभव) के स्तर पर केवल 'जीवन दृष्टि" बताकर रचना का मम नही खोला जा सकता, उदाहरण के लिए पतजी के नौकाविहार के रूपो म मन से विचरना होगा, पूव 'इकप्रत्ययो" का स्मरण करना कराना होगा और साथ ही उस छाया-वादी "दृष्टि" पर प्रकाश डालना होगा जो वस्तुओ, दृश्यो के आकर्षणों को चुनती थी, तब "विसगतिबोध" था ही नही। यो जगदीश गुप्त की कविताओ म "रूपो" का चित्रण अधिक होता है लेकिन समकालीन कविता मे, प्रत्येक कवि म, स्वतन्त्र रूप स और कही अनुभवो से मिश्रित अहसासो की अभिव्यक्ति हो रही है। मिश्रित और सकुल सवेदना का एक रूप दृष्टव्य है—

शीश काट लिया व नो ने,
कब ध दलदल मे सघपरत।

रक्त से सतह पर बन गया जो अमूर्त चित्र
उसे भी अपने चेहरो के मुखपृष्ठो के लिए छीन ले गए।

विभिन्न कोणो से अन्वेषण का विषय मैं
एक 'विशेषज्ञ' ने तो कहा, जादूगर है।
कब्र और दल्दल का खेल दिखाता है
और अपना सिर "सेफ डिपाजिट" म जमा कर आता है।
गलने के पूर्व, किसी साफ शीशे मे हाश, मैं अपनी
तस्वीर देखपाता

लेकिन मैं तो व्याख्याएँ सुनने के लिए अभिशप्त हूँ।
सवेदन त्वचा मे अब भी है, सुनूँगा
अगर हाथ एक वार ऊपर उठ सका,
तो ककड पत्थर मारने वाले 'तटस्थ' बच्चो से
टा, टा, कहूँगा।

यहा कवि को यह महसूस होता है कि यह दलदल में फेंक दिया गया है (समकालीन मानव स्थिति)। कीचड मे सघर्ष— कीचड मे पड़ने और गलने का इन्तजार, सिर कटने पर भी उस स्थिति का इन्द्रियो पर प्रभाव, दुर्गंध, पक का चिकना चिकना सडा स्पर्श, चारो ओर दल्दल का दृश्य, कीचड के "जल" का अहसास, पाखण्डियो और आत्मग्रस्तो के कहकहे, उनके द्वारा लिये गए चित्र (कवि की स्थिति के), तरह तरह की अफवाह, अफवाहफरोशो के घृणास्पद चेहरे, लाचारी का तीखा बोध, निमलचेतस् लेकिन शरारती बच्चो के प्रति—नवागत पीढी के प्रति, कवि की ममता—गरज यह कि रचना मे—ऐन्द्रिय अनुभव, परिस्थितिगत अनुभव, परिवर्तन की तीव्र आकाक्षा वगैरह 'गडमगड्ड' रूप से व्यक्त हुए हैं।

जहाँ सवेदना अनुकूल रूपो मे व्यक्त होती है, वहाँ काव्य अनुशासा मे उन अनुभवो का पुनसृजन करके, उनका विवरण देते चलने से, पाठक या श्रोता के मन म वही सवेदना जग जाती है यथा "उर्मिल लहर का तट से गुजरना और ऐसा लगना कि चाँदी का साप पास से सरक गया हो"— इस स्थिति मे 'इकप्रत्यय' और 'स्पर्श' के अनुभव हैं, जिनका विवरण देने से व सहज ही स्फुरित हो उठते हैं। एक अन्य उदाहरण—

Trees turned and talked to me
Tigers sang, houses put on leaves!

Water rang
Flow in, flew out
On my tongue's thracead
A Speech of birds
From my hurt head [1]

"सकुल सवेदना" का यह एक अच्छा प्रारूप है। लेकिन "अकविता" मे इस कलात्मक सवेदना का झमेला नही है, वहाँ कला अकलात्मक तरीके से व्यक्त होती है। "काव्यभाषा," "काव्य प्रतीक" "काव्यपन" आदि का पूर्ण बहिष्कार किया जाता है कोई निषेध नही, किसी 'विधि" का अनुसरण नही। अत यदि सतीश जमाली को "एक और नया आदमी' मे पी० एल० ४८० का कुप्रभाव भारत पर दिखाना है तो वह एक पूरा बजट ही प्रस्तुत कर देंगे यहा 'विवरण' अकलात्मक लगेगा लेकिन "अकवि" के आक्रोश के सन्दर्भ मे देखने पर "बजट का विवरण" सार्थक लगने लगता है, वह "कवित्वपूर्ण" लगे ऐसा आग्रह 'अकवियो" को नही है। अत "कवियो" और "कुकवियो" द्वारा दी गयी गालियाँ, नग्न शब्दो का प्रयोग (श्रीराम शुक्ल की "गन्दी" रचनाएँ) 'विद्रोही पीढी" (केशिनीप्रसाद चौरसिया) के जुगुप्सापरक प्रयोग ये सब स्पष्ट हो सकते है बशर्ते कि व्याख्याता सन्दर्भों और सन्दर्भों मे पले हुए अभिप्रायो को स्पष्ट कर दे और फिर पूरी तरह स्पष्ट हो ही यह आग्रह भी व्यर्थ ही है, कोशिश की जा सकती है, पाठक पर रचना का प्रभाव तो पडेगा ही, उसके कारणो की व्याख्या की जा सकती है।

प्रश्न यह होगा कि अमूर्त चित्रकला और "ऊल्जलूल" रचनाओ से पाठक या श्रोता मनमाना 'अर्थ लेगा तो कवि या अकवि के मन्तव्य या अनुभव का पता कैसे लगेगा ? किन्तु कवि या चित्रकार यदि रचना ही ऐसी करे कि उसका मन्तव्य स्पष्ट न हो और वह यदि यही चाहे कि द्रष्टा जो देख सके या देखना चाहे वही देखे, तब इस तरह की रचनाओ से साधारणीकरण और 'एकात्मकता" का आग्रह व्यर्थ ही है। यह भी एक रोचक अनुभव है कि एक रचना मे पाठको को भागीदार बनाकर यह देखा जाए कि वे क्या अनुभव करते है और यदि वे अनुभव स्वतन्त्र रूप से व्यक्त हो सकें तो एक

---

1 Charles Causley—"Healing a Lunatic Boy"—Penguin Modern Poets, 3, Page, 114

नए ढग की "काव्यअनुशसा" प्रारम्भ हो सकती है अत परीक्षाओ या व्याख्याओ मे इस तरह की रचनाओ से "एकार्थकता" की माँग एक गलत माँग है।

इस प्रकार, सामयिक कला और कविता के एक बडे अश की अनुशसा और विश्लेषण सम्भव है। दूसरे, रचनाप्रक्रिया" मात्र सब कुछ नही है, कवि की जीवन दृष्टि या वास्तविकता के प्रति 'एप्रोच" उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी तकनीक की व्याख्या, और तीसरे, काव्य अनुशसा के लिए 'पद्धति' रचनाविशेष पर आधारित होगी। उस रचना के 'स्वरूप,' अभिप्राय" और उसमे व्यक्त मानवीय अनुभव या राग या बोध की पहचान पूरी तरह यदि सम्भव नहीं है, तो भी रचना की ओर कवि की 'करीब करीब सही" पहचान अवश्य सम्भव है और प्राय इस प्रक्रिया मे, सचेत विवेचक या व्याख्याता, रचनाविशेष मे वह सार्थकता, अभिप्राय और अनुभव खोज निकालता है, उसे नये सन्दर्भ दे देता है कि स्वय कवि चमत्कृत रह जाता है। इसीलिए यह सत्य है कि भावक एक स्वतन्त्र स्रष्टा ही होता है, वह मात्र लेखक और पाठक के मध्य "विचौलिया" नहीं होता।

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्व

धी पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती[1]

शान्ति का अनुभव न करने वाली, विवेचका की बुद्धि, उच्च आरोहण करते हुए अन्त मे (जिस) अर्थ तत्व को देखती है।

---

१ अभिनव भारती, अभिनव गुप्त।

हिन्दी मे अनुसंधान : एक प्रतिक्रिया

अनुसन्धान का शोध काय सबसे कठिन और सरल काय है। कठिन उनके लिए जो मात्र उपाधि के लिए शोध काय करते हैं और सरल उनके लिए जो केवल उपाधि और तदन तर वृत्ति के लिए काय करते हैं। एक कक्षा और है। ऐसे शोधार्थी भी हैं जो उपाधि और वृत्ति के लिए ही शोध-काय करते हैं किन्तु उस पूण उत्तरदायित्व के साथ करते ह।

वतमान स्वरूप—शोध एक पवित्र काय है। ज्ञान की राशि को समृद्ध करना ही इसका उद्देश्य है। किसी भी भाषा के प्रारम्भिक विकास-सोपानो म उस भाषा के लेखको और अनुसधानकत्ताओ म एक "सेवाभाव" होता है। इस स्थिति म इन ज्ञान क्षेत्र के स्वयसेवको को केवल सम्मान मिलता है और अपने काय स सतोष। शिवसिंह, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति विद्वानो म यही प्रवृत्ति प्रधान दिखाई पडती है। विश्वविद्यालयो मे हिन्दी के प्रवेश के पूव "हिन्दी-सेवा" ही लेखको का उद्देश्य हुआ करता था और हिन्दी सेवा राष्ट्रीयता-आन्दोलन की एक दृढ शृ खला थी। पद प्राप्ति या अथलाभ तब नितान्त गौण था। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी युग म या तो लेखक सवहारा थ अथवा धनीमानी सज्जन, जो अपनी मात्विक 'धुन' के कारण हिन्दी का काय करते थे। बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र जसे लेखक प्रथम श्रेणी मे और भारतेन्दु और प्रेमघन दूसरी कोटि म प्रतिष्ठित किए जा सकते हैं। सस्थाओ म लेखको को अवश्य वृत्ति मिल जाया करती थी और इसीलिए काशी नागरी प्रचारिणी, साहित्य सम्मेलन हिन्दी क आदि गढ बनते गए। किन्तु इन सस्थाओ के प्रारम्भ रूप म जब तक हिन्दी सेवा भाव प्रबल रहा, तब तक शोधकाय अच्छा हुआ। बाद म विश्वविद्यालयो की तरह नौकरशाही मनोवृत्ति ने इन सस्थाओ को भी घर दबोचा। फलत इन सस्थाओ मे शोध-काय का स्तर गिरा।

बडे बडे कॉलेजो, विश्वविद्यालयो म हिन्दी का प्रवेश होते ही हिन्दी सेवा व्यक्तिगत उन्नति का पर्याय बनती गई। यह ऐतिहासिक दृष्टि से ए विक भी था। अब हिन्दी का क्षेत्र व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता स पोषित

लगा। विश्वविद्यालयो और कॉलेजो म किए गए अनुसधान काय क सचालन और निरीक्षण की कोई पूव परम्परा हि दी म थी नही। अन्य विषयो इतिहास, अग्रेजी, सस्कृत, भूगोल, राजनीति तथा विज्ञान विषया म परम्पराएँ बन चुकी थी और इन विषयो की अनुसधान परम्परा और स्तर अतर्राष्ट्रीय परम्परा और स्तर से सम्बद्ध थे। विशेषकर इस देश म हिन्दी क सिवा अन्य विषयो के अनुसधित्सु पश्चिमी योरोप से शिक्षित होकर लौटते थे और अनुसधान का माध्यम अग्रेजी भाषा होने क कारण एक देश के काय का अतर्राष्ट्रीय प्रचार और परीक्षण होता था या हो सकता था। हिन्दी म अनुसधान की भाषा कतिपय निबधो म अग्रेजी रही किन्तु "भारतीय विद्या" (इडोलोजी) म यदि हिन्दी को योरोपीय देश स्वीकार कर लेते तो इग्लैड फ्रास, जमनी आदि देशो म अन्य विषया की ही तरह हिन्दी का अनुसधान उसी प्रकार होता, जसा सस्कृत और दशन म क्षेत्रो मे हुआ। किन्तु योरोपीय देशो के हिन्दी-विभागो म जो अनुसधान हुआ भी, वह एक तो भाषा और लोकसाहित्य आदि से सम्बधित रहा दूसरे "भारतीय हिन्दी अनुसधान" उनक लिए आदश बना। अन्य विषया म शोधार्थी दूसरे देशो के स्तर को देखता है, हिन्दी के लिए दूसरे देश, भारतवष के विश्वविद्यालयो और अन्य सस्थाओ को देखते हैं। रूस म अवश्य हिन्दी शोधकाय स्वतत्र रूप म हुआ कि तु वहा भी भाषा सम्बधी काय अधिक हुआ। तात्विक चि तन क लिए भारतीय लेखको को देखा गया। अतएव हिन्दी क लिए विश्वविद्यालयो को मापदण्ड मान लिया गया। हमारे हिन्दी क प्राध्यापको और अनुसधानकर्ताओ पर कितना बडा उत्तरदायित्व है, यह स्पष्ट है।

क्या इस उत्तरदायित्व का हम निभा पाये है? परिमाण की दृष्टि से अथशास्त्र और रसायनशास्त्र ही हिन्दी स तुलना कर सकते हैं। शेष विषयो को हिन्दी परिमाण की दृष्टि स पीछे छोड चुकी है। हजार से ऊपर अनुसधानकर्ता काय कर रहे है और प्रति वष शोधार्थियो की सख्या बढती जा रही है। पी० एच डी० इतने अधिक हैं कि अब एम० ए० और पी० एच डी० ही कालेजो और विश्वविद्यालयो म लेक्चरर नियुक्त किए जाते है अगले दस बीस वर्षो मे बिना डी० लिट्० की उपाधि के शायद कोई लेक्चरर भी नही हो सकेगा और उपाधि का पद के साथ सम्बद्ध होना यह बताता है कि आज पी० एच डी० कितनी सस्ती है, डी० लिट्० की उपाधि आज से कुछ वर्षो बाद उतनी ही सस्ती हो जायगी। कारण क्या है?

सर्वाग्व्यापी ह्रास—प्राय कहा जाता कि विकास का अवसर मिलते ही विकास झझावात की तरह होता है और नियमत, परिमाणात्मक विकास

प्रथम होता है, तदनन्तर उससे गुणात्मक विकास होता है किन्तु हिन्दी मे, प्रारम्भ म लेखको म जो श्रम करन का स्वभाव था, वह वरावर कम हुआ है और चिंतन शक्ति का वरावर ह्रास हुआ है क्योकि शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य वत्ति प्राप्ति है। अत जव तक वेकारी की समस्या हल नही होती, तब तक अनुसधान का स्तर इने गिने मनीषियो के शोधकाय के अतिरिक्त उच्चतर हो नही सकता। अतएव शोधकाय का सम्ब घ वतमान सामाजिक स्थिति के साथ सम्बद्ध है, यह तथ्य 'अनुसधान' पर लिखे गये किसी ग्रन्थ" मे नही मिलता। विश्वविद्यालय न तो वढती हुई आवादी को कम कर सकते हैं और न राजनैतिक, सामाजिक भ्रष्टाचार को ही अनुशासित कर सकते हैं। अवसरवादी वातावरण की सृष्टि का सारा उत्तरदायित्व नेताओ, शासको और अन्य लोगो पर है छात्रो पर नही। अत अनुसधान म 'शार्ट कट", सिफारिश से शोध प्रब धो की स्वीकृति, खुशामद से उपाधि प्राप्त, आदि प्रवृत्तिया वाह्य समाज को प्रतिविम्ब मात्र है। व्यक्तिगत पू जी पर आधारित समाज मे जनतन्त्र 'दवाव तत्र" वन जाता है और ऐसा कोई काय नही है जो जनतत्र मे "दबाव" से न हो सके। इस सवव्यापी दवाव से, विश्वविद्यालय के अध्यक्ष प्राध्यापक निरीक्षक उपकुलपति, आदि 'विवश" हो जाते है क्योकि जनतन्त्र मे दवाव" से अथवा 'सम्ब धो से ही उच्चपद प्राप्त हो सकते हैं। देश मे अभी तक, साहित्य क्षेत्र म, सवस्वीकृत विद्वानो का, अध्यक्षता 'भेंट" करने की परम्परा वन नही पाई है। औपचारिक उपाधियो को अधिक महत्व दिया जाता है क्योकि "औपचारिक पाण्डित्य' का ही यहा बोल बाला है। जो जिस विधि से जिस वस्तु को प्राप्त करता है, उसी विधि से वह वाटता है,[१]

---

१ अब तो हिन्दी मे लडकर पद छीनने की प्रवृत्ति वढ रही है। आज सगठित प्रचार, अफवाहफरोशी और तिकडिम से, स्थापितो को विस्थापित और विस्थापितो को स्थापित किया जा सकता है। टटपू जिया वग से आने के कारण अधिकाश लोग महत्वाकाक्षी होते हैं और महत्वाकाक्षी का मोती निष्ठुरता की सीप म वन्द रहता है।' इसलिए विद्वान और नादान, चिंतक और निन्दक आलोचक और 'कठफोडक', मर्मी और तिकडिमी, धुनी और धुनियाँ—सब एक भाव विक रहे है। कोइ किसी की सुनना नही चाहता, न पढने लिखने के 'जानलेवा" काम को अधिक गम्भीरता से लेना चाहता है। जो लोग अपने विषय के प्रति समर्पित हैं उन्हे वडी कोफ्त होती है। आशा का आधार यह है कि इस स्थिति से, अब तीव्र घृणा वढती जा रही है, और

यह नियम आज काय कर रहा है। जनतान्त्रिक संस्थाओं में, शोधस्तर को केवल हिन्दी के प्रारम्भिक लेखकों—शिवसिंह, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल बालकृष्ण भट्ट, भारतेंदु आदि की "मिशनरी स्प्रिट" पुनः अपनाकर ही उच्चतर किया जा सकता है, शायद इस बात से किसी को मतभेद न होगा किन्तु इस मनोवृत्ति के विकास में बाधाएं हैं—असमान वेतनक्रम प्रथम बाधा है। एक ही काय करने वालों को एक वेतन नहीं मिलता और उन्नति शोध काय या अन्य साहित्यिक काय के "गुण" के आधार पर नहीं होती। राजकीय संस्थाओं में तो काय करने की आवश्यकता ही नहीं होती क्योंकि सरकार, उत्तीण और अनुत्तीण का प्रतिशत पूछती है, ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो प्राध्यापक या अध्यक्ष उपाधि के अतिरिक्त शोधकाय नहीं करता, उसकी वेतन वृद्धि न हो।[1] सम्मान पद के साथ सम्बद्ध होगया है, अध्यक्ष का पाठ्यक्रम में प्रकाशकों की पुस्तकें स्वीकार करने का अधिकार है अतः प्रकाशक अध्यक्ष को ही घेरते हैं। अध्यक्ष प्रभाव, धन और शक्ति का केन्द्र बन जाता है और इस बाह्य परिस्थिति के कारण ऐसे मनोविकारों का विकास करता है, जो पुराने राजा, रईसों या बडे अफसरों में होते हैं फिर सरकार, योग्यता का आधार भी पद को मानती है। हर सरकारी कमेटी में बेचारे अध्यक्ष को ही घसीटा जाता है, पुनः रुपया और प्रभाव आता है और उनका अपना अध्ययन अनुसंधान काय में शीघ्रता और लापरवाही का सुखद विकास होता है। प्राध्यापकों को शोध वजीफा नहीं मिलता, उनकी उतनी पूछ नहीं होती अतः वे हीनभाव से पीडित रहते हैं, अपने शोधार्थियों को उपाधि दिलाने के लिए उन्हें वही करना पडता है जो उन्हें अपनी उपाधि के लिए करना पडता है। शोधार्थियों की आर्थिक दुरावस्था से शोध निरीक्षक और उपाधिदाता करुणाप्लुत भी हो उठते

हिन्दी के इस एस्टेब्लिशमेण्ट' की, इमज खराब हो चुकी है। अगर वेतन भोगी तबका, एक दशक के भीतर, ज्ञान की पुरानी, उच्च मर्यादाओं को स्थापित करने में असफल रहा, तो, वेतन भोगी वग का 'सामाजिक बहिष्कार' शुरू हो जायगा और उसके साथ हिन्दी की प्रतिष्ठा भी बहिष्कृत होगी।

१ इस सन्दभ में एक ओर यह संकट है कि इधर बहुत से लोग शोध के नाम पर कूडा करकट इकट्ठा कर देते हैं अतः गुण परखने के लिए कोई "स्तर' निश्चित करना होगा। बिना इस 'स्तर' को प्राप्त किये सुविधा-वृद्धि नहीं होनी चाहिए।

हैं, अन्तत वे मनुष्य है और जिस छात्र न तीन चार वष श्रम करके जो कुछ लिखा है, उसे टाइप कराने मे व्यय हुआ है, २५०) विश्वविद्यालय ल ही लेते हैं। गरीव छात्र जब किसी उपाधिदाता परीक्षक से रोता है तब परीक्षक क्या करे ? तो परिस्थिति सकुल है, बहुत सरलीकरण सभव नही है वतमान स्थिति में न तो छात्रो को शोध करने से रोका जा सकता है और न कॉलेजो और विश्वविद्यालयो के प्राध्यापको से अधिक आशा की जा सकती है, आशा का अवलम्ब कुछ विशिष्ट व्यक्ति हो सकते हैं जो 'शोधव्रत' ले और उक्त दुबलताओ और कठिनाइयो पर यथासम्भव विजय प्राप्त कर, ऐसे व्यक्ति ही परम्परा बना सकते है। इसके अतिरिक्त शोध विद्यापीठो' की स्थापना होनी चाहिए जहा अध्यापन का काम न हो, केवल शोध का काय हो और अध्यापन केवल शोधार्थियो का हो।[1] शोध के निरीक्षको से सरकार कम से कम काम ले और यदि काम ले तो वह शोध से ही सम्बधित हो। सरकार हिन्दी की उच्चकोटि की आलोचनात्मक और शोध पत्रिकाओ की पूर्ण सहायता करे ताकि पत्रिकाओ के सम्पादको को प्रकाशको की प्रसन्नता के लिए न लिखना पडे, इन शोध पत्रिकाओ मे एक एक शोध प्रबन्ध' पर गम्भीरता से विचार किया जाय एक एक रिफरस की जाच की जाय और यदि प्रबन्ध म कमी है तो उसके विरुद्ध जनमत तयार किया जाय। हिन्दी म आज एक भी निर्भीक पत्रिका नही है जो इस कार्य को कर रही हो एक भी ऐसा लेखक नही है जो स्पष्ट रूप से अनुसधान की परीक्षा करके अपना मत दे रहा हो। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय भी 'आत्मनिरीक्षण'' कर इस पवित्र काय म सहयोग दे सकते हैं। शोध की परीक्षा प्रक्रिया मे छात्र और परीक्षक के बीच 'क्लर्क' एक ऐसी अनावश्यक शृ खला है, जिसे समाप्त न किया जा सके तो प्रभावहीन अवश्य किया जा सकता है। शोधप्रबध के परीक्षण काय के बदले पारिश्रमिक बहुत कम मिलता है, जो बहुत कम है। यदि छात्र पर भार बढता है तब इसे प्राध्यापको के 'आवश्यक कार्यो म सम्मिलित किया जा सकता है अथवा इस तरह के व्यय को सरकार पूरा कर सकती है। किन्तु इस प्रकार के जितने सुधार किये जाएँगे उन्हे लागू करने मे अंतिम रूप मे किसी व्यक्ति या व्यक्तियो पर निर्भर रहना पडेगा और व्यक्ति की नैतिक दृढता ही अन्तिम व्याख्या

---

१ कुछ शोध विद्यापीठ स्थापित हुए हैं, लेकिन वे अब तक, कालेजो, विश्वविद्यालयो के लिए न तो नवीन शोध पद्धतियो की ओर ध्यान देते हैं और न नियुक्तियो म सम्बन्धो से ऊपर उठ पाते है।

से शोध कार्य को उच्चतर बना सकती है। यह नैतिक दृढ़ता ऊपर से प्रारम्भ होनी चाहिए, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥ शिष्यवाद, जातिवाद, क्षेत्रीयतावाद और प्रतिष्ठावाद की बाधाओं को पार करना ही होगा।

सैद्धान्तिक बाधाएँ—व्यावहारिक दृष्टि से शोध कार्य पर विचार कर लेने के पश्चात् अब सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करना चाहिए। प्रथम शोध सम्बन्धी भ्रमों का निराकरण आवश्यक है। शोध क्या है? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। विश्वविद्यालय कहते हैं कि अज्ञात को ज्ञात की पुनर्व्याख्या करना शोध है। किन्तु इसमें यह बिन्दु विचारणीय है कि साहित्य के मूल उत्पादनों या प्रक्रिया पर स्वतन्त्र रूप से चिंतन अनुसंधान है या नहीं? उदाहरण के लिए एडीसन ने 'कल्पना' पर जो निबन्ध लिखा है, अथवा क्रोचे के सौन्दर्य सम्बन्धी निबन्ध जैसे किसी निबन्ध पर पी० एच डी० या डी० लिट० दी जाय या नहीं? मेरा अपना मत यह है कि कला और साहित्य की तात्त्विक चर्चा को सबसे अधिक महत्व मिलना चाहिए क्योंकि यही कार्य सबसे अधिक कठिन होता है। अज्ञात तथ्यों का ज्ञात करना बहुत उपयोगी कार्य है और मैं मानता हूँ कि तथ्य पवित्र होते हैं। पाठसंशोधन और पाठ निर्धारण भी ऐसा ही आवश्यक कार्य है। इसके बिना किसी प्राचीन ग्रन्थ की व्याख्या ही असम्भव है। किन्तु यह सब साधन है साध्य है साहित्य की तात्त्विक चर्चा। हिन्दी के अनुसंधान में अज्ञात ग्रन्थों की शोध काफी हुई है। यद्यपि एक इसी क्षेत्र में अभी शताधिक वर्षों का काम पड़ा हुआ है। न जाने कितनी पाण्डुलिपियाँ अभी तक शोधार्थी के सम्मुख नहीं आ पाई हैं। कई पुराने धार्मिक पुस्तकालयों के ताले अब तक नहीं खुले हैं। किन्तु पिछले वर्षों में और विशेष रूप से स्वतन्त्रता के बाद इस क्षेत्र में पर्याप्त काम हो रहा है केवल श्रम और सामान्य ज्ञान से ही यह काम हो जाता है अतः इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य हुआ है। दूसरे इस क्षेत्र में भ्रमों की गुंजायश कम है। कोई पुराना ग्रन्थ मिल जाने पर फिर आगे का कार्य सरल हो जाता है। पाठ संशोधन और पाठ निर्धारण का कार्य अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ है। इस क्षेत्र में डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० सत्येन्द्र जैसे विशेषज्ञ उपयोगी कार्य करते रहे हैं।

अधिकतर शोधकार्य तथ्यों की पुनर्व्याख्या, प्रवृत्तियों की व्याख्या अथवा कविता, उपन्यास, नाटक, गद्यकाव्य आदि की व्याख्या के विषय में होती है। कारण क्या है? इस शोध के कई अंग हैं। प्रथम भूमिकाओं से सम्बन्धित है। भूमिकाओं द्वारा दो काम होते हैं—मुख्य विषय की पृष्ठभूमि

प्रस्तुत करना, द्वितीय प्रतिपाद्य विषय के राजनतिक, सामाजिक सन्दर्भो की शोध। प्रथम म ऋग्वद स लेकर प्रतिपाद्य युग तक का विहगावलोकन अनक शाध ग्रथा म मिलेगा किन्तु इनम अधिक भूमिकाए उपहासास्पद होती है। यह तो ठीक है कि ऋग्वेद से हमारा साहित्य और समाज का अध्ययन आरम्भ होना चाहिए, किन्तु भारतीय विद्या' एक कठिन विषय है और इसलिए इस विषय से सम्बधित हिन्दी के अनुसधानकर्त्ताओ का ज्ञान अपर्याप्त होता है। सस्कृतन इतिहासवत्ता तथा अन्य व्यक्ति हिन्दी क शाध ग्रथा का इसीलिए उपहास करत हैं। द्वितीय भूमिकाएँ अथवा पृष्टभूमियाँ प्रतिपाद्य युग के इतिहास से सम्बन्धित होती हैं। हिन्दी शाध ग्रथा म प्रस्तुत इतिहास न इतिहास होता है, न कल्पना। प्राय शोधार्थी इतिहास की किसी पाठ्यपुस्तक की नकल कर देता है। उस विषय पर विभिन्न इतिहासकारा क ज्ञान के प्रकाश म तथा स्वय अपने ज्ञान के प्रकाश म वह तथ्या और प्रवृत्तियो को नही परखता। वह यह भी चिन्ता नहीं करता कि स्वय इतिहास के प्रति अनक धारणाए है और इन धारणाओ स परिचित होना उतना ही आवश्यक है, जितना कि युग के साहित्य से परिचित होना। उदाहरण के लिए हिन्दी के बहुत स 'आचाय' भी यह नही जानत कि इतिहास के प्रति नियतिवादी वगसघपवादी, सस्कृति वादी धाराणाओ म अन्तर क्या है ? दूसरे देशो के साहित्य सम्बधी अनुसन्धाना का स्तर इसीलिए उच्चतर है, क्योकि वहा एक साहित्यिक का अन्य विषया का ज्ञान भरपूर होता है। प्राचीन और मध्ययुग के साहित्य की शाध और उसकी व्याख्या के लिये इतिहासविद् होना अनिवाय है किन्तु हिन्दी म जो एक व्याख्या चल पडती है तो वर्षो शोध ग्रथो म भी उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। यही कारण है कि मध्यकालीन सन्त वष्णव साहित्य की नवीन व्याख्या उपाधिधारी नही कर सके। प्रगतिवादिया के प्रयत्न से शुक्ल जी के बाद इतिहास के प्रति द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि का प्रचार हुआ किन्तु प्रगतिवादिया को छोडकर सामान्य शोधार्थी इसका खण्डन मडन तो दूर इसे समझ भी नही पाया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या क खडन म 'अमरीकी सम्प्रदाय' आया, जो इतिहास की वगसघर्षीय व्याख्या तथा भविष्यवाणी वादिता के विरुद्ध इतिहास की व्याख्या म किन्ही सावभौमिक नियमो के अनुसधानो को अनतिहासिक काय मानता है। श्री पापर की "पावर्टी आफ हिस्टोरीसिज्म" नामक पुस्तक इसी प्रकार की है। इस सम्प्रदाय से भी हिन्दी का परिचय नही है। इसी तरह इगलैंड के प्रसिद्ध विद्वान "टायनबी" की इतिहास सम्बधी धारणाए ध्यान दन योग्य है इन सबसे यह पता चलता है

शास्त्र का अथ यह है कि समाज के सम्पूण विकास को समझने का प्रयत्न करना, और दशन, धम साहित्य और कलाओ के आविर्भाव और विकास को समाज के विकास के साथ सम्बद्ध करके देखना।

"शुद्ध साहित्यिक अध्ययन" जसी कोई वस्तु होती नही है। परन्तु साहित्य मे समाज के प्रतिबिम्ब का स्वरूप कसे समझा जाय इसक लिये समाज के स्वरूप को समझना होगा। जिन शोधग्रन्थो मे रस अलकार, छन्द, कल्पना, भाषा आदि का विवरण होता है उन्ह 'शुद्ध साहित्यिक अध्ययन" कह दिया जाता है। कि तु इन अध्ययनो के विषय मे विवाद है। कुछ परीक्षक निरीक्षक और उपाधिदाता आलोचना और शोध म अतर नही मानत हैं। मान लीजिये "तुलसीदास क काव्यसौष्ठव' पर आपने एक पुस्तक पूरी सूझ बूझ और श्रम से लिखी कि तु 'शोध' यह तभी मानी जायगी, जब इस पर आपको उपाधि मिली हो। अन्यथा 'जनरल बुक' है, कह कर उसकी अपक्षा की जायगी। इसी विषय पर उपाधि क लिये प्रस्तुत और स्वीकृत प्रबध म और आपकी पुस्तक की तुलना करने पर, भले ही आपकी पुस्तक मे अधिक मौलिकता हो कि तु आपकी पुस्तक का वह महत्व न होगा क्योकि एक तो आपन उपाधि न लेने की धृष्टता की, दूसरे आपन पुस्तको की विराट सूची, शब्दानुक्रमणिका वगरह पुस्तक के साथ नही दी, और उद्धरण देते वक्त आपने, उद्धृत पुस्तको का पूरा वशविवरण नही दिया।

शोध का हर विषय कठिन है यदि उस पर प्राप्त सम्पूण ज्ञान से परिचित होकर मौलिक चिंतन किया जाए। मौलिकता के स्थान पर इधर अनुसधान प्रक्रिया पर बहुत बल दिया जाने लगा है। मौलिक चिंतन मे वह शक्ति है जो ज्ञान के नये आयाम खोलता है, किंतु एम॰ ए॰ परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाओ म जिस प्रकार मौलिकता को अपराध माना जाता है, उसी प्रकार शोध मे निरीक्षक अथवा परीक्षक अथवा सम्भावित परीक्षको की दृष्टिकोण के विरुद्ध जाना खतरनाक समझा जाता है।[1] यह काय है भी कठिन। अत अनुसधान प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जान लगा। अनुसधान प्रक्रिया मे ध्यातव्य सिफ इतना है कि विषय का प्रतिपादन किस तरह करना चाहिए

---

२ 'हिंदी अनुसधान और अध्यापन मे प्रचलित पूर्वाग्रह और पक्षपात' यह एक रोचक शोध विषय हो सकता है लेकिन किस मे साहस है जो ऐसे विषय चुने और कितने एसे आचाय हैं जो इस तरह के अध्ययन को सहें, सराहें और आत्म निरीक्षण करें, वास्तविक उदारता दुर्लभ है।

और किस तरह उद्धरण आदि देना चाहिए किंतु यह सब बहुत सहज है, साधन है, साध्य है चिंतन की मौलिकता और उसी का शोधग्रन्थों में अभाव मिलता है। "तसव्वुफ और सूफी मत" चन्द्रबली पाण्डेय का पुस्तक है, शोधग्रंथ नहीं है, किन्तु उस पुस्तक में जो अन्तर्दृष्टि है, ज्ञान है, वह बाद की इसी विषय की पुस्तकों में कहाँ मिलता है ? रामचंद्र शुक्ल की जायसी की भूमिका अभी तक बेजोड़ है। चंद्रबली पाण्डेय की केशवदास पुस्तक में लेखक की अंतर्दृष्टि देखते ही बनती है। अन्यत्र वह कहाँ है ? क्यों शोधार्थियों में वह अंतर्दृष्टि नहीं विकसित हो पाती ? कारण यही है कि न तो समाज सापेक्ष चिंतन पर बल दिया जाता है न साहित्य के मर्मोद्घाटन में शोधार्थी को शिक्षित किया जाता है, फलतः साहित्य की व्याख्या विवरणात्मक होती चली जा रही है। भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों के लिए तो अभी आवश्यक सुविधाओं का ही अभाव है। और आज का भाषाविज्ञान, साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी प्रयुक्त होने लगा है, लेकिन 'काव्य के भाषावैज्ञानिक अध्ययन की अभी" शुरुआत भी नहीं हुई है।

इन्हीं भ्रान्त दृष्टिकोणों के कारण हिंदी का अनुसंधान-कार्य गुणात्मक दृष्टि से पिछड़ रहा है। इन्हीं भ्रांतियों में एक भ्रांति यह है कि तात्विक चर्चा वाले निबंधों को अनुसंधान न माना जाय। 'कला क्या है" इस विषय पर यदि कोई विचारक मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करे और उसमें दूसरों के उद्धरण न हों तो वह पोथावादी शोध से अधिक उपयोगी होगा। 'पकड़ और पहुँच" का हिंदी शोध से सम्बन्ध छूटता जा रहा है। काव्यशास्त्र से परे चिंतन आगे बढ़ता नहीं दिखता। काव्यशास्त्र की मनोवैज्ञानिक व्याख्या हुई है, इसी तरह सामाजिक या समाजशास्त्रीय व्याख्या भी होरही है, रीतिकाल के आचार्यों के विचार भी सम्मुख आये हैं किन्तु मुख्य बात यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र का आज क्या उपयोग है। इस बिंदु पर पत्र-पत्रिकाओं में अवश्य चर्चा हुई है, "अनुसंधान" में भारतीय काव्यशास्त्र का स्तवन विवरण आदि ही अधिक हुआ है। हिन्दी के काव्यशास्त्री सिद्धान्तों का विवरण श्रम पूर्वक प्रस्तुत करते हैं लेकिन उनके समकालीन साहित्य में, सृजनात्मक प्रयोग के बिन्दु पर मौन रहते हैं अथवा प्राचीन प्रतिमानों को, संशोधित किये बिना ही, उसके कटघरों में नवीन साहित्य का फिट करने लगते हैं।

—

शास्त्रीय चर्चा में मग्न जब हिंदी के दो पंडितों को रसनिष्पत्ति वाले भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए पाया जाता है, तब घोर मनोरंजन होता है। यह विचार करने की जैसे आवश्यकता ही नहीं है कि वस्तु और काव्यगत मन में क्या इतना ही आवश्यक है कि किसने क्या कहा है ? यह भी बताना

चाहिए कि जो कहा है वह कितना उपयोगी है। और कहाँ तक ? विवरणात्मक अनुसधान से प्राचीन साहित्य और नूतन साहित्य की खाई और भी गहरी हो गई है। और मजा यह है कि सस्कृतज्ञो की व्याख्याएँ आज भी हिन्दी के व्याख्याकारो से अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। हिन्दी के अनुसधान-कर्त्ताओ का काय यह है कि वे प्राचीन मापदण्डो का आधुनिकीकरण करें। डॉ० नगेन्द्र ने प्राचीन काव्यशास्त्र को आधुनिक शब्दावली म कहा है, परन्तु अभी भी प्राचीन का उपयोग क्या और कहाँ तक है यह बताना शेष है। यह काय किसी एक वाद की व्यापकता सिद्ध करने स नही हो सकता। इसके लिए समकालीन साहित्य और कला का गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। तत्पश्चात इस साहित्य के विवेचन की प्रक्रिया मे 'वादो' की शक्ति और सीमा देखने की आवश्यकता है। यह ट्रजडी है कि सिद्धान्तो से सुसज्जित आचाय समकालीन साहित्य के विषय मे अपने विश्लेषण प्रस्तुत नही करते और यह पूरा क्षेत्र अव्यवस्थित और "आविष्ट' ढग से सोचने वालो के लिए छोड दिया गया है।

'अतिशय विशेषीकरण' हिन्दी अनुसधान की एक अन्य व्याधि है। कारण यह है कि साहित्य एक और अविभाज्य होता है। आधुनिक साहित्य को पढकर ही प्राचीन की महत्ता का बोध हो सकता है। इसी तरह प्राचीन साहित्य को पढकर ही आधुनिक साहित्य का स्वरूप स्पष्ट होता है। जिस प्रकार क्लासीकल फिजिक्स को जाने बिना क्वाटम थ्योरी सापेक्षता सिद्धात' अनिश्चितता सिद्धात' आदि नहा जाने जा सकते, इसी प्रकार प्रत्येक देश या आधुनिक या नवलेखन उस देश की परम्परा का पुष्प भी है और परम्परा के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी। अत जिस प्रकार मापदण्डो के निर्माता काव्यशास्त्री या सौन्दयशास्त्रो को सब पढना पडता है, उसी प्रकार प्राचीन काल के विशेषज्ञो को नवीन का और नवीन युग के अनुसधानकर्त्ताओ को प्राचीन का ममज्ञ होना ही चाहिए। अन्यथा विवेचक, विभिन्न प्रारूपो (माडल) की तुलना ही नही कर सकेगा।

एक और आवश्यकता है हिन्दी के अनुसधान को, जहाँ सम्भव हो, वहा उसे प्रायोगिक रूप देना होगा। सौन्दय के विश्लेषण मे हम पुरानी उक्तियाँ दुहराते है परन्तु सुन्दर पदाथ की प्रतीति का एक शरीरीय आधार भी है। क्या विभिन्न पदार्थो को देखकर यह पता लगा लिया गया है कि कोई पदाथ तभी हमे सुन्दर लगता है जब उसका हमारे नाडी जगत पर अच्छा प्रभाव पडता है ? यह काय प्रयोगशालाओ म ही सम्भव है। सौन्दय को 'आब्जेक्टिव' थोडा

बहुत माना ही जाता है अत इस 'वस्तुगत अंश" के अध्ययन म, प्रयोग हमारी सहायता कर सकते है। 'सब्जक्टिव' अध्ययन के लिए हम व्यक्ति की अ य मानसिकता परम्पराओ आदि को देखना होगा। इसी प्रकार कोई काव्य किस परिस्थिति मे कसा लगता है, यह भी अभी तक नही देखा गया। 'साधारणीकरण' की परीक्षा भी प्रायोगिक रूप म हो सकती है काव्य शास्त्र तो प्राय 'चरम रस दशा' का ही वणन करते है लेकिन कलानुभव म, निश्चय ही, तारतम्य रहता है और किस पर, कला का कसा प्रभाव पडता है, जब तक इसका वस्तुगत या प्रायोगिक अध्ययन नही होता, तब तक साधारणीकरण की प्राचीन धारणाओ का दुहराव, एकांगी प्रयत्न ही रहेगा, उसम वज्ञानिकता लाने के लिए, हिन्दी अनुसधान को 'कायपरक' 'फक्शनल बनाना होगा और इसके लिए अखिल भारतीय स्तर पर "शोधनीति एवम् प्रविधि समिति" बनानी होगी।

मैंने जानबूझकर हिन्दी अनुसधान का गौरवगायन नही किया। इससे यह समझना कि मैं निराश हूँ, या मैं अपमानजनक दृष्टिकोण अपना रहा हूँ, गलत है। एक सहकर्मी के नाते यह आत्मनिरीक्षण है, इसस हम वास्तविक स्थिति को समझ सकते हैं और हिन्दी के विषय मे जो धारणाएँ हमारी असावधानी, अथवा अ य कारणो से बन गई हैं, उन्हे बदल सकने का एकमात्र उपाय यही है कि हम जो कर चुके है, उससे सतोष न कर लें तभी काय आगे बढ सकता है। हिन्दी साहित्य का विदेशो म अनुशीलन हो रहा है। हमारे शोध ग्रथ भी वहाँ पढे जाएँगे। अभी तो विदेशी राजनतिक कारणो से, प्रशसात्मक रुख दिखा रहे हैं लेकिन हिन्दी साहित्य को जब कोई ए० बी० "कीथ' मिलेगा, तब क्या होगा, इस क्षण क लिए हम तयार होना चाहिए।

रुचि का सामाजिक अध्ययन

किसी 'तत्व' या 'धारणा' के अध्ययन मे अभी तक समाजशास्त्रीय दृष्टि का प्रयोग कम होता है। प्रगतिवादी आलोचना मे अवश्य मार्क्सवादी समाज शास्त्र का प्रयोग होता रहा है और अब भी हो रहा है किन्तु नवीनतम समाजशास्त्र मे, वर्गगत आधार के 'अतिरिक्त मानव समूह' (स्पेशल ग्रुप्स) को अधिक महत्व दिया जाता है, विशेषकर कला और साहित्य जैसे क्षेत्रो म, जहाँ अनेक वर्गों के व्यक्ति इन क्षेत्रो म अपना योगदान करते हैं। सामान्यीकरण की दृष्टि से मार्क्स का वर्गवाद समग्रत अभी भी स्वीकृत है पर आवश्यक सशोधनो के साथ। क्योकि अतिसामान्यीकरण से विशिष्ट की जटिलताओ का गहराई से अध्ययन नही हो पाता।

उदाहरणत साहित्य और कला के क्षेत्रो म अधिकतर योगदान 'मध्य वर्ग' का रहा है, कबीलाई समाजो म कला का रूप सामूहिक रहता है, यद्यपि इनम भी 'पुरोहितो' का योगदान अधिक होता है। यह सामान्यीकरण सही है किन्तु 'मध्य वर्ग' मे भी तरह-तरह के समूह या गोष्ठी-समूह प्राचीन कला और साहित्य के रक्षण, प्रचार, प्रसार, व्याख्या और मूल्य मीमासा करते हैं, और इनमे कुछ 'नवीन' की सृष्टि करते है। अत एक सामान्य 'वर्ग' के भीतर इन गोष्ठियो या 'सहचितको' या 'सहस्रष्टाओ' के स्वरूप का अध्ययन कला-साहित्य के अध्ययन मे सहायक होता है। साराश यह कि नवसमाजशास्त्र साहित्य और कला मे बदलती या स्थिर रुचियो का अध्ययन लघु विराट जनसमूहो या सगठनो के आधार पर करता है। वह ऐसी अमूर्त धारणाओ का वैज्ञानिक नही मानता कि अमुक रुचि 'युगात्मा' (स्पिरिट ऑफ द एज) है। क्योकि समाज शास्त्र के अनुसार शोध करने पर जिसे 'युगात्मा' कहा जाता है, वह किसी एक 'ग्रुप' की 'आत्मा' या 'रुचि' साबित होती है, जिसे 'युगात्मा' कहकर वह 'ग्रुप' व्यापकता देने मे कभी सफल और कभी असफल होता है।

प्राय यह देखा जाता है कि किसी अवधि मे कोई एक रुचि अन्य रुचियो पर हावी हो जाती है। कभी तुलसी की 'रामायण' ही अधिक रुचती थी, आधुनिक युग मे उसका स्थान कथा और काव्य ने ले लिया है। पुराने कवियो को पाठ्यक्रम अथवा पेशेवर आलोचको और साहित्यिको को छोडकर

लोग कम पढ़ते है हाँ, सम्प्रदायो म या उनकी धारणाओ से प्रभावित लोग अब भी उ ह पढते है। कभी शेक्सपियर को विद्वान साहित्यिक नही पढ़ते थ, किन्तु 'जनता' (साधारण शिक्षित अथवा अशिक्षित जनसमूह) शेक्सपियर क नाटक पर जान देती थी। अब विद्वान भी शेक्सपियर को पढ़ते है कि तु उन बातो के लिये वे शेक्सपियर को पसन्द नही करते, जिनके लिय 'जनता' उस पसन्द करती थी। १६ वी शताब्दी के पूर्व महिलाए यूरोप क उच्च वर्गों म जोर-जोर से कथा' (रोमास) का पाठ करती थी। इनके सौदय वणन मे किताब पढ़ते समय हिलते हुए पतले लाल होठो की सुन्दरता का भी वणन मिलता है किंतु अब महिलाएँ भी कम से कम पढ़ते समय चुप रहती हैं।

हिन्दी मे 'तारसप्तक' के बाद 'नयी कविता' का रौब अधिक रहा है और उसी का युगात्मा' सिद्ध करने के लिय विभिन्न स्थानो के कई 'ग्रुप' प्रयत्नशील रहे हैं। इधर 'छोटी कहानी' ने उपन्यासो को हतप्रभ कर दिया है, अधिकतर आलोचना या तो कविता को लेकर होती है या कहानी को लेकर और अन्य विधाओ पर उसे लागू कर दिया जाता है, ये रुचि के बदले रूप हैं। सन ६० के बाद अब तथाकथित "नयी कविता" से भी मन ऊबने लगा है अब रुचि 'सामाजिक' हो रही है। स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय रुचि' के रक्षक माने जाते हैं, इनमे प्राय कालजयी कृतियो का अध्ययन अधिक होता है और उन्ही के आधार पर 'सिद्धात' बनते है। इस "गुट" या समूह' को 'प्राचीन रुचिरक्षक' कह सकते है। ये लोग नित्य नये के आगमन से चौंकते नही, 'परिपक्व' की प्रतीक्षा करते हैं। स्वरूप जब निश्चित हो लेता है तब उसका मूल्याकन होता है अत नवीन रुचि' क 'ग्रुप इन प्राचीन रुचिरक्षको को 'अध्यापकीय' 'गतानुगतिक', 'पिछड़ा हुआ', परम्परावादी, पिष्टपेषित' और 'छात्रोपयोगी'[1] कहते है। नवीन रुचि इसका दूसरा 'ध्रुवात प्रस्तुत

---

१ इसका ताजा उदाहरण है 'दिनमान' म साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत डा० नगे द्र की रस सिद्धात' पुस्तक को छात्रोपयोगी' घोषित किया जाना। अभय जी और उनके ग्रुप की रुचि तब सतुष्ट होती जब यह साबित किया जाता कि रस सिद्धात आज की कविता का मूल्याकन कर सकता है, डॉ० नगेद्र ने रस सशोधन को ओर सकेत किय है कि तु यदि उनके ग्रन्थ का शीर्षक सशोधित रस सिद्धात' होता और उसमे समकालीन कला काव्य आदि की परख की जाती और श्रेष्ठता का निर्णय हो पाता, एक निश्चित प्रविधि सामने आती तो शायद छात्रवादिता का आरोप न लगता किन्तु 'रस सिद्धात' मात्र छात्रोप योगी पुस्तक नही है वह रस सशोधन का प्रथम पग है।

करती हैं। स्वभावत मध्यमाप्रतिपदावादी कुछ 'ग्रुप' उत्पन्न हो जाते हैं जो नय और पुरान को इसलिय स्वीकार नहीं करते कि वे नये या पुराने हैं बल्कि वे उन कृतियो या सिद्धा तो क प्रभाव और दिशा को ध्यान म रखकर सोचते हैं। इस तरह साहित्य और कला के क्षेत्र म रुचियो का सघष उनके प्रवक्ताओं य ग्रुपो' का ध्यान मे रखकर किया जा सकता है।

प्राचीन और नवीन रुचियो की समसामयिकता के कारण रुचि का वस्तुगत अध्ययन कठिन हो जाता है क्योंकि कोई यह नहीं चाहता कि उसे पिछड़ा' हुआ घोषित कर दिया जाय, किन्तु साथ ही 'युगात्मावाद' के आधार पर असकुल दृष्टि का विकास होता है। उदाहरणत आज भी गाथिक शली म चर्चों का निर्माण होता है। कजीलाई चित्रकला से आधुनिक चित्रकला प्रेरणा लेती है सुदूरपूव की चीनी जापानी कावता स एजरा पौड अपना विववाद विकसित करत हैं। टी० एस० इलियट 'क्लासिकल' कला के समथक हैं, आस्था की दृष्टि से पुरानी ईसाइयत के किन्तु वे शली की नवीनता के कारण नयी कविता के मसीहा भी हैं, उनकी इस नवीन शली पर अ ग्रेजी के "दाश निक" कवियो का प्रभाव है, जो पुराने हैं। शहरी रुचि नवीनता के लिये गाँवो की ओर देखती है और गाँव शहरो की ओर अत युगात्मा' की खोज न कर समाजशास्त्री ' सामाजिक समूहो के कृतित्व को परखते हैं।

किन्तु इस 'ग्रुप' की जाँच पडताल भी सावधानी से होनी चाहिए। १८वी शताब्दी म इग्लड म मध्य वग जागरूक था, पर कला-साहित्य को सरक्षण रईस लोग देते थे। भारतवष मे मध्य वग ही समग्रत स्रष्टा और विचारक है किन्तु मध्यवग का चिंतन प्रभावित करने के लिय धनपतियो के सगठित मासिक, दनिक और साप्ताहिक पत्र सवदा जागरूक रहते हैं। 'दिन-मान' 'धमयुग', साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'सारिका', ज्ञानोदय' आदि पत्रो मे "रूसी" और 'चीनी रुचियो और 'युगात्माओ' का प्रभुत्व नहीं चल सकता। धनपतियो क पत्र सीधा आक्रमण पू जीवाद' पर कर ही नहीं सकते अत इन पत्रो के द्वारा 'नवमूल्यो की चर्चा म समाज की यथास्थिति रक्षा' की प्रवृत्ति अतर्निहित रहती है। स्वभावत इन 'ग्रुपो' म बड़ी विविधताए हैं परन्तु इनक द्वारा प्रचारित 'रुचियो' से प्रभावित नवयुवको के ग्रुप "ऊपरी" परि वतनो की वकालत करत हैं। ये रचनाओ मे नवीनता के हामी हैं किन्तु 'सामाजिक रचना' मे, 'नवीन प्रयोग' क लिय व तयार नहीं है अत 'नयी कविता' या 'नवकथा' के प्रवक्ताओ क ग्रुपो' का अध्ययन सर्वाङ्गीण अध्ययन के रूप मे होना चाहिए। 'रुचि' विशेष अपने भीतर अनेक मतव्यो, दृष्टियो और

नीतिक सामाजिक विचारों को छिपाये रहती है, 'रुचि' को 'ग्रुप निरपेक्ष' वस्तु नहीं है !

'नयी कविता' और 'नवकथा' के क्षेत्र में प्रगतिवादी ग्रुपों के लेखक भी हैं इनका नवीनतावाद केवल शैलीगत होता है। वस्तुगत दृष्टि से प्रगतिशील लेखक, सांचे के परिवर्तन पर ध्यान केन्द्रित करता है। नागार्जुन, यशपाल आदि लेखकों में यशपाल आज पुराने हैं नागार्जुन नये भी पुराने भी, मुक्तिबोध नये, शमशेर नये, केदार नये।[1] किन्तु जब तक इन्हें—'क्रांतिकारी ग्रुप' के सन्दर्भ में नहीं परखा जाता, तब तक इनकी नवीनता या प्राचीनता की दिशा निश्चित नहीं हो सकती और साथ ही 'रचना प्रक्रिया' भी स्पष्ट नहीं हो सकती क्योंकि 'प्रक्रिया' प्रयोजन से प्रभावित होती है। यदि कोई नया लेखक कहता है कि उसकी रचना का कोई प्रयोजन नहीं है तो उसका प्रयोजन या तो यह है कि वह प्रचलित प्रयोजनों का विरोधी है या किसी क्रांतिकारी प्रयोजन की तीव्रता को वह मंद करना चाहता है अथवा वह 'शून्यवादी' है। इधर ऐसा 'शून्यवाद' काफी बढ़ा है सन् ६० के आसपास के कुछ कथाकार प्रायः अपने को अप्रतिबद्ध, शापग्रस्त आदि कहते रहे हैं,[2] यह निषेधवादी शास्त्र की स्वीकृत शब्दावली है। निषेधवाद (निहिलिज्म, पुराना" दर्शन है और अक्सर 'केयोस' की दशा में, अपना प्रभाव बढ़ा लेता है,) व 'अहवाद' इसका फल है। इसमें भी इस 'ग्रुप' के कई प्रयोजन हैं—(१) समाज की जड़ता के विरुद्ध आक्रोश प्रकट करना (२) नवीनतम प्रयोगों की स्वीकृति कराने के लिये विचित्र रुख अपनाना, (३) नवीनों में नवीनतर बनने के लिये सन् ६० के पूर्व के लेखकों से अपने को अलग करना, (४) पूर्व लेखकों की कुछ कमजोरियाँ छोड़ना, कुछ अपनाये रहना और कुछ नयी बुराइयाँ पालना और उनमें मजा लेना आदि।

आधुनिक युग में लेखक या कवि राजा रईसों पर निर्भर नहीं है। वह या तो संस्थाओं पर निर्भर है या पत्र-पत्रिकाओं या प्रकाशन गृहों पर। यहाँ भी द्रष्टव्य यह है कि संस्थाओं पर निर्भर व्यक्तियों में पुरानापन अधिक माना जाता है क्योंकि संस्थाओं (विश्वविद्यालय, कॉलेज स्कूल, सभाएँ आदि) के व्यक्तियों को संस्थागत मर्यादाओं के भीतर काम करना पड़ता है अतः हिन्दी में पत्रकार 'अतिशय नवीनतावादी' माने जाते हैं। कई 'अध्यापक' संस्थाओं

---

१ अब ये भी "नयों में पुराने" घोषित हो चुके हैं।

२ द्रष्टव्य—'ज्ञानोदय' में कलकत्ता में हुई कथा गोष्ठी का विवरण, फरवरी अंक, १९६६ ई०।

को छोड कर पत्रो म गये हैं और उनकी अभिव्यक्ति अध्यापकीय होने पर भी, वह ठाट स रहत हैं कि व 'नवीन' ह, क्योंकि व 'अध्यापक' नही हैं ! कुछ अध्यापक अपने ऊपर बहुत लज्जित रहते हैं, व घूमघूम कर मुनादी करते फिरत हैं कि वे-इस सड़े पक्ष को छोड रह है, लेकिन छोडत नही हैं ! ऐसे लोगो का ख्याल है कि काश ! व अध्यापक न होते, ता वे या करत, यों बनत लेकिन किताब कोस म लगवाने के लिए, किताब का समपण किसी बडे अध्यापक को ही करत हैं ! उनसे कहा जाए कि शिक्षक तो विचार के लिए पूण स्वतन्त्र है और यह कि अधिकतर नवनि रेखक, शिक्षक ही हुए हैं तो आह भर कर चुप रह जाते हैं !

पत्र पत्रिकाओ म स्थानान्तरण स भी ग्रुप'-परिवतन होते हैं, 'रुचि' बदल जाती है कृति' के श्रीकान्त वर्मा और उव दिनमान' के श्रीकान्त वर्मा म फर्क है क्याकि 'कृति म एक्ड ग्रुप' का स्वरूप दिनमान ग्रुप' स भिन्न था। कुछ लखक इधर प्रकाशक बन गय हैं, प्रकाशक बनन के पूव उनकी रुचि' कुछ और थी, अब और है सामाजिक सम्ब धा मे भी रुचि-परिवतन को इसी सन्दभ को ध्यान म रख कर देखा जा सकता है।

'ग्रुप-नता' की राजनीतिक, सामाजिक और कलागत रुचियो और विचारो म पूरा ग्रुप' प्रभावित होता है। सस्थाओ क लेखको पर भी सँस्थाओ के बाहर क 'ग्रुपो' का प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रत्यक 'ग्रुप' अपने सत्य' और 'रुचि को युग-सत्य' और 'प्रतिनिधि रुचि' कह कर प्रचार करता है। इनम जिसके पास अधिक प्रकाशन-साधन ह, वह उतना ही अधिक कामयाब होता है, बशर्ते कि वह दूकानदार की तरह यह कहता रह कि उसी के पास सबस ताजी' (लेटेस्ट) चीज है ! इस तरह नवतावादियो म व्यापार के नियम अधिक स्पष्टता के साथ देखे जा सकते है। प्रारम्भ म यह दूकानदारी बहुत सहायक होती है क्योंकि ध्यानाकषण के लिए साहित्य मे व्यापारीवत्ति का प्रयोग कारगर साबित होता है। यदि उस ग्रुप मे 'प्रतिभा' हुई तो वह सचमुच अपनी उपलब्धियो से 'रुचि'-परिवतन कर देता है अयथा कोई अधिक 'प्रतिभाशाली ग्रुप' जनता क ध्यान पर बाजी मार ले जाता है। इस 'ध्यानाकषवाद' से इधर हिन्दी म इतनी आपा धापी, तूफानए बदतमीजी और चीख पुकार हुई है कि साधारण व्यक्ति सोचने लगता है कि अन्तत ये सब लाग क्या कह रहे है ? 'रुचि क समाजशास्त्र' के एक प्रसिद्ध लेखक के ये शब्द उद्धत करने योग्य है, आज की कला की धारणा बकवास तक जा पहुँची है। 'प्रतिभा'—इस शब्द म जो अभिप्राय छिपे थे, वे

बिखर कर इधर उधर गिर गये हैं। सजनात्मक लेखक प्रत्येक दशा म अपनी रचना की, अपनी रुचि की स्वीकृति चाहता है। यह रुचि की तानाशाही' है! इसके अनुसार हमे प्रत्येक अभिव्यक्ति को स्वीकार कर लेना चाहिए, हर उस लेखक को, जो अपने को कलाकार कहता है। इस दृष्टि के वकील अपन उक्त विचार को इस परस्परविरोधी स्थिति तक ले जाते हैं कि साधारण व्यक्ति को कलाकार की शानदार उपस्थिति म चुपचाप सुनना चाहिए और जब तक कलाकार न कहे, चुप रहना चाहिए। यदि कलाकार अपने को व्यक्त न करे, श्रोता को चुपचाप चले जाना चाहिए, इस तरह 'रुचि' के नये शाह शाही के गर्वीले अधिकार और वक्तव्य सामने आ रहे हैं।"[1]

शूर्किंग का कथन है कि बूर्ज्वा युग मे प्रथम बार लेखको न अपनी असफलता को दूसरो के मत्थे मढना सीखा। वस्तुत सजन के लिए आत्म विश्वास अनिवाय है और असफलता स्वीकृति स उस आत्म विश्वास की हानि होती है। इस तरह श्रोताओ और पाठको की नासमझी या शरारत को दोष देकर लेखक इस सन्देह से बच जाता है कि वह सफल हो रहा है या असफल। यूरोप के कुछ देशो मे तो यह प्रवृत्ति १७वी शताब्दी स ही बढने लगी थी कि लेखक एक 'आदश' पाठक को ध्यान म रख कर लिखे सवसाधारण (शिक्षित) सब साधारण) को नही। परिणामत लेखक केवल अपनी 'रुचि' से ही प्ररित होने लगा। कभी 'उस्ताद' या 'रईस' रचना सुधार किया करते थे, पोप' और और वाल्तयर जस लेखको को भी यह अपमान सहना पडता था अब लेखक 'परम स्वतन्त्र' है सौंदयवाद या कलावाद या रूपवाद के जन्म का यही कारण था। 'भीड से बचो' यह एक व्यसन की तरह प्रचलित होता गया।

यह समझना गलत है आज का लेखक जनता की कमायी पर आश्रित नही है, जनता को मुख्य द्वार स निकाल बाहर करना और पीछे के द्वार से उसे घर म प्रवेश देना, यह अत्याधुनिक प्रवत्ति है।

क्योंकि वाह्य वास्तविक परिस्थिति से कुछ ग्रुप' प्रेरणा नही लेते, अत कलाकार भीतरी उत्साह को व्यक्त नही कर पाते, इसीलिए सह+अनुभूति' रखने वाले दोस्तों की जरूरत पडती है, 'मत्रीवाद' का यह भी एक कारण है। सहकर्मी या सहानुभूतिकर्त्ता की आलोचना ही सत्य हो पाती है अत आज के सजन म शास्त्रीय या 'सिद्धान्तवादी' आलोचक स वितृष्णा

---

१ द सोश्योलोजी आफ लिटरेरी टेस्ट एल० एल० शूकिंग लन्दन ततीय सस्करण १९५० ई०, पृ० ५८।

अनिवार्य हो गयी है। यदि सहधर्मियों के ऐसे 'ग्रुप' नहीं बन पाते तो सृजन का विकास रुक जाता है। हिंदी के पिछले कुछ वर्षों का सृजन इन्हीं 'ग्रुपों' के बनने-बिगड़ने का इतिहास है, गुटबन्दी के बिना 'रुचिबंदी' असम्भव हो गयी है!

आज आलोचक वह है जो किसी 'ग्रुप' का प्रवक्ता है अन्यथा वह 'अध्यापक' है!! इसमें सन्देह नहीं कि किसी 'ग्रुप' की 'रुचि' विशेष को 'जनता' तक ले जाने में इन आलोचकों का महत्वपूर्ण योगदान है किन्तु ऐसी आलोचना सीमित संकीर्ण और लफ्फाजी पर अधिक आधारित होती है। परिप्रेक्ष्य का बार-बार जिक्र करने पर भी सम्पूर्ण सृजनेतिहास से वह अलग-थलग पड़ जाता है। एक शब्द में वह 'वैज्ञानिक आलोचना' नहीं होता। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आलोचक स्रष्टाओं के ऊपर छा जाता है, उसी तरह जिस तरह मध्य युग में पुरोहित, मुल्ला और बन्दों—दोनों पर छाया रहा। शूकिंग के अनुसार जर्मनी में आलोचक नाटककार के ऊपर हावी है। जनता को, ग्रुप चेतना के आलोचकों द्वारा नासमझ मान लिया गया है।

यह सत्य है कि 'नया' लेखक पुरानी रुचि से विद्रोह कर नवीन रुचि गढ़ता है और वह रुचि 'जनप्रिय' बन जाती है किन्तु इधर जन प्रियता के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हो रहे हैं, उनसे यह साबित होता है कि रुचि' विशेष की अपनी श्रेष्ठता के स्थान पर मित्रों का प्रचार अधिक कारगर हुआ है। ये मित्र 'रुचिरक्षक' मित्र टेस्ट होल्डिंग) होते हैं और अनुकरण की विधि पर प्रसिद्धि होती चली जाती है। बार बार एक ही चीज सामने आने पर या भी उसके प्रति पसंदगी जाग्रत हो जाती है और रुचि' बदल जाती है। मैक्स लिबरमन का एक कथन शूकिंग ने उद्धृत किया है कि **इस चित्र को मेरे सामने से हटाओ अन्यथा मैं इसे पसन्द करने लगूँगा!!**[1]

प्रश्न होगा कि 'ग्रुपों' के अध्ययन से रचना के आन्तरिक सांस्कृतिक मूल्य पर क्या प्रकाश पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि जो एक 'ग्रुप की चित्तवृत्ति', रुचि, विचार और संवेदनाएँ हैं, उन्हें हर्गिज सभी जनता की चेतना' नहीं माना जा सकता। साहित्य के अध्ययन में यह भूल प्रारम्भ से ही होती आयी है पंडित रामचन्द्र शुक्ल जिसे 'जनता की चित्तवृत्ति' कह कर स्वीकारते हैं वह किसी एक ग्रुप' या कुछ 'ग्रुपों' की चित्तवृत्ति थी अतः

१ टेक द पिक्चर अवे ऑर आई शैल बिगिन टू लाइक इट, वही पृ० ९

'सामान्य प्रविधि' (जनरल मथोडॉलोजी) के रूप मे 'ग्रुप' को 'जनता' क रूप मे पेश करना एकाकी और भ्रात प्रविधि है।

कला मे उत्तराधिकार नहीं होता। यदि एक छोटा 'ग्रुप, एक नया आदश अपनाता है, इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य सब उसके अनुगामी हैं।[२]

यह अवश्य स्वीकाय हो सकता है कि अपनी 'रुचि' को जमाने की रुचि कहने से बहुत बार अच्छा सजन प्राप्त होता है। यही नहीं, नवतावाद म एक 'नवयौवन' या ताजगी भी होती है और यह भी कि इन्हीं ग्रुपों' मे वे 'ग्रुप' भी होते हैं, जिनकी 'रुचि' इतनी अतिवादिनी नही होती, जसी कि आज की उग्र पीढियो म दिखायी पडती है। इनके आदश और सवेग सवसाधारण के विपरीत नही होते, हाँ, कलागत उच्चता, गहराई और नवीनता अवश्य होती है। ऐसे 'ग्रुप' जगल की आग की तरह जनता म फलते है और समाज के बहुत बडे भाग को दिशा देते है या सवेदना सबोधन करते है। एस ग्रुपो स 'कालजयी' कृतियाँ भी प्राप्त हो सकती है। कलागत प्रतियोगिता म वही 'ग्रुप' या 'ग्रुप' का कोई कलाकार प्रतिनिधि' कलाकार बनता है जो अधिकाधिक और विविध मानव समूह की 'सह अनुभूति प्राप्त करता है अ यथा साधारण या मध्य श्रेणी की कुछ कृतियाँ देकर 'ग्रुप' पिछड जाता है। पिछले बीस पच्चीस वर्षों म यही 'ग्रुप-प्रक्रिया' कायरत रही है, स्पष्टत सभी रच नाओ से एक अच्छा सकलन तयार किया जा सकता है। किन्तु 'महान' और 'कालजयी' कृति या कृतियाँ कौन सी है इसका निणय आज की 'रुचि' नही कर सकती, 'कल' की 'रुचि' करेगी, 'कल' का वह मानव समूह निणय करेगा, जिसमे आज की वरेण्य कृतियाँ 'सस्कार' बन कर ढल जायेंगी। तुलसी, सूर प्रसाद शेक्सपियर, दांते आदि के साथ केवल उन्ही कलाकारो को 'क्लासिक' सना प्राप्त होगी।

---

२ वही, पृ० ५६।

अकविता . एक अनिबन्ध

"अकविता" की धारणा विवादास्पद हो गई है लेकिन, विवादियो सवादियो के तर्कजाल से, अलग हट कर सोचा जाए तो 'अकविता" उस कविता को कह सकते हैं जो कविता प्रतीत न हो। कविता हो लेकिन कविता की तरह न लगे—यह विरोधी कथन सा है लेकिन "कविता" नाम से प्रसिद्ध अधिकतर रचनाओ मे "काव्यभाषा" (पोयटिक डिक्शन) का प्रयोग होता आया है। यह काव्यभाषा, किसी बोली या भाषा का परिनिष्ठित परिष्कृत रूप होती है। इस बनी सँवरी या बनी ठनी भाषा मे शब्दो को, "ठेठपन" से दूर किया जाता है, उन्हे रतकर या "रिन्द" कर, चिकनाकर, इस्तमाल मे लाया जाता है। इस प्रक्रिया से गुजर कर शब्द, उच्चवर्गीय सांस्कृतिक स्पर्श देने लगते हैं, उनमे गरिमा, शिष्टता और महिमा आ जाती है। स्वभावत इस प्रकार की काव्यभाषा का रुख दैनिक ठोस जीवन नही, शब्दकोषो की ओर हो जाता है। सस्कृत भाषा का सम्पूर्ण साहित्य, इसी 'काव्यभाषा" मे लिखा गया है। उसके समानान्तर, 'अकविता' का स्पर्श प्राकृतो अपभ्रंशो के मुक्तको मे पाया जाता है लेकिन वही,, जहाँ कवि ठेठ बोली के शब्द प्रयुक्त करते है।

आधुनिक आर्यभाषाओ के मध्यकालीन रूप मे उक्त दोनो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती है। सूर-तुलसी और अन्य वैष्णवो की कविता मे, समग्रत, सस्कृत परम्परा का प्रयोग अधिक हुआ है। मसनन् जायसी की अवधी मे 'ठेठपन' अधिक है, तुलसी मे ठेठपन है पर वह सास्कृतिक बोझ के नीचे दबा हुआ है। कृष्णभक्त कवियो मे ब्रजभाषा का ठेठ रूप है लेकिन सूर के रूप-वर्णन, दार्शनिक प्रसग, प्रकृति वर्णन आदि मे परिनिष्ठित शब्दावली खुलकर प्रयुक्त हुई है। इसके विपरीत कबीर की भाषा मे 'अकविता' की प्रवृत्ति मिलती है—

लिखा पढी की है नही, देखमदेखी बात
दूल्हा दुल्हिन मिल गए, फीकी परी बरात।
का चूरा, पायल झमकाएँ, कहाभयो बिछुआ ठमकाय।
हावडि धावडि जनम गवाव
कबहूँ न राँक, चरन चितराव

कविता म कवि शब्द गढने छीलन छालने, रगने सवा ने पर ध्यान देता है, अकविता मे कवि, आम आदमी द्वारा प्रयुक्त शब्दा को सुनता है, उनको एक नया विन्यास देता है, क्रम मे रखता है और अपने विशष अभिप्राय के लिए, अकृत्रिम शब्दावली को इस तरह अपनाता है कि सदभ के कारण उनम नया अथ आजाता है। रोज व रोज के इस्तमाल मे शब्दो के साथ जो भाव नाएँ, कल्पनाएँ और सस्कार चिपट जाते है, वे कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दो के साथ हा वने रहते ह लेकिन नए अर्थो सकेता और मुद्राओ के कारण, ठेठ शब्द अनगढ पत्थर न रहकर, अनगढ हीरे वन जाते हैं—कवीर इस कला के सर्वोत्तम कवि थे और चूँकि वे निरक्षर थ इसलिए उन्हे कविता से अकविता की ओर बढने के लिए बनावटी कोशिश नही करनी पडी, उनके व्यक्तित्व के माध्यम से कविता स्वय अकविता वनकर निकल पडती थी।

वस्तुत वह कोशिश हिन्दी के प्रथम कवि सरहपा मे दिखाइ पडती है। सिद्ध व्यक्ति साधारण शब्द मे, गूढ गूँज भरते है। परिचित का रहस्यमय वना देना सिद्धा के लिए मामूली बात थी जबकि सस्कृत के साहित्य म शब्दो के तमाशे प्रस्तुत किए जा रह थे। यमक और श्लेष के जादू और बौद्धिक खीचतान के समानान्तर अगर सिद्धों नाथा और सन्तो (कबीर दादू नानक) की "अकविता" को आप गौर स देखे ता आपको यह लगेगा कि शास्त्रविरोधी, विद्रोही रवि एक नवीन प्रकार की कविता का आविष्कार कर रह थे।

सूर तुलसी सस्कृत के आचार्यो के प्रभाव म थे लेकिन कवीर, हिन्दू मुस्लिम पौरोहित्य क समूचे सस्कारा के ही विरोधी थे क्योकि पौरोहित्य-"विच्छेद" या "अलगाव" का कारण था और उससे, ऊँच नीच के भाव पर आधारित समाज का समथन होता था। परम्परा और भारतीयता (हिन्दू सस्कृति) के विश्वासी व्यक्ति इसीलिए सन्त कवियो को कविता-कला की दृष्टि से घटिया मानते है हिन्दू विश्वबोध के कारण ही, रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी वगरह आचाय यह नही देख सके कि विद्रोहियो की तोड़फोड अथवा परिनिष्ठित शिष्ट परम्परा के विराध की प्रक्रिया मे सरहपा गोरखनाथ और कवीर, एक विशष प्रकार की 'कला' को जन्म दे रह थे।

वास्तविकता तो यह है कि नवीन कला भी तो 'सयत्नज" और कभी 'अयत्नज" रूप म विकसित होती है। सूर तुलसी सचेत कलाकार थे, उन्होने सजो सँवरी कला का शिलान्यास किया था, रीतिकाल की ताजमहली नक्काशी की नाव मे भक्त कवियो की सस्कारिता थी लेकिन सिद्ध सन्ता की बागी जमाता म, एक दूसर प्रकार की कला विकसित हुई। इस पुणक्षरण्याय

से भी समझा जा सकता है। काठ को काटने वाला "घुण" पेट भरता है, कला का अभ्यास नही करता लेकिन घुण खाया हुआ काठ एक कलाकृति बन जाता है। कभी-कभी उसमे अक्षर भी लिख जाते हैं, तस्वीरे सी अंकित हो जाती हैं। सिद्ध और नाथ योगी, अपनी बात कहते हैं—लेकिन बात अनजाने ही अकविता बन जाती है। इस रहस्य का कारण यह है कि सिद्धो-नाथो सन्तो के पास परिवेष की विसंगतियो के प्रति नफरत के भाव थे, सदेश थे, और आलोचना थी। इस कथ्य या "कन्टेन्ट" की शक्ति के कारण साधारण शब्द, कुछ और ही भगिमा पा जाते है—

"बागड देस लुअन का डर है" —कबीर

ये शब्द रोज व रोजी शब्द है लेकिन प्रतीयमान जीवन को देखकर मनुष्य की आतरिक वेदना को कबीर समझते थे। हर कोई इस भीतरी घबराहट से मुक्त होने के लिए लूलपटा का सामना नही कर सकता, वह तो मालवा जाना चाहता है, जहाँ 'डग डग रोटी, पग पग नीर" है, लेकिन बागड देस की लूनपट का सामना किए बिना भला जीवन के रहस्यो का पता कैसे लग सकता है?

बागड देस लुअन का डर है
तहाँ जिनि जाइ, दाझन का डर है
देस मालवा गहर गभीर
डग डग रोटी, पग पग नीर।

इस प्रकार की अकविता, एक अचानक चमक (फ्लश) के साथ साधारण को गभीर बना देती है, बाहरी छूट जाता है, "भीतरीपन" खुलने लगता है—सच्चाइयो और साहचर्यों (असोसिएशन्स) का तमाशा शुरू हो जाता है और श्रोता अनुचिन्तन म ऊब डूब जाने लगता है। "मरमी" कहे जाने वाले सन्तो की 'अकविता' की यही विशेषता है। इसमे गभीर उलझे हुए, अदरूनी अहसासो को, सहज ही कह जाने की सिफत होती है, इसे सुनकर आदमी सिर नही धुनता, न छाती पीटता है, बस अपने मे गोता लगाना शुरू कर देता है, जुगाली करने लगता है और जितना ही सोचता है, उतना ही वह महसूस करता है कि पढे लिखे तो वे इस बात को, इतने बेलाग और सहज ढग से कह ही नही सकते थे।

इसीलिए मध्यकालीन 'अकविता' सीखने से नही आती, न वह किताबी दौर से गुजरने पर ही आ सकती है, वह तो जिन्दगी के सीधे साक्षात्कार

और फिर उसकी "जुगाली" (Brooding) के बाद, आम बातचीत की सभावनाओ की खोज से आती है जिसे कोई काव्यशास्त्री नहा सिखा सकता, —

"सीस उतार भुँइधर, सो पठे येहि माँह,
कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहि।"

इसी पुरानी कविता और तजुर्बे की अन्तहीन लडाई या पडित और औघड या आचार्य और 'मरमी" की लागडाँट का एक नवीन रूप आधुनिक अकविता का आन्दोलन है।

अकविता मूलत "नयी कविता" के 'कथ्य" और रूप की एकसरसता के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। नयीकविता यो तो छायावाद की 'काव्यभाषा' और उसके वायवी रोमानी दृष्टिकोण का विरोध करती रही है, लेकिन एक डेढ दशक के विकास म हो उसका रूप स्थिर होने लगा था। दूसरे वह नयी' कहला कर भी इस विषय म पुरानी ही थी कि वह 'काव्यभाषा" का ही का प्रयोग करती थी, इसके सिवा "कथ्य की दृष्टि से, नयीकविता", कुछ कवियो का छोडकर "व्यक्ति" को इतना अधिक महत्व देकर चली कि व्यक्ति सत्य और समूहसत्य परस्पर विरोधी कोटियो म विभाजित से प्रतीत होने लगे। अज्ञेय, भारती जगदीशगुप्त, साही वगैरह की कविताओ म, जीवन की वास्तविकताओ का यथार्थ रूप नही है, कही तो वह रोमानी है, कही अस्तित्वपरक है और कही मान सो दयवादी। उसमे अनिश्चिय, अवसाद कुठा, आत्मरति और अतद्व द्व का विश्लेषण अधिक है। सामाजिक शक्तियो के प्रति उसमे भय और अनास्था के स्वर है। अपने ही खोल म बन्द रहकर भुनभुनाते रहने की प्रवत्ति से नयीकविता का यह अश, अतर्मुख होकर वास्तविकताओ को सिर्फ 'स्व' के सन्दभ म ही देखता है। उसम अपने अह के वृत्त का अतिक्रमण करके, कोटि-कोटि इसानो की नियति का व्यापक 'विजन' नही है। नयीकविता, एक अपने बनाए घेरे मे क्रमश घिरती गई और इस जडता को तोडने की अनेक कोशिशो म एक कोशिश का नाम है — अकविता[1]

अकविता, "एण्टी-पोयट्री" का अनुवाद प्रतीत होता है लेकिन डा० श्याम परमार की राय यह है कि 'हिन्दी कविता मे उभरते हुए नये अदाज"

---

१ अकविता और कला सन्दर्भ —डा० श्यामपरमार

का अकविता कहा जाना चाहिए ।[1] लेकिन इस परिभाषा मे अति व्याप्ति है। नयीकविता के बाद, राजकमल चौधरी के 'मुक्तिप्रसग' मे निश्चय ही नया तत्व (कन्टेन्ट) तथा 'नयाअन्दाज' है लेकिन 'मुक्तिप्रसग' कविता की कृति है, वह अकविता नही है। इसी तरह 'अनागरिक', 'श्मशानी', 'युयुत्सा', 'आज की कविता', 'ठोस कविता' वगरह नय अन्दाज हैं लेकिन ये 'अकविता' के उदाहरण नही बन सकते। यों इनकी रचनाओ म अकविता का रग-ढग जहा तहा है। इसलिए अकविता को नयीकविता की प्रतिक्रिया म उभरते नवीन काव्य रूपो मे, एक विशिष्ट काव्यरूप ही कहना चाहिए। अन्य उभरते नये अन्दाज कवितापरक है जबकि अकविता का नया अन्दाज, ऐसी भगिमा प्रस्तुत करता है जो ऊपर से 'एण्टी पोयट्री' और भीतर से कविता है। 'अ' का अथ श्याम परमार निषेधवाचक नही लेते, यह अच्छा है। वह अकविता को एक विशेष प्रकार की कविता कहते हैं। लेकिन मेरी दृष्टि से अकविता का लक्षण, 'काव्यभाषा' के स्थान पर जीवन का भाषा के प्रयोग से निर्मित कविता है 'अकविता' के इस निष्कर्ष पर प्रसिद्ध अकवियो की भी बहुत सी रचनाएँ कविता सिद्ध होगी अथवा वे 'कुकविताएँ', भी प्रतीत हो सकती हैं।

> होगा
> सब कुछ होगा
> जो किताबो मे नही आया, वह सब होगा।
> जो अखबारो ने नही छापा,
> होगा जो किसी का इगित नही होगा
> किसी का कहा नही होगा।[1]

डा० श्यामपरमार की यह रचना 'अकविता' है, क्योकि इसमे 'काव्य भाषा' को छोडा गया है। यो तो 'नयीकविता' के पश्चात्—सप्तम दशक की कविता मे, *समग्रत 'काव्यभाषा' से बचने का प्रयत्न दिखाई पडता है* लेकिन कही-कही ही अकविता का अन्दाज उभर पाता है। एक 'काव्यभाषा' के स्थान पर दूसरी 'काव्यभाषा' का प्रयोग, अकविता नही है वरन ऐसे लहजे को अपनाने से अकविता बनती है कि सुनते या पढ़ते समय लगे कि आप कविता नही, कोई बात सुन रहे हैं और उस बात म कोई ऐसी बात है कि वह अकविता लगने पर भी कविता होती है—

---

१ 'सप्तम दशक की कविता' —राष्ट्रवाणी, १९६८ का विशेषाक
—सम्पादक—हरिनारायण व्यास

ऐसी ही पत्तियाँ हर साल निकलती हैं
हर साल ऐसे ही गुल खिलते हैं
हर साल अफवाह होती है कि वसन्त आ गया है।
कभी कभी तो सचमुच लगता है, आगया है।
लेकिन अजीब बात है कि हर बार एक जैसा ही होता है।
हर बार जहाँ जो खिलता आया है, वही खिलता है।
कोई खिलने से इन्कार नही करता।
नहीं, कुछ भी नहीं अप्रत्याशित
सब के सब उद्धरण बनने को लालायित।
लाचारियों का गवाह हूँ
क्या अन्तर पड़ता है, कोई खिले या विगत हो।
यह सब जो है, यों ही है।
क्या अन्तर पड़ता है अगर पास बैठा चमत्कारी हो या चुगत हो।
न कोई शरारत है न बदला है।
मजबूरियों का एक अन्तहीन सिलसिला है।
न चुनना है, न चुकना है
चुपचाप तकना है चुप चाप!
रितुराज हो या अन्य कोई और राज।[1]

यहाँ "स्व" और "पर" में कोई भेदक दीवाल नहीं है। परिवेश के संकट को, समझा ही नहीं गया है, सहा भी गया है और बाहर की विसंगतियों को सहते सहते लेखक के मन में इतनी गहरी नफरत भर गई है कि वह सीधे सीधे गुस्से को जाहिर न कर एक अजीब थके हुए तटस्थ स्वर में कहता है। यह पुरमजाक असम्पृक्ति, तलस्पर्शी तीव्रता से उत्पन्न होती है; यह रोमानी और व्यक्तिवादिनी नहीं है न यह अस्तित्ववाद से ही ग्रस्त है। लगता है, 'अकवि"—किसी तूफान के इन्तजार में है। इसलिए उसके पास कौन है, दूर कौन है इन सब बातों की तरफ उसका ध्यान नहीं है, यथार्थ का उस पर एक दबाव सा है और उस दबाव में वह 'गम्भीर" और 'हास्यास्पद" को मिलाने की कोशिश करता है यह एक 'भुगते हुए" का आत्मालाप है, जो

१ वसन्त शोपक एक अकविता

अनामुक्तता ना वास्तविकता के बाहरी भीतरी रूपों के साथ एक करने की कोशिश में है।

इस 'अकविता' में "अन्तद्वन्द्व" भी है लेकिन वह नयी कविता के व्यक्तिवादी 'अन्तद्वन्द्व' से भिन्न प्रकृति का अन्तद्वन्द्व है। उसमें सामाजिकता से चिढ़ नहीं है, उसकी असंगतियों को दूर करने की प्यास है। श्याम परमार का कहना है कि अकविता की बौद्धिकता अधिक प्रौढ़ और निर्मम है। नयी कविता की बौद्धिकता, किशोरों की बौद्धिकता थी, इसलिए नयी कविता में कलाप्रियता, रोमांस और वचिम्यप्रियता अधिक थी। अकविता सभी तरह के दिखावे के खिलाफ है। वह बेलौस और निर्मम मन स्थितियों की कविता है। "अकवि न जमने की चिंता करता है, न उखड़ने की। वह न यशियश प्रार्थी है न सामाजिक-सम्मान का उम्मीदवार। वह नये कवि की तरह अनिर्णय का भी शिकार नहीं है।"[२]

यहाँ तक तो सहमति हो ही सकती है लेकिन श्याम परमार सरकारी अफसर हैं—इसलिए विचारधारा" के प्रश्न पर वह भी नयी कविता के "प्रगतिशीलों" जैसा रुख अपनाते हैं। श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी वगैरह किसी भी विचारधारा को स्वीकार नहीं करना चाहते। वे तो 'निरुद्देश्य प्रतिक्रिया" का व्यक्त करने में अकविता' की सार्थकता मानते हैं।

नयी कविता भावुकता से पूरी तरह पीछा नहीं छुड़ा सकी और भावुकता असलियत को नंगा करके पेश नहीं कर सकती। इसलिए अकविता में एक 'औघड़ी निराकुलता" मिलती है जो विकृतियों पर सीधी चोट करती है और गन्दगी को गन्दे समझे जाने वाले शब्दों में भी कह सकती है। औपचारिक स्तर पर औपचारिक भाषा काम देती है लेकिन आम जनता में प्राय वर्जित या निषिद्ध शब्दों के प्रयोग से, सीधे मर्म पर चोट की जाती है, "जो तू बाभन बंभनी का जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया"—यह आत्म रक्षात्मक युद्ध शैली आम आदमी की है। यहाँ "बनावट" और 'बुनावट" और "सजटना" की चिंता नहीं की जाती। कुत्सित के अनावरण के प्रयत्न में स्वयं ही एक विशिष्ट "बुनावट' अकविता में आ जाती है। सतीश जमाली के 'एक और नंगा आदमी" में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है लेकिन इस संग्रह में बहुत सी बचकानी अकविताएँ भी हैं।

---

२ अकविता और कला सन्दर्भ

लेकिन सभी विचारधाराओ के प्रति अन्धी अस्वीकृति का क्या कारण है ? श्याम परमार के लेखन मे कोई विचारधारा निहित है ?

ऐसा लगता है कि श्याम परमार के मन पर जीवन की व्यथता और विसगतियो का आतक आवश्यकता से कही अधिक है। उनके अनुसार मनुष्य भटकाव के रास्ते स गुजर रहा है। स्पगुलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक—"पश्चिम र ह्रास' म कल्पना की है कि पश्चिमी सस्कृति उस "हिमबिन्दु" को छू रही है, जहा हर चीज जड हो जाती है। श्याम परमार इस "ह्रासवाद" से पीडित प्रतीत होते है। उनक अनुसार उक्त स्थिति मे हर एक व्यक्ति दुनिया मे बदला लेना चाहता है। आशाप्रद स्थितियो स नफरत होने लगती है। अत श्याम परमार 'अकविता' को टी० एस० इलियट के "वेस्टलण्ड" का आगामी चरण सिद्ध करते है।[1]

यहा श्याम परमार का मध्यवर्गीय शकालु मन प्रकट होता है। श्याम परमार जिसे "पश्चिम का पतन" कहते है वह वहाँ की "पूजीवादी सभ्यता' का पतन है, आम जनता वहा भी ह्रासशील शोषक वर्गों के विरुद्ध सघर्ष कर रही है। वह 'आशादीप्त स्थितियो" के प्रति नफरत नही करती और न भारतवर्ष की साधारण जनता निराशावाद से ग्रस्त है, न वियतनाम, चीन का आम आदमी ह्रासवादी है। वह साम्राज्यवाद के शोषण के विरुद्ध जान माल की बाजी लगाये हुए है। स्वय अमेरीका के नीग्रो और गरीब गोरे इस ह्रास के दर्शन को अस्वीकार करते है क्योकि निराशावाद अथवा लक्ष्यहीन घृणा स, स्थापित स्वार्थों का ही लाभ होता है। आत्म सजग और वर्ग चेतना से समृद्ध श्रमिको का विराट समूह दुनिया मे बदला नही, दुश्मनो से बदला लेना, चाहता है।

इसलिए हर एक विचार धारा से नफरत "सनकीपन" है जो 'कवियो" और विशेष कर कुछ 'नये कवियो" को भले ही शोभा दे, मूलत विद्रोही अकविता को शोभा नही देता। अकविता म दुश्मन के खिलाफ घृणा होनी चाहिए "दोस्तो' और 'दुनिया" क खिलाफ नही।

श्याम परमार का कहना है कि नये कवि "छुपाव" बरतते थे। वे सच्चाइयाँ को भर आँख देख नही सके। नये कवि बाह्य व्यवस्था स भयभीत थे। व उससे प्रतिष्ठा भी चाहते थ। वे साधन सम्पन्न भी होना चाहते थे, हुए भी। नतीजा यह हुआ कि तथाकथित नयी कविता' के कर्णधार अज्ञेय,

---

१ अकविता और कला सन्दर्भ

वे०, कुँअर नारायण, लक्ष्मीकान्त वर्मा, वगैरह के जीवन और 'दुराव' और 'दुविधा' की भरमार है। वे अपनी और दूसरो की समझौता और हथकण्डो का चुपचाप पी जाते हैं। वे अगर कुछ निहायत अहिंसक मुद्रा अपना लेते हैं। इससे आक्रमण, उपालम्भ ाता है। श्याम परमार का मत है कि अकविता इस आत्म विनाशक व' के विरुद्ध विद्रोह है। व्यक्ति और व्यक्ति के, शक्ति और सत्य क्ति ोर माज क मध्य जो विच्छेद' (एलियनेशन) है, उसे ुलेपन से ही दूर किया जा सकता है और इस तरह मनुष्य को ता के प्रति सचेत किया जा सकता है।

म इस बिन्दु पर परमार जी से सहमत हैं—लेकिन हम इस अकविता- स दुराव छिपाव के भी शत्रु हैं, जो उन्ह, वास्तविक विद्रोही नही । जो उन्ह नौकरशाहों, नट नेताओ, ठग ठाकुरो और अन्य "दिल्ली के के विषय मे मौन रहने को मजबूर करता है। श्याम परमार जगदीश सतीश जमाली (भूतपूर्व अकवि) वगैरह "अमूर्त" रूप मे, ाहिर करते है। वे नये कवियो की तरह ही नौकरी, घर और । चिन्ता करते है। अत उनकी कमजोरियाँ और उनके नतिक साहस ा अकविता की विशेषता नही है।

"अकविता" किसी भी तरह की कमजोरियो के खिलाफ बगावत का उसम निरन्तर सघष द्वारा इन्सानी हालात को बेहतर बनाने का ेना है या होना चाहिए। उसका ध्वस और पर्दाफाशीकरण अथवा ा। 'कारटूनीकरण" दुनिया से बदला लेने के लिए नही होना चाहिए एक गहरे "इन्सानी तसुव्वुर (वकील, शिवदान सिंह चौहान) के ार होना चाहिए।

इसलिए अकविता मानव मूल्यो, सपनो और आकाक्षाओ के उच्चाटन नही हो सकती लेकिन आश्चय यह है कि नयी कविता का विरोध ए श्याम परमार स्वय उसके 'निषेधवाद' के शिकार हो जाते हैं। ार के लिए 'अकविता का लक्ष्य है, परम्परा, पारस्परिक मानवीय , कला, सौन्दय, धम, दशन, आदश, मूल्य और प्रतिमान आदि का उच्चाटन।'[१] यह निषेधवादी विचारधारा का असर है। परमार जी ने

१ अकविता और कला सन्दभ।

यह नहीं कहा कि वह गुस्से में यह मत य द रहे है या वह गम्भीरता के साथ सब कुछ का निषेध कर रहे है ?

अगर श्याम परमार की अकविता, कविता से ऊबे हुए लोगो की वृत्ति है तो उक्त सब निषेध क्यो आवश्यक है ? अगर सबका निषेध किसी नवीन मनोदशा के लिए है तो किसी "मूड" के लिए सबका निषेध स्थायी नही होगा। 'मूड" इतना चचल और अस्थिर होता है कि नवीन से ऊबकर वह प्राचीन को भी अपना सकता है। 'मूड' का क्या भरोसा है ? इसलिए 'मूड' के आधार पर सबनिषेध की धारणा व्यापक स्वीकृति नही पा सकती। और विवेक की दृष्टि से तो "निषेध का निषेध" ही स्वीकृत हो सकता है। आज के सम्पत्तिवादी समाज के मूल्यो का निषेध होना चाहिए, परम्परा मे रूढियो और अन्ध-विश्वासो तथा मानवीय सम्बन्धो मे, 'परावलम्बन' का निषध होना चाहिए लेकिन सभी मानवीय मूल्यो के तिरस्कार से तो अकवियो का भी अस्तित्व खतरे मे पड जाएगा। जब मानवजीवन की कोई कीमत न रहेगी, तब इन्सानी रिश्तो की जगह किस तरह के रिश्ते श्यामपरमार चाहते है ? क्या "सब निषेध" का तक बचकाना तक नही है ? नयी कविता ने भी 'सब निषेध' का नारा नहीं लगाया था। वे तो 'मूल्यो" की भी चर्चा किया करते थे। वस्तुत 'सब निषेध' का रुख अपनाकर श्याम परमार, 'अकविता' के "कथ्य" को सीमित और सनसनीखेज बना देना चाहते हैं लेकिन जस नयी कविता म 'कथ्य' की दृष्टि से, मुक्ति बोध प्रगतिशील रुख अपनाते हैं, उसी तरह अकविता मे भी "कथ्य '—क्रान्तिबाधक होना चाहिए। दरअसल 'नये अन्दाज' के रूप म अकविता और कविता का भेद काव्य भाषा' के आधार पर ही, हो सकता है। फिर भी अकवियो के कथ्य को, नयी कविता के कथ्य से अलग करके देखना आवश्यक है —

१ निस्सग विश्लेषण—"नशा टूटता है कि वस्तुएँ नयी होकर इतनी क्रूर हो जाती है, "पहचान म नही आती।"

(अतुल भारद्वाज)

२ रोमास विरोध—' तमाम आवाज और चेहरे अपरिचित शत्रु है"

(जगदीश चतुर्वेदी)

३ प्रतिशोध की इच्छा— 'देह के गरिष्ट दन्तमो म आग लगाने और नगरो और महिलाओं की गरिमा का इतिहासान्त करने की इच्छा"

(जगदीश चतुर्वेदी)

(४) ऊब—"उबकर व्यक्ति तमाम जानवरो की फेहरिश्त मे खुद को शरीक कर लेता है" (सतीश जमाली)

(५) विद्रोह—हर एक "हाँ" जानवर बनाती है।
अजब-अजब करतब दिखाते दोपाये
बिना किसी चोट के औंधा कर जाती है, मजबूरी है।
देखो न, खुद तुम्हारे परो और सर के बीच कितनी बडी दूरी है।
(सतीश जमाली)

सिर्फ अरिम १९६७ में "अकविता" का गहरा रंग उभर सका है।
गंगाप्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, और श्याम परमार की अकविताओ के संग्रह "विजप" की अनेक रचनाओ मे, नयी कविता के बाद का नव्यतर स्वर है इसमे सन्देह नही लेकिन ये अकविताएँ, प्राय 'उथलेपन' से पीडित हैं। शोर, घोषणा, काट कचोट, मारधाड दडाड अधिक है। जिस काव्य भाषा' से अकविता बचती है या उसे बचना चाहिए, उससे विजप' के कवि बचने की कोशिश तो करते हैं लेकिन वे "अखबारी" होने लगते हैं। उनके अन्तर्मन म छिपे कविता के संस्कार उनकी अकविताओ को जहाँ-तहाँ दबोच लेते है। जगदीश की एक अन्य रचना लें—

"कोई नही है, जिसे शान्ति का अर्थ मालूम हो,
बर्ट्रेन्ड रसेल या सार्त्र या गाधी की आवाज अपराह्न म खो जाती है।
हल्ला कभी शब्द नही बन सकता।
भीड कभी भी शाति के लिए इकट्ठा नही हो सकती।
शाति के लिए इकट्ठा जन समुदाय मौत का साक्षी है।
केवल आपाधापी, केवल रक्तपात, कटे पिंड
रक्त पिपासुओ का तान्त्रिक गान[१]

यह 'अखबारीपन" अकविता को रचना नही बनने देता। 'विजप' इसी प्रवृत्ति से ग्रस्त है। अगर घोषणा परक कविताओ को 'अकविता' मान लिया जाए तो 'द्विवेदीयुग' की अनेक कविताओ को 'अकविता' मानना होगा। 'अकवि' यह भूल गए कि धूमिलता और दुराव के विरोध मे दूसरी "अति" पर पहुँचना खतरनाक है। अकविता' म स्पष्टता के बावजूद—आतरिकता

---

१ सप्तम दशक की कविता राष्ट्रवाणी, १९६८

चाहिए अन्यथा वह 'कुकविता' हो जाएगी। 'विजय' म "कुकविताओं" व्या काफी है।

चम्बल का पानी, ऊपर से बडा निमल और उथला दिखाई पडता है धारा म उतरत ही आदमी डूबने उतराने लगता है। अकविता इसी का कवि कम है—या मेरी दृष्टि से उसे ऐसा ही होना चाहिए। ऊपर से कुछ उथली और भीतर स गहरी रचना का एक नमूना पढ

रेडियोधर्मी धूल म साँस लेनी पडती है
इसलिए चुप हूँ।
आपका शायद यह ख्याल है कि नाटकीय होना सम्भव है?
तब गरम कीलियो पर निरथक वहकते,
सितारे सवाद बोलते नजर आते।
गुरुत्वाकषण के लिए घुटना अनिवाय है।
हर एक चुम्बक चुपचाप रहता है।
आकषण का एक एक वृत्त होता है
उसके उस पार के साथियो को—
सिफ जासूसी निगाहो से देखा जा सकता है।
कभी-कभी विस्फोट चुनौती बन जाते हैं
और मैं किसी जलते हुए नगर की तरह,
अपने चेहरे की तमतमाहट साफ
महसूस करता हूँ।
यह इस तरह होता है कि किसी को खबर नही होती
दीवाल मे एक ईट और जुड जाती है
वक्त जिमे घिसता नही,
छू कर सरक जाता है।
मुझे लगता है, मैं तुम्हे एक तस्वीर
और नकाब द सकता हूँ।
जहरीली गसों के बीच
इतनी सात्वना कम नही
होती।
और अगर तुम्ह लगे कि आस्मान साफ
हो गया है

या ऊसर फूला इन्द्र धनुषो स भर
गया है
तो इस मुखौटे की चुप्पी को
फक देना कतई मुश्किल नही है,
या फिलहाल मुझे ऐसी उम्मीद नहा
है।
मैं जानता हूँ, जिन्दगी अनजानी—
लिपि मे लिखी एक किताब है।
लेकिन मैं रहस्य सकता के पहले प न से
हो परिचित हूँ
आगे क अगर सिफ अपनी
वाशिदा स ही स्पष्ट हो सकत
हैं।
यह नही कि इरादा नहा है
लेकिन सार पन्न उलटन की
फुरसत नही है।
और हर रहस्य पूरी तरह
खुलन क क्षण म हमला भी तो
कर सकता है।
प्रत्येक सम्पक स—
अज्ञेय अक्षरो की कतार से कुछ
भेद स्पष्ट होकर सामने आते हैं
सलाम करते हैं।
और तब वह सम्पक बासी
हो जाता है।
उबकाई उठती हैं,
एक कड़ुवाहट उभरती है।
जो शायद कहती है
"अब कुछ नया उद्घाटित—
होने को है।"[1]

---

१ गालम र—एक अकविता

आतरिकता अथवा बाहरी मुसीबतो का, "आभ्यतरीकरण" तो एक अनिवार्य प्रक्रिया है, जिसके बिना न कविता सम्भव है, न अकविता। लेकिन 'गहराई' का मतलब यह नही है कि वह "गोरख-धधा" बन जाए।

बेतकुल्लफी के साथ बतियाते हुए चलने म खतरा यह है कि बात फलती चली जाती है। इस फलाव या बिखराव की भी थोडी बहुत चिन्ता अकवि को करनी होगी लेकिन—वार्त्तालापी अन्दाज म, अकवि, जल्दी ही बात के भेद को समझने के लिए इशारे करने लगता है। अगर पाठक इन इशारो को नही समझ पाता तो अकविता, कविता स भी अधिक दुरूह और उलटबाँसी सी प्रतीत होने लगती है। या, कविता के ठाठ (स्ट्रक्चर) को तोडने के लिए, अकवियो ने उलटबाँसियो, का प्रयोग किया है और अकों, नक्शो, रपटो, तथा वैज्ञानिक विवरणो को भी अपने तरीके से इस्तमाल किया है लेकिन 'एक और नगा आदमी" की आँकडेबाजी से कविता का ढाँचा तो टूटा है लेकिन अकविता की निर्मिति म बाधा आई है।

कविता स औपचारिक स्वर (टोन) को भगाकर उसकी जगह जिन्दगी के रोजनामचे के नजदीक पहुँचना—हर एक गली, मुहल्ले, बाजार और खेत खलिहान म ढलते फिकिरो, बकवासो और गम्भीरनुमा चर्चाओ सवादो बहसा, झगडो, गालियो, उपदेशा, भर्त्सनाओ अटपटे प्रेम वचना, बहुदगियो, चीख-पुकारा, आवाहनो—नारा नक्लो, भडतिया, स्वाँग हरराटो, शखियो, अकडूखा लहजो, इशारो और अतिशयोक्तियो, जल्लादी तेवरो और मासूम मुद्राओ म भरे बोला, कहकहा और चुहला, बुद्धिमत्तापूर्ण वचनो और पगलाए वाक्यो, गप्पा और एट्ट उच्चारणो, जिद्दी और अक्खी भाषा के नमूनो को जो मन म टाँक ले और सोचे कि इन्ह किन्ही खिप मतलबो और मन्शाओ को व्यक्त करने म कस प्रयुक्त कर यह अकविता की समस्या है।

अकविता सजीदगी और मसखरपन को एक साथ घोट पीस कर भी एक नया मुहावरा गढती है।

"प्रचलित" की जगह "चालू" 'सलावण्य" की जगह "नमकीन", 'ग्रन्थ" की जगह पोथा", "कपोत" के स्थान पर "कबूतर", भवन के लिए 'बग्र, कार के लिय "छकडा" "हस्तिनी नायिका" के लिए ढेला या बुल डोजर या टक, 'आदमी' के लिय "चाज" या 'पुर्जा' "व्याख्यान" के लिए "बकवास" और "स्वागत है, पधारिये" के लिए 'मर गए, आ ही गए, आइए" को इसलिए पसन्द किया जा रहा है कि सामाजिक सकट का

मुख्य कारण, "सफेदपोशों" (भद्रजनों के लिए) का अस्तित्व है। सफेदपोश अपनी 'गन्दी शिष्टाचार' द्वारा छिपाए रखना चाहते हैं। कथनी और करनी का भेद मध्यवर्ग की एक आम बीमारी होती है। इस स्थापित, सड़े हुए तबके को जो सिर्फ अपने और अपने घर के लिए, सब कुछ कर गुजरने को तैयार रहता है बरबाद किये बिना या दूसरे शब्दों में इसे शोषित वर्गों की ताबेदारी में लाये बिना, कोई रचनात्मक काम ढंग से नहीं हो सकता—

कबिरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ
अब घर जारे आपु का, जो चले हमारे साथ।

"घर", "खान्दान" और जाति' — इन तीनों के आधार पर ही भद्रलोक के मूल्य विकसित होते हैं। लेकिन ये तीन ही आदमी को जानवर बनाते हैं। जो घर और परिवार में 'आदमी' सा लगता है, वही 'सम्बन्धियों' के लिए, दुनिया के सारे पशु-पक्षियों के काम करता है। इस निजी सम्पत्ति के मसले ने अच्छे खासे आदमी को क्या बना दिया है, इसे देखने के लिए किसी भी 'भले आदमी' का विश्लेषण—निरीक्षण रोचक साबित होगा। एक ही आदमी २४ घण्टों में अनेक योनियों से गुजरता है। शिकार करना अगर उसके स्वार्थ के लिए जरूरी है तो वह किसी भी धर्म ग्रन्थ की या कोई दार्शनिक गवाही पेश कर, फौरन लकड़बघ्घा बन जाएगा। गरिमा और 'गौरव' से समाज में इज्जत मिलती है और "प्रतिष्ठा"[1] एक प्रकार का वित्त विनियोग (इन्वेस्टमेण्ट) है जिसके बदले में पद, धन, प्रभाव वगैरह सब आता है। यों भी आदमी को झूठे घमण्ड में मजा आता है, उस "भरम" पालने में, मरगिल्ली पालने से अधिक दिलचस्पी रहती है। असलियत से आँख मिलाना मुश्किल सौदा होता है। कोई अकवि ही इतना औघड़ हो सकता है जो अपनी अदालत में कसम खाता है—"सच कहूँगा और सच के अलावा और कुछ नहीं कहूँगा।"

अकविता इस धोखेबाज, शौकीन, दयनीय, घमण्डी और "शानदार कसाइयों" के गिरोहों की नकाब उतारना चाहती है। जब साहित्यकार अपनी क्रान्तिकारी भूमिका को पहचान लेता है तब वह भाषा के औजारों

---

१ "अज्ञेय" हो या सेय
दूसरों को समझते हैं हेय
हाय रे श्रेय

—गोपाल कृष्ण कौल

को तेज करता है— अकविता "गरिमा और गौरव" के तेवरों को तराश कर असली "दुनिया", सामने पेश करना चाहती है। और टटपूंजिया मध्यवर्ग, जिसके पास भ्रमों को छोड़ कर और कुछ नहीं होता, इस 'तूफानए बद-मगजी" या "कविता के अश्लीलीकरण" या "विकृत रुचि" पर चिढ़ता है क्योंकि मध्यवर्ग जान-अनजान उच्च वर्ग की दलाली का ही काम करता रहता है। उच्चवर्ग निम्नवर्ग को ठगता है लेकिन उसके हर एक गुस्से और-गुर्राहट को, मध्यवर्ग, अपने "सौम्य" जीवन दर्शन और अल्प सम्पत्ति के भय पर आधारित "सुकुमारता" के कारण थपकियां देता है। 'प्रबुद्धता" और "भद्रता" के रौब से पीडित भीड़ फिर चुपचाप अपने घाव चाटने लगती है—

> "सुनिये, मैं दीमक या नमक बनकर इस मलब को नहीं लगना चाहता
> मैं असली दुश्मन को जानता हूँ, किताबों की दुरबीनों से
> अपनी आखें फोड़ना बेवकूफी है"।
> मैं मैं चाहता हूँ हमला करूँ।
>
> पर उसके पहले छत पर कब्जे के लिए
> कुछ खरोंच कर तो देख लूँ कि सधि कहां है?
> जहां तुम्हें और मुझे किसी दिन कमन्द के साथ फेंका जाना है।
> न हो सका तो कलम से एक ईंट तो उखाड़ ही लूंगा।
> अब भय समझने से ज्यादा रोचक है। फ्यूज उड़ा दिया जाय।
> आ रहा है, चलो किसी तकिये पर कोई अगर निश्चिन्त सिर हो,
> तो उसे जलतरंग की तरह बजा दिया जाए।
> सुविधाएँ जुटाने जुटाते सुविधा जी" के 'पिता जी" होने से
> यह अच्छा है
> बरग लिफाफों में भर कर प्यारे ५२ करोड़ भाइयों को
> बरर, ततया, बिच्छू साप वगरह सादर भेज दिए जाएँ।
> एक भारी गाली,—अपने चेहरे पर, जड़ कर
> और एक हवा में फटकार कर,
> कह दिया जाए, कह दिया जाए, कह दिया जाए!!!
> क्या!!! अरे यह तो भूल ही गए!!
> खर कोई बात नहीं।

१ त्रिलोकिया जमात का मन—एक अकविता

क्या खुशनुमा कविता से "केन्द्रीय कष्ट" दूर करने का माहौल बन सकता है ? हर एक रचना, अगर उसमे दम है, तो वह मनुष्य को किसी न किसी स्तर पर, संवारती है, उसे कुछ न कुछ अवश्य बना जाती है अथवा झनझना ही जाती है लेकिन "केन्द्रीय विकृति" को नष्ट करने के लिए छुट पुट फायदे पहुँचाने वाली पुडियो की तरह खुशनुमा कविताएँ, आदमी को सघर्ष के लिए तयार नहीं करतीं। वे उसे उस स्थान पर एकत्र नही करती, जहाँ इतिहास के फसले होते हैं।

अकविता कुल्हाड़ी होती है जो पत्तिया और शाखाओ को बाद म काटेगी, पहले जड पर चोट करेगी। "दिल्ली की अकविता" म भी आक्रोश बहुत है लेकिन वह जड को छोडकर तने की छाल छीलने या दो चार डाले उडाने के काम को ही बहुत, बडा काम समझ रही है। इस सन्दभ म श्री गिरिजाकुमार माथुर की एक 'अकविता' का उल्लेख जरूरी है। माथुर जी न अप्रल, १९६९ म, आकाशवाणी भवन म, श्री गोपाल कृष्ण कौल द्वारा सयोजित एक गोष्ठी म "देश की ट्रैजडी" शीषक एक अकविता पढी थी। इस चना के आगे, उनकी पहली खुशनुमा कविताए फीकी पड जाती है और वास्तविकता नग्न होकर सामने उतर आती है। "अकविता" की धारणा का यह दमदार प्रयोग है।

यह सोचना गलत है कि 'अकविता' सिफ सामयिक सकटो क दूर करने का ही माध्यम है अथवा वह उच्चवर्गीय कविता की हदो का फलाव मात्र है। अकविता म मानव जीवन के गूढ अनुभवो और मानसिक लहरो को, बडी सूक्ष्मता लेकिन सहजता क साथ व्यक्त किया जा सकता है। नयी कविता जहाँ बिम्बो की तलाश म व्यथ भटकती रही, वहा 'अकविता' अनायास आस पास के जीवन को गौर से देखती सुनती है और साधारण बातो और सवादो मे थोडी सी मरोड पदा करके उन्हे व्यजक बना देती है, "भ्रमभग" को इस तरह भी कहा जा सकता है —

भरम मिट गया हो तो चल।
समय कोई फल नही है जो तराशने से तितिर बितर हो जाए।
और न हवा कोई कची है,
जिससे हम एक दूसरे को काट कर,
आपकी नाप के कपडे सिए।

हम अभी तक सबको अपना भागीदार समझते थे
लेकिन ये तो गवाह भी नहीं है हमारे भ्रमों के।
छिपते बचते हम कितनी दूर निकल आए हैं।
लेकिन खुला आसमान भी हमें तराजू सा तौलने लगता है
हर एक चीज वजन आकने की फिराक में है
जिस तालाब से पूछा, वही किसी बूढ़े की तरह
सिर हिलाने लगता है।

× × × × ×

उत्तरों की जगह, बहाने गढ़ना, महज बचपना है।
अपनी छाया को छोड़कर, किसी और का साथ,
एक दिल्लगी है दुर्घटना है।
हमने पागल बनकर भी देखा,
चालाक और बेवकूफ बनकर भी
कुछ नतीजा नहीं निकला।
कोई कहीं बचाव नहीं है
और हम हैं कि बैठे ताक रहे हैं
बहुत हो लिया, अब टलें।
भरम मिट गया हो तो चलें।[1]

कविता के विधि निषेधों एवम् कविता की परम्पराओं और मर्यादाओं की चिंता अकविता नहीं करना चाहती। 'एकसापन'' तोड़ने के लिए यह आवश्यक भी है। अकविता कविता की ' स्नाबरी'' या ऊँची नाक होने का भरम''—तोड़ती है वह पैसे और प्रदर्शन पर आधारित, बड़े और मँझोले वर्गों के स्वाँगों से घृणा करती है। वह उन सब सैद्धांतिक चालाकियों और बदतमीजियों की धज्जियाँ उड़ाती है जो तरह-तरह की लफ्फाजी द्वारा ''जनप्रिय संस्कृति और, कविता तथा प्रबुद्ध और समृद्ध वर्ग की संस्कृति और कविता'' को समानान्तर दिशाओं में चलाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि कविता और साहित्य में इस तरह की भाषा का प्रयोग हो जो सिर्फ थोड़े से

१ भ्रमभंग—एक अकविता

हलको मे ही वह सीमित रह जाए क्योकि साहित्य की इकलौती ताक़त को वे मन ही मन समझते है। मगर अफ़सोस यह है कि झूठी शान और इज्जत के भूखे नवकवि इस षड्यन्त्र को समझ नही पाते, वे नही जानते कि लाखो-करोडो लोग, जीवन की निरन्तर लडाई के दौरान, उस "काव्य भाषा" को गढ रहे हैं, जिसके शब्द अनेक प्रसगो मे प्रयुक्त होकर, "सिद्ध" हो जाते है— इन 'सिद्ध' शब्दो, कहावतो 'और' मुहावरो' के प्रयोग से सभी प्रसग, पाठक के मन मे चमक उठते हैं। अकविता ऐसे ही जन जीवन के अनेक पक्षो और प्रसगो की चाशनी मे लिपटे शब्दो के इस्तमाल की पक्षधर है।

जनशब्दो मे प्रसगो के छिपे रहने के कारण बडी सजकता होती है। जिस तरह मन्त्र के शब्द, देवता, उसकी शक्ति उसके वाहन और उसके चमत्कारो के "ध्यान" से "सिद्ध" या कार्यक्षम बनते है अर्थात वे एक दीर्घ मानसिक केन्द्रीकरण से गुजरते है, उसी तरह जीवन के वास्तविक प्रसगो का स्पर्श, अकविता को जनजीवन और उसके सुख-दुख से जोडे रहता है—पुराने मर्मी सन्त और सिद्ध शब्दो की इस "जन शक्ति" से परिचित थे, इसलिए वे प्रचलित शब्दो का "सामान्यीकरण" करके गूढ अर्थ भर सकने मे कामयाब हुए थे—अकविता इस विधि को पकडती है —

"कहिए कसा लगा ?"

यह बात आप गुलाबजामुन खाते हुए लोगो के मुँह से भी सुन सकते हैं, कोई दृश्य देखते हुए मित्रो की मण्डली मे इसे सुना जा सकता है लेकिन इस बात का "सामान्यीकरण" करिए तो यह प्रश्न जीवन व्यतीत करने के बाद किसी व्यक्ति से भी पूछा जा सकता है या खट्टे मीठे अनुभव पाए हुए किसी व्यक्ति के सन्दर्भ मे इसे यो कहा जा सकता है —

कहिए कसा लगा ?
पहाड से गिरा, धड रेत मे, सिर ऊपर।
तुम्हे ऊँचाइयाँ पानी थी, मुझे पढ कर
कुछ मिला ?
कहिए कसा लगा ?

जिन्दगी की विसगति और मुसीबत का यह साक्षात्कार है लेकिन यहाँ कविता की "वडनक्कू" शब्दावली का प्रयोग नही है।

तो, उसे टटोलना खोदना और खरादना
शायद किसी घाटी मे कोई गोद हो,
और कोई बाप के कंधे जैसा कोई कोना हो,
कौन जानता है, किसी पूरब जनम मे तुम्हारा—
सुहागिन, "शान्ति के समुंदर" मे कोई प्यार का—
पाती छिपा आई हो।

कभी-कभी तो तुम्हारे मुहल्ले की अप्सराएँ—
उल्काएँ बन कर वहाँ तुमसे आकर टकरा सकती हैं।
कुछ पता नही चलता, कौन जाने चंद्रमा ने
तुम्हारी चाहत परखने के लिये, अपना मेकअप
वदल लिया हो।

कहीं न कहीं चरखा कातती हुई बुढिया, हिरन और खरगोश
की कहानी सुना रही होगी।
यंत्रो की घरघराहट मे अक्सर मुलायम
दास्तानें दब जाया करती हैं।

और बुढिया का भी क्या भरोसा,
अपना चरखा, हिरन और खरगोश लेकर वह
तुम्हे आते देख मंगल, शुक्र या सनीचर की
तरफ चली गई हो।

उसे पता है, तुमने इन्सानी रिश्तो को, बटनो, बुलटो,
और बमो मे बदल दिया है।

फिर भी डोकरी मा से कहो, चाद पर आदमी आया है
उसे एक मौका और दिया जाए।

हो सकता है आकाश गंगा की किसी बूँद से
उसकी फितरत ही बदल जाए।[1]

अकविता कविता को एक नया रंग देना चाहती है। वह लोक-कविता नही है लेकिन कविता को लोक के नजदीक लाना चाहती है। इस काम मे,

---

[1] चंद्र यात्रा—एक अकविता

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति बाधक है, संकुचित सौन्दयबोध बाधक है जो लोकशब्दो के स्वर जसे लचीलेपन से परिचित नही है। इसीलिए अकवि' के लिये वर्गचेतना' अनिवाय है। अकवि सौदय और साथकता के लिये, विराट जन जीवन और प्रकृति को देखता है, वह अपने मन की हर एक हरकत पर गौर करता है, अपने से खूब उलभता है लेकिन हर एक लहर को रूपायित करने के लिये भौतिक जीवन मे कही न कही प्रतिमा अवश्य है। वह सिफ किसी एक व्यक्ति के वत्त मे या उसकी जमात के घेरे मे नही मिल सकती, उसके लिए जीवन की विशद् प्रक्रियाओ को, सहानुभूति से सोचना समभना होगा—मानसिक प्रक्रिया बहुत बारीक और धूमिल हो सकती है लेकिन व्यापक जीवन प्रक्रियाओ म उसकी हर एक हलचल का प्रतिबिम्ब कही न कही अवश्य छिपा हुआ है—यह खोज ही अकवि को चहार दीवारो को लाँघने के लिए प्रेरित करती है।

सभी काव्यान्दोलन एक सीमा खीच कर, उसम बन्द हो जाते हैं। सजनात्मक शक्ति के केंद्रीकरण के लिये यह जरूरी भी हो सकता है लेकिन उसे तोडना भी जरूरी है। अकविता, अब तक की काव्य परम्परा और 'शास्त्रीय सस्कार' को तोडती है और जिन्दगी के अन्तहीन विस्तार की तरफ ले चलती है। पिछडी हुई और परावलम्बी सस्कृतियो क प्रबुद्ध कलाकार, अकवि मनोवत्ति द्वारा अपनी जाति के विकास या कायाकल्प म मदद कर सकते हैं।

कुछ मित्रो का कहना है कि हर नये आन्दोलन का समथन जल्दबाजी है। बात सही है लेकिन इन पक्तियो का लेखक, भारतीय स्थापित व्यवस्था के विरोध का समथक है लेकिन समथन का अथ श्मशानी पीढ़ी, अनागरिक कविता, युयुत्सापरक लेखन बीटनिक या दिगम्बर कविता का अधसमथन नही है, न कोरी वाहवाही से इन नय स्वरो की सम्भावनाओ का विकास हो सकता है। हिन्दी म किसी आन्दोलन को व्यापक सन्दभ म रखकर समभने की उतनी कोशिश नही होती, जितनी उनम किसी एक क अनुसरण और अ यो के विरोध की। मसलन् किसी 'उत्कृष्ट अकवि' के अभाव म, अकविता की धारणा और उसकी सभावना को भी मजाक म टाल दिया जाता है अथवा 'नयी कविता' क प्रति पापापरक रवय्या अपनाने वाले डा० जगदीश गुप्त उस नयीकविता की ही एक मुद्रा कहन लगत हैं जबकि अकविता कवितामात्र क खिलाफ चलकर रचना सम्भावना की खोज है।

इसलिए अकविता की धारणा मे बल जरूर है। अगर हिन्दी के अकवि कमजोर हैं तो दोष उनका है। गिरिजाकुमार माथुर ने, अकविता से प्रेरणा लेकर कुछ बहुत सशक्त अकविताएँ लिखी हैं, औरों पर भी असर है जो राष्ट्र-वाणी के सप्तम दशक की कविता के अंक मे देखा जा सकता है।

रचना क्षेत्र के आन्दोलनों और सम्प्रदायों की मुक्त प्रतियोगिता जड़ता तोड़ती है और हर एक लेखक अनूठेपन की तलाश करने लगता है। दो दो चार चार मिलकर कुछ नया गढ़ने के लिए उतावले हो जाते है, लेकिन किसी रंग या अन्दाज को अपनाकर उसकी सभी सम्भावनाओं को समाप्त करके ही उसे छोड़ना चाहिये। इससे रोज रोज की 'दलबदलपन' से मुक्ति मिलेगी।

नयी कविता की "मुक्तिबाधक" (गजानन मुक्तिबोध, शमशेर, त्रिलोचन वगैरह) धारा ही, 'कथ्य" की दृष्टि से अकविता और अन्य स्थापित व्यवस्था के विरोधी काव्यान्दोलनों में फूट पड़ी है लेकिन इससे कविता के ही रूपान्तरण की स्थिति आ गई है। अधिक बहकने पर, इससे रचनात्मकता की भी हानि हो सकती है, हो भी रही है—लेकिन अगर 'नाम और नामा" के लिए, 'बहुरूपियापन" के खिलाफ लड़ाई तीखी हो उठे, तो असली माल की ही तारीफ होगी और कूड़ा करकट अलग छँट जायगा। साहित्य क्षेत्र मे भी मुखौटों की भरमार है, इन्हे उतारना होगा।

अकविता के विषय मे यह मेरा अपना ख्याल है, यहाँ जो अप्रकाशित उदाहरण दिये गये है, उनका मंशा सिर्फ नुक्ते को स्पष्ट करना है, यह दावा करना नही कि ये "अकविताएँ' श्रेष्ठ है या जो "प्रसिद्ध अकविताएँ" हैं, उनमे कुछ भी अच्छा नही है।

असलियत यह है कि अपने को स्थापित करने के लिए भी बहुत से रचनाकार उन तर्कों को अपना लेते है, जिनमे उन्हे विश्वास नही होता। "व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह" के तर्क को दुहराते हुए ऐसे बहुत से लेखकों को देखा जा सकता है जो यही नही जानते कि इस व्यवस्था का रूप क्या है, इसे कैसे मिटाया जा सकता है और इसकी जगह जो दूसरी व्यवस्था बनेगी, वह कैसी होगी? साहित्यकार हर एक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने को अभिशप्त है अथवा क्या कोई ऐसी व्यवस्था बन सकती है, जिसमे डालें और पत्तियाँ ही छाँटनी पड़े, जड़ काटना अनावश्यक हो जाय।

इस तरह के प्रश्नों पर स्पष्ट चिंतन का बहुत अभाव है। नतीजा यह होता है कि व्यवस्था के विरोध में प्रायः युवक लेखक अमूर्त आक्रोश प्रकट

करते रहते हैं, श्मशानी पीढ़ी और अकविता के शिविरों में यह प्रवृत्ति स्पष्टत देखी जा सकती है। निर्भय मल्लिक अगर सिर्फ गन्दगी और गिलाजत को ही सामने लाने को विद्रोह समझते है तो अकविता अश्लील होने का ही अपना मजहब बना लेती है। लेकिन बिना जागरूक सामाजिक चेतना के, विद्रोह अन्त मे स्वयं अपने ही विरुद्ध होने लगता है। लेखक वास्तविकता को सही पहचान के बिना "सनकियाने" लगते है, अथवा वे पहचान (रिकॉगनीशन) के अभाव मे घृणावादी होने लगते हैं। लक्ष्यहीन नफरत, घृणित की रक्षा करती है और 'नफरती" को ही खा जाती है। इस प्रकार की नफरत और बौखलाहट आजकल रामदरश मिश्र जसे नयी कविता के कुछ "छुटभइयों" मे बहुत अधिक है। उनके नीचे की जमीन खिसक रही है उनकी बनावट, बुनावट और विकनाइन दिवालिया हो गया है, भविष्य "अभिनव कविता" और "कलात्मक" अकविता का है।

सप्तम दशक की कविता

कई मित्र पचासोत्तरी, साठोत्तरी पीढी का विभाजन नही मानते। लेकिन किसी नए रस की पहचान और उसके रेखाकन के लिए ऐसे नाम सुविधाजनक होते है और उन्हे इसी रूप में ग्रहण भी करना चाहिए।

पिछले दशक में 'नए कवियो' के हलको मे अक्सर सुना जाता है कि सप्तम दशक अथवा साठोत्तरी पीढी म कोई अभूतपूर्व बात नही है। नवीनता का आदोलन अनाडियो के हाथ पडकर अराजक स्थितियो मे बदल रहा है और यदि सप्तम दशक मे कही कुछ अच्छा है तो वह नई कविता का ही शाखा प्रसार है। अत नए कवियो के प्रति नयतर तरुणो का आक्रोश प्रतिष्ठा प्राप्ति की सस्ती कोशिश है। इसीलिए राजकमल चौधरी, केदारनाथ सिह, श्रीकात वर्मा, कैलाश वाजपेयी, विशेषकर अद्वितीय विद्रोही कवि राजकमल को अज्ञेय भारतीय जगदीश गुप्त वगरह उतना महत्व नही देना चाहते और इनके बाद के धूमिल चद्रमौलि, मृत्युजय आदि सवथा ताजे कविया तथा श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी, गगाप्रसाद विमल को वे कुछ 'पराया' सा अनुभव करते हैं।

सप्तम दशक की कविता नई कविता के आत्मपीडक स्वरो और अनात्मक मुहावरे को पीछे छोड रही है। या प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए सप्तम दशक के नव्यतर कवि, अज्ञेय-भारती वगरह की खुशामद भी करते हैं। जगदीश गुप्त यह साफ महसूस कर रहे है कि उनका तलाक कर सप्तम दशक अपने रूप का स्वतत्र अनुसधान कर रहा है। 'धर्मयुग' मे गुप्तजी के लेख मे उनकी हीनता की भावना स्पष्ट प्रकट हुई है। उन्होने मुझ पर भी, एक निन्दात्मक अन्दाज मे, यह आरोप लगाया है कि मैंने 'सूर्योदयी कविता' को नई कविता की अध्यात्मवादी शाखा क्यो कहा, और यह कि अज्ञेयजी को वीरेन्द्रकुमार जन और सुमित्रानन्दन पन्त के साथ नत्थी क्यो नही किया। लेकिन गुप्तजी स्वय जानते हैं कि अज्ञेयजी तब तक "स्पष्टत" नव रहस्यवाद के पक्षधर नही थे। फिर किसी प्रवृत्ति के निर्देशन के लिए नामो की बारात जरूरी भी नही है।

म 'नई कविता' के द्वारा प्राप्त नया शिल्प, नवीन काव्यरूप और मुहावरे का योगदान स्वीकार करता हूँ, लेकिन नई कविता के 'कथ्य' मे सभी स्वर गतिशील नही है। पश्चिमी योरोप की नकल मे जिन मानसिक स्थितियो और निमू ल्य ;"सोचो" के नेक्टस यहाँ रोपे गए थ, उनका विरोध तब हमने किया था और इस सप्तम दशक मे ण्व्यतर किशोर भी विरोध कर रह है। प्रतिगामी स्वरो के कारण नई कविता का एक हिस्सा और नए कवियो के कुछ वक्तव्य प्रतिक्रांति क प्रतीक बनते गए, फल्त नई कविता के प्रचारक कवि जगदीश गुप्त यदि नम्यतर विकास से कुछ चिढे हुए लगते हैं, तो इसमे आश्चर्य की बात क्या है ?

नई कविता मे अंग्रेजी टी एस इलियट की तरह एक ओर जा पडे है, तो एजरा पोंड की तरह विम्बवादी कवि जगदीश गुप्त 'हिमविद्ध' होकर ही रह गए। यह तुलना भी अपने आप म अधूरी ही हे (प्रत्येक तुलना अधूरी होती है) क्यो कि अंग्रेजी टी एस इलियट का "विजन" नही पा सके और न समकालीन सभ्यता और इतिहास के सकट और सम्भावना को कस कसकर काव्य पक्तियो मे दबा सके। जगदीश गुप्त की एजरा पौंड से तुलना तो वस्तुत हास्यास्पद है। लेकिन "किचित् साहश्य" भी तुलना के लिए आधार बन जाता है। वस्तुत जगदीश गुप्त कुछ थोडी सी चित्रकारी ही कर सके, वह 'नई कविता' के सम्पादक हैं, कवि सम्पादक से वडा होता है।

धमवीर भारती 'अधा युग' क बाद ठडे होते गए। "कनुप्रिया' तो भावुकता से ग्रस्त रचना है और स्वतत्र रचनाओ म उनका 'क्षयी रोमास' पीछा नही छोड सका। साही को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली।

इन आदोलनी' कवियो की तुलना मे कुँअनारायण ने अलग रहकर काम किया। चिन्तनशील नए कवियो म उनक आत्मजयी' का कवि स्मरणीय रहेगा, लेकिन "आत्मजयी' कृति बनते-बनते रह गया, ऐसा महसूस होता है। इस अधूरेपन का कारण अस्तित्ववादी चिन्तन की गहरी अवधारणा का अभाव है या अन्य कुछ, यह तो कहना कठिन है लेकिन कुँअरनारायण का नया मुहावरा भी चिन्तन की गहराइयो के अभाव को ढक नही पाता।

सबसे निराले और सबसे अधिक उपेक्षित मुक्तिबोध ही 'नई कविता' के सर्वोच्च कवि बन सके। इसका कारण यह है कि व्यक्तिमानस और समूह मानस के अन्तद्व द, असगति और समायोजन का बोध सर्वाधिक मात्रा म

मुक्तिबोध को हुआ था। अज्ञेय की तरह उनमे 'आयातित' माल नही है उन्होने कविता को खुद सघर्ष करके उपलब्ध किया था। अज्ञेय हिन्दी काव्य मे नए प्रारूप ला सकते हैं, किन्तु प्रारूप (मॉडल) मे व्यक्त तो अन्तत कवि ही होता और अज्ञेय मे चिन्तनशीलता होने पर भी उस 'ताप' का अभाव है जो केवल जिन्दगी की लू लपट से मिलता है।

'द्वन्द्वबोध' एक रूप मे मुक्तिबोध म व्यक्त हुआ था तो अपने प्रयोगशील रूप मे वह शमशेर मे प्रकट हुआ और सरलीकृत रूप मे केदार अग्रवाल मे। अब वही द्वन्द्वबोध' सप्तम दशक म केदारनाथ सिह, धूमिल, विजेन्द्र भारत रत्नभार्गव, वीर सक्सेना, धनजय कौल, रणजीत, हरीशभादानी, जगदीश चतुर्वेदी, चन्द्रमौलि, मृत्युजय आदि मे व्यक्त हो रहा है और यह द्वन्द्वबोध उसी क्रातिबोध की परिणति है जो प्रगतिवाद द्वारा अस्तित्व मे आया था, अत वह नई कविता की शाखा–प्रशाखा नही है। वस्तुत प्रगतिशील क्रातिबोध की ही यह शाखा प्रशाखा सप्तम दशक मे विकसित हुई है जिसका मूल निराला के 'नए पत्ते' और 'कुकुरमुत्ता' म है और जो प्रयोगवाद के ऊबड–खाबड माग से मुक्तिबोध, शमशेर जसे रचनाकारो को गढता हुआ सप्तमदशक के किशोरो म फल गया है और अपने धक्के से अज्ञेय भारती जगदीश गुप्त आदि को एक ओर धकेल कर तरुणो के स्वरो मे गूज रहा है। पिछले दशक के क्रातिविरोधी, प्रतिबद्धता विरोधी, मानव के ठहराव, सदेह और अनिश्चय को ही उसका "स्वरूप" समझनेवाले "आदोलनी" कवियो को यह देखकर आश्चय हो रहा है कि जिस विद्रोह को रोकने या पथभ्रष्ट करन के लिए उन्होंने इतने उपाय किए थे वह फिर साहित्य म प्रमुख हो गया है और उसकी "कोडा मार" भगिमा स 'मुलायम लेखक" सत्रस्त हो उठे हैं।

यह सत्य है कि सप्तम दशक 'आइडियालाजी" से बधना नही चाहता, लेकिन सिद्धान्तशास्त्री जिस अहसास और बोध को विचारव्यवस्था देता है, धारणाओ म बोलता है उसी अहसास और बोध को कवि अपनी सहज प्रतीत के बल पर पाता है। तभी इलियट ने कहा था कि शेक्सपियर प्लूटाक तथा परवर्ती इतिहासकारो से कही अधिक समझता था कि इतिहास-चेतना क्या होती है। इसके सिवा प्रगतिशील दशन, यह नही चाहता कि कवि किसी दल का प्रचारक बने। वह तो चाहता है कि लेखक जीवन के प्रति वफादार रह, यानी व्यक्ति और समाज की कमजोरियो के विरुद्ध सघष करें, असगतियो का वणन कर।

सप्तम दशक की कविता की उपयुक्त भ्रांति बोधक परम्परा में कवि और परिवेश का अलगाव समाप्त हो रहा है। द्वन्द्व है, लेकिन अलगाव नहीं है। अलगाव कृत्रिमता, रहस्यवाद, अतिभ्रांति या वास्तविक यथार्थ के अतिक्रमण की ओर ले जाता है अथवा मानवात्मा को एक अलग निरपेक्ष इकाई मानकर धीरे धीरे उसमें प्रतिबिम्बित यथार्थ को धोया जाता है, लेकिन प्रतिबिम्ब कभी धुलते नहीं है। ऐसे 'आत्महाराओं" को एक नवीन वैयक्तिक संकट में फाँसकर, वास्तविकता नव्यतर चेतनाओं की खोज में निकल पड़ती है, अहंवादी पीछे छूट जाते हैं।

सप्तम दशक में इसीलिए बाह्य वास्तविकता के दबाव से जब प्रतिबद्धता, युयुत्सा, क्रांति, पक्षधरता, दायित्व आदि के स्वर पुनः जाग्रत हुए हैं। इसी दशक में "भीड़" ने साबित कर दिया कि वह विरोध और युद्ध के लिये सक्षम है, पिछले चुनाव सबूत हैं। वियतनाम के युद्ध से उत्पन्न ऊष्मा गवाह है कि आदमी की नियति के विषय में निराशावाद और कुंठा व्यर्थ है और यह कि "भीड़" कही जानेवाली जनता का सहज विवेक, नई कविता के प्रतिगामी कवि से बहुत आगे है। इसलिये सप्तम दशक के नव्यतर कवियों में कविसत्य और बाह्य सामाजिक सत्य में पुनः समायोजन दिखाई पड़ता है। परिवर्तन की तीव्र कामना ही इस नव्यतर चेतना का मुख्य लक्षण है। यही गिंसबर्ग के 'हॉउल' और 'अमेरिका' शीर्षक कविताओं में व्यक्त हो रही है और यही भूखी पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, अकविता पीढ़ी आदि में। जगदीश गुप्त ने शुष्कप्राय शाखाओं को, अक्षय हरियाली से गदबदी शाखाओं प्रशाखाओं के साथ गड्डमड्ड कर दिया है यह 'द्वन्द्वबोध' के अभाव का द्योतक है।

सप्तम दशक में एक नई वक्तव्यता का प्रयोग हो रहा है जो स्थूल और सूक्ष्म रूपों में व्यक्त हो रही है। स्थूल रूप में इसे धूमिल की 'पटकथा' (आलोचना, मार्च ६८) में और रणजीत-राजीव सक्सेना वगैरह की "प्रतिश्रुत पीढ़ी" में देख सकते हैं और चेतनाप्रवाही अर्थविहीन शैली में उसे "खण्ड-खण्ड" पाखण्ड पर्व में देख सकते हैं—लेकिन 'वक्तव्यता' और 'विस्तार' दोनों प्रारूपों में मिलता है। यहाँ बनीबनाई मानव नियति की खोज नहीं है, अपितु आसपास के असंतोष के विरुद्ध लड़कर स्वयं नियति बनाने का इरादा है।

उन्होंने किसी चीज को सही जगह नहीं रहने दिया है।
'न संज्ञा, न विशेषण, न सर्वनाम
एक समूचा सही वाक्य, टूटकर बिखर गया है।

मासूमियत के हर तकाजे को ठोकर मार दो
अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
और अपनी ऊब को आकार दो। धूमिल)

× × × × ×

अमरीका, मैं कम्युनिस्ट हुआ था, जब मैं बालक था।
मुझे खेद नही है।
मैं मरीजाना फूकता हूँ जब भी अवसर पाता हूँ।
मैं कई दिनो अपने घर म बठा रहता हूँ
और गुलाबो को घूरा करता हूँ।
जब मैं चीना टाऊन जाता हूँ ता नशा म धुत होता हूँ।
मुझे निश्चय हो गया है, कोई आफत आने वाली है। (गिसबग)

यह काव्यविधि 'अन्तमुख कथनविधि' के विपरीत 'वक्तव्यविधि' है, जो जनता की चीज है, जनता के मध्य की चीज है। इसके लिये गिसबग ने आडम्बिक छन्द' का तोडा और टी एस इलियट की प्रसगगर्भितशल्य और एजरा पौण्ड की बिम्बवादी लघु रचनाओ की कसावट की जगह बिखराव और विस्तार को पसद किया। 'वृद्ध' और प्रवुद्धआलोचक' गोपाल कृष्ण कौल के शब्दो म 'पच्चीकार' और 'कारीगर' कवि नहा होते, क्यो कि वे एक पूरे युग की आकाक्षाओ को समझ नही पाते। एक खास मुहावरे को लेकर सकीर्ण घेरे म घूमते हुए वे समझते हैं कि वे कवि हैं। नए युगो के अवेषी ही कवि होते हैं किसी नई पगडण्डी की खोज बहुत बडी प्रतिभा का सबूत नही होता।

विद्रोह का यही स्वर सप्तम दशक का मुख्य स्वर है। कलाश वाजपेजी के अस्तित्ववादी लहजे मे भी यही व्यापक विराध है। यो अब उनम 'ठण्डापन' और दुहराव आ रहा है, स्वाभाविक भी है।

राजकमल एक तान्त्रिकनुमा विद्रोही कवि थे। 'मुक्ति प्रसग' के बिखराव, अन्विति के अभाव आदि पर ता कुछ 'ठण्डे ज्वालामुखी कवियो" ने सही कटाक्ष त किये हैं। किन्तु यह बिरले ही कहते हैं कि 'मुक्ति प्रसग' विद्रोही युग का दस्तावेज है, जिसने नई 'कविता' की 'मासूमियत' को बनावटी साबित कर दिया है।

यही वक्तव्यता एक दूसरे लहजे म, चतना प्रवाह शैली म मणि मधुकर ने अपनाई है —

"खुदकशी करने से पहले मुझे अपने आवेश का कारण जान लेना होगा।

यह भी कि मैं अकेला नहीं हूँ।
और भी हैं जो साधनों के अभाव में जिंदा हैं
आवाज जिनके गलों में जम गई है बर्फ की तरह।
असमर्थ हैं जिनके हाथ
चाहकर भी वे मौत के फंदे उसकी गुजन तक पहुँच नहीं पाते।
सयानी लड़कियों के सयाने रामाकुरों की बेरहम बेअदबी से
रौंदता खौंदता हुआ भाग रहा है एक हवशी
और मैं रात दिन ख्याल किए बगर उसका पीछा कर रहा हूँ।"

यह गवाही का बयान नहीं है, लड़ाकू छापामारों का आत्मपरिचय है। नई कविता में अगतिशील 'रियायत' हुए चित्रित मनुष्य से सप्तम दशक की मानवमूर्ति सर्वथा भिन्न है। अब 'मणिधर' अपनी असलियत खुद कहने लगे हैं —

मेरी असलियत में एक भेद है,
चुगलखोर है और सचमुच मुझे इसका खेद है।
(जो चोर है, खतरनाक है, वह अपने अभियोग से बरी है।)
महसूस तो करता हूँ कि मुझमें गर्मी है या गर्मी की गली है।
(मौलिकता पर भरोसा नहीं रहा।) (मणि, मधुकर)

इस वक्तव्य शैली में प्रायः व्यर्थ दुहराव है, उदाहरण के लिए कोष्ठक बन्द पंक्तियों को निकाला जा सकता है, उसमें एक अजीब "घुन्नापन" और 'अनापशनापी भुनभुनाहट' भी है जैसे वह मन ही मन, वास्तविकता के स्पष्ट बोध के बिना, "मुन मुन" कर रहा हो। लेकिन नई कविता के पाखण्डों का खण्डन करने के लिए भी यह रचना लिखी गई है, यह स्पष्ट है।

षष्ठ दशक में आवेश के कारणों को जानने की छटपटाहट नहीं थी वस्तुतः छायावाद की भावुकता के विरोध के बावजूद नई कविता के एक बड़े अंश में 'ताव' बहुत था। वह 'ताव' अब भी बहुत है, लेकिन 'कथ्य' परिवर्तन-बोधक होने से वह धरातल से जुड़ा हुआ है।

सप्तम दशक में 'आत्महत्या के विरुद्ध' जैसे शीर्षक यही इंगित कर रहे हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की प्रसिद्ध रचना में अब खिड़की नहीं

खोलूँगा' मे भी यही क्रांति की आहट का अहसास है। अर्थात् 'पुराने नए कवि' भी सप्तम दशक के आक्रोशी स्वर का पहचान रहे हैं। श्रीकान्त वर्मा के 'माया दर्पण' मे हालात के ऊलजलूलपन का तीखा अहसास और उस पर खीझ और बौखलाहट है, नफरत के लकवे से चेतना जैसे ऐंठ रही हो, या गुस्से मे गाली देने के अलावा जैसे कोई उपाय न हो।

सप्तम दशक का एक सशक्त स्वर युयुत्सापरक रचनाओं मे मिलता है। चन्द्रमौलि उपाध्याय का 'युद्धश्रेयस' इस रुख की क्लासिक रचना कही गई है। इस काव्य की महाकाव्योचित गम्भीर भाषा की कुंवरनाथ राय ने (युयुत्सा, जनवरी ६८) प्रशंसा की है, जिसका एक वाक्य ध्यान देने योग्य है —

'इतना खुलकर और महाकाव्यो जैसी गम्भीर भाषा मे साठोत्तरी पीढ़ी की किसी प्रतिभा ने नही कहा है और कहा भी है तो अपशब्दो की भाषा म या सागभाजी की भाषा म। सागभाजी का भाषा मे कुंजड़े से झगड़ा किया जा सकता है, भविष्य का तूर्यवादन और स्वस्ति पाठ नही है।

सप्तम दशक की काव्यभाषा के वैविध्य के यह प्रमाण है।

एक और प्रवृत्ति उदित हुई है, कविता मे कहानी कहते चलने की प्रवृत्ति, इससे रचना का भीतरी ढांचा बिखरता नही है और कहानी सिर्फ अनुभूति के लिये मार्गदर्शक होने के कारण कविता से स्वतन्त्र स्थान नही बनाती, सहायक मात्र रहती है। यह प्रवृत्ति 'पटकथा मे भी है, और यत्किंचित 'युद्धश्रेयस' म भी। धूमिल के 'मोचीराम' (आरम्भ, अप्रल १९६८) मे भी यही शैली है।

षष्ठ दशक म कविचेतना और परिवेश एक दूसरे को अस्वीकार करने के क्रम मे थे। निरर्थकता का बोध इसी की परिणति थी। लेकिन अब चेतना परिवेश को अनुकूल बनाने के कटिबद्ध हो रही है जिसके लिए निरन्तर विद्रोह' अनिवार्य है—

मैंने इतिहास के रथ को नही रोका
मैंने इसे कभी मुक्त नही किया
मैं कभी मुक्त नही हुआ इतिहास के झूठ से
अपने अहंकार से, देवत्व की कल्पना से
युद्ध से, अपने आप से, कालचक्र से
मैं समय से कभी नही छूटा,

मेरे रथ के चक्के लीक नहीं छोड़ सके।
मैं युद्धरत रहा, मैं हर बार प्रमदवन में
पैदा होकर कुरुक्षेत्र तक पहुँचता रहा
वही रहा मेरा अन्तिम तीर्थ ! (युद्धश्रेयस)

'शुद्ध कविता' नई कविता की ही एक नजाकत थी। प्रतीकवादियों ने देखा था कि प्राचीन कविता 'सम्पूर्ण कविता' होती है। उसमें सम्पूर्ण ललित कलाओं, विचारों, भावों आदि का प्रयोग होता है। इसकी जगह यदि कविता सिर्फ संवेदनपरक हो तो वह शुद्ध कविता होगी। इसके लिए कवि स्पर्श रूप-रस गंध के संवेदनों को यथावत् अभिव्यक्त दे। शुद्ध कविता भी कवि चेतना का एक स्तर है। अभी तो इस देश में उथल-पुथल का युग है। शुद्ध कविता योग्य अभी उतनी सूक्ष्म शब्दावली भी नहीं है, लेकिन असंगतियों के इस महादेश में कवि को शुद्ध कविता की जगह "अ-कविता" इधर ध्यानाकर्षक लगी। अतः शुद्ध कविता ही नहीं, कविता मात्र की बनावट अखरने लगी। नई कविता ने 'नये मानव और मूल्यों' की तलाश में कुछ चिकने चुपड़े और निहायत पाखंडी नेता-कवियों को जन्म दिया जो "पराई जूठन और टूटन" के ही कवि रह गये।

अ-कविता की धारणा के विषय में मतभेद है। श्याम परमार के अनुसार नई कविता के ढर्रे का तोड़ने का यह एक उपाय था, एक दिशा थी—एक ऐसी कविता जिसमें सारे नैतिक अपराधों आडंबरों का साफ साफ विरोध हो, और 'काव्य भाषा' (पोएटिक डिक्शन) का हरगिज प्रयोग न हो भाषा ऐसी हो, जिसमें रोजमर्रा का गद्य प्रयुक्त हुआ हो। गद्य के प्रति प्रवृत्ति नई कविता' में थी लेकिन वह गद्य किताबी था, बौद्धिकों का बनावटी गद्य था।

काव्यभाषा के विरुद्ध वर्ड्स्वर्थ ने विद्रोह किया था पर चला नहीं। लेकिन उससे कृत्रिमता तो कम हुई ही थी। इसी प्रकार सप्तम दशक में छायावाद और नई कविता की बनावटी भाषा के विरुद्ध संघर्ष हो रहा है। कथ्य की दृष्टि से अ-कविता मूलतः निषिद्ध का प्रयोग करती है। गुप्तांगों से संबंधित शब्दावली के कारण 'अ-कविता' को विकृत समझ लिया गया है—

तुम और हम क्या कर सकते हैं
लूप लगी शताब्दियों के साथ सिवा बलात्कार के

लेकिन इस पंक्ति के पीछे जो क्रोध है, वह सप्तम दशक के मूड के विरुद्ध नहीं है। कथ्य की इस समता पर अब तक ध्यान नहीं दिया गया है।

अ-कविता की धारणा मेरे मत से स्वागत योग्य है, इस रूप म कि कविता की भाषा और जीवन की भाषा में एकरूपता होनी चाहिए। मध्ययुग मे सूर-तुलसी कवि थे, लेकिन सिद्ध और सत अ-कवि थे, विशेषकर सरहपा और कबीर। सत्य को सहज परिचित शब्दो म कहना बहुत कठिन होता है, इसके लिए गूढ अभिप्राय, किस तरह अनायास रूप मे व्यक्त हो, इस बात पर ध्यान रखकर आम आदमी की बोलचाल की भाषा पर ध्यान रखना पडता है। कविता को साधारण आदमी तक यही विधि पहुँचाती है। अद्वैत वेदात को कबीर किस तरह बेलौस ढग से व्यक्त करते हैं।

> सब कोई कहै, तुम्हारी नारी, मोको यह सन्देह रे,
> जौ लौ एकमएक न सोव, तौ लौ कसो नेह रे।

'न बात कहन मे कोई सकोच है और न शब्द चुनने मे, 'एकमएक" उदाहरण है।

अ-कविता की दिशा यही होनी चाहिए। छायावाद स अब तक जो काव्य का 'विशेषीकरण' हुआ है यानी उसे जो केवल शिक्षितो का काव्य बनाया जाता रहा है, वह अब 'अबोद्धिता' तक तभी पहुँच सकेगा जब काव्य भाषा की कृत्रिमता के विरुद्ध सघर्ष किया जाय। अकविता इसी ओर सकेत करती है। उसे केवल चुनी हुई स्थितियो और गुप्तागो तक सीमित रखना ज्यादती है।

जो 'आधुनिक' कवि भारतीय जनता स नफरत नही करते, जो उसके बीच रह कर आम आदमी की बात सुनते है, वे जानते है कि साधारण बात चीत मे बहुत अधिक इशारे छिपे रहते हैं, उन्हे 'नया सदर्भ' देकर उन शब्दो को काव्य मे बदला जा सकता है।

'कहिए, कसा लगा ?"

यह पक्ति किसी हलवाई की दूकान पर सुनी जा सकती है। लेकिन जीवन के आस्वाद के बाद, आस्वादक से यही प्रश्न पूछा जाए तो यह 'अकविता' हो जाएगी—

> 'कहिए, कसा लगा ?"
> पहाड से गिरा धड रत मे, सिर ऊपर
> तुम्हे ऊँचाइया पानी थी, मुझे पढकर!
> कहिए कुछ मिला ?
> कहिए, कसा लगा ?

'नई कविता' में जिस बौद्धिक गद्य की भरमार हुई थी, उससे इस तरह की अ-कविता की गहराई सप्तम दशक में ही पहचानी जा सकी।

इस प्रकार सप्तम दशक आक्रोश और विरोध का दशक है। क्या हमारी आधारभूत चेतना में कोई अब तक गुणात्मक परिवर्तन हुआ है ? स्पष्ट उत्तर है कि अभी तक तो नहीं, लेकिन सप्तम दशक दिशा निर्देशक तो अवश्य है। यदि सामाजिक ढाँचे में हम परिवर्तन न कर सके तो सप्तम दशक के नये-नये विद्रोहों का भी वही हाल होगा जो अमेरिका में "बीट कविता" का हुआ है —

"अंतिम रूप में बीट्स से कोई अन्तर नहीं पड़ा। पुरानी सामाजिक स्थिति यथावत् है। विद्यालय छात्रों से भरे हैं। (पाठ्यक्रम में विद्रोही कवियों को शामिल कर लिया गया है) । कल जिससे लोग चौंकते थे, आज उस काव्य संग्रहों में शामिल किया जाता है। पुराने कवि गिंसबर्ग के कुछ छंदों का अनुकरण कर रहे हैं जबकि नव्यतर 'आयरिश पटामीटर" को अपना रहे हैं, और आनंदित है। मूलभूत चेतना वही बनी हुई है—यद्यपि "पुराने" को एक ठोकर अवश्य लगी है। नए नशों की ओर रुचि बढ़ी है। अब कॉकटेलपार्टी की जगह चण्डू और गाँजापार्टी हुआ करेगी, दाढ़ियाँ आवश्यक मानी जाएँगी। समलैंगिक प्रेम स्वीकृत हो जाएगा, सिर्फ बीट्स की गन्दगी को स्वीकृति नहीं मिलेगी क्योंकि साबुन के उपयोग में बहुत रुपया लगा है।" (वेटिंग फार द एण्ड, एल० ए० फिडलर पग्विन सीरीज)

कहीं यही स्थिति भारत में न हो, लेकिन यदि अमरीकी पूँजीवाद का अनुकरण बढ़ता गया तो यही होगा। क्रांति जब तक ढाँचे को नहीं बदलती तब तक ऊपरी विद्रोह सिर्फ स्वांग में परिणत होते रहेंगे। हमें वास्तविक क्रान्तिकारी साहित्य की आवश्यकता है जो केवल मन की असलियत को ही सम्मुख न रखे बल्कि चारों ओर जो कुछ सत्य और असत्य है उसे कहे। सप्तम दशक के काव्य का रुख इसी ओर है।

डा० जिवागो का रोग निदान

वज्ञानिक क्षेत्र म रूसी राकेट ने जितनी प्रसिद्धि और प्रशसा पायी है, साहित्य क्षेत्र मे बोरिस पास्टरनाक के उपन्यास डा जिवागो के प्रकाशन से रूस की उतनी निन्दा भी हुई है। इस उपन्यास को कूटनीति का लक्ष्य बनाया गया और इस पर नोबल पुरस्कार दिया गया। रूस मे इस के प्रकाशन को उचित न समझने के कारण साम्यवादी व्यवस्था को लाछित किया गया और सबसे बडी उपलब्धि यह हुई कि जिन्होने इस उपन्यास को कभी नही पढा, उन्होने भी साम्यवाद की भरपूर निन्दा की, यह घोपित कर दिया गया कि रूस मे मनुष्य को वधानिक स्वतन्त्रता नही दी गयी है, वहा जार से भी गये बीते नरभक्षक दानव रहते है।

मैं इस कूटनीति के चक्र को एक ओर रख कर इस उपन्यास का विश्लेषण पसन्द करूँगा, ताकि पाठक का अपना मत निर्धारित करने मे सुविधा रहे। इस उपन्यास का उद्देश्य क्या है ? डा जिवागो के मुख स ही सुनिए।

"क्या मार्क्सवाद विज्ञान है ? सभवत उसे विज्ञान बताना खतरनाक है— मार्क्सवाद से अधिक आत्म केन्द्रित व तथ्यो से दूर शायद ही कोई कथन होगा।"[1]

इस प्रकार डा जिवागो का उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि मार्क्स वाद वज्ञानिक नही है, यह आत्म केन्द्रित एव अव्यावहारिक है।

इसी उपयुक्त तथ्य को प्रमाणित करने के लिए यह उपन्यास लिखा गया है। डा जिवागो अर्थात् बारिस पास्टरनाक की राय मे मार्क्सवाद वज्ञानिक इसलिए नही है कि राजनतिक सत्ता उनके हाथ मे है वे सत्य का सामना नही करते और अपनी पौराणिक कल्पनाओ यानी मार्क्सवादी विचारो को ही सत्य घोपित करते रहते है।[2]

---

१ डा जिवागो पृष्ठ २३५

२ वही पृष्ठ वही।

तब डा जिवागो की सहानुभूति कहाँ है ? क्रान्तिविरोधियो के साथ। डा जिवागो को प्रथम जार की सेना मे काम करना पडता है, वह अपना काम मुस्तैदी से करता है। किन्तु क्रान्ति के समय डा जिवागो को विवश हो कर क्रातिकारियो के साथ कुछ समय के लिए रहना पडता है। क्रातिविरोधियो के साथ एक बार लडने का भी अवसर आता है। डा जिवागो दुश्मन के सामने जमीन पर लेटा हुआ, भगवान से प्रार्थना करता है कि क्राति विरोधियो की विजय हो। क्यो ? क्योकि शिक्षा, नैतिकता और मानवीय मूल्यो की दृष्टि से डा जिवागो दुश्मनों के साथ अपना साम्य देखता है।

डा जिवागो की यह विशेषता है कि उसके मन मे साम्यवादी शिक्षा, उद्देश्य, रुचि तथा साम्यवादी क्राति के प्रति घोर घृणा है वह कही भी किसी भी रूप मे साम्यवादियो से समझौता नही करता। अब तक जितना साहित्य साम्यवाद विरोधी प्रकाशित हुआ है सम्भवत साम्यवाद के विरुद्ध इतनी घृणा कहीं नही प्रकट हुई है। नोबलप्राइजपाने का यही कारण है।

आखिर डा जिवागो की इस नफरत का कारण क्या है ? डा जिवागो समृद्ध और सुशिक्षित मध्यवर्गीय परिवार का सदस्य है। बचपन मे ही उसने माता पिता की मृत्यु देखी थी। अत एक प्रकार के दुखवाद और फलस्वरूप निराशावाद से वह पीडित रहा है। यद्यपि उसका लालन पालन और शिक्षा दीक्षा एक प्रोफेसर के यहा हुई तथापि बचपन के दुख ने उसे अतर्मुखी बना दिया है। उसने मन के अन्तर ही एक अपनी दुनियाँ बसा ली है, उससे बाहर वह कभी नही निकल सका। अत वह बाह्य जीवन सघर्ष, ऐतिहासिक उत्थान-पतन क्राति प्रतिक्राति आदि को उसी दुख और निराशा की स्थिति मे देखता है, उसका मूल्याकन करता है। डा जिवागो इसी क्रान्ति के समय हिंसा को देखकर समझ लेता है कि जार की ही तरह साम्यवादी भी बर्बर है। इसके सिवा डा जिवागो की धार्मिकता भी क्रान्ति विरोधिनी प्रवृत्तियो का कारण है। लेखक इस उपन्यास मे जगह जगह पर ईसाई धर्म के अन्धविश्वास और जार के साथ उसके षडयन्त्रो को नही देखता, उसे चर्च की घटियो की आवाज की मधुरता और प्रार्थना के समय की शांति का आनन्द अधिक पसन्द है।

आखिर ५०० पृष्ठो के इस उपन्यास का नायक करता क्या है ? वह जार की ओर से लडता है, लडाई के समय लारा से उसका परिचय होता है, लारा ने पाशा से विवशता मे विवाह किया था। क्योकि वह कामारोवस्की नामक एक चरित्रहीन किन्तु प्रभावशाली व्यक्ति की वासना का शिकार बन

चुका थी। कोमारोवस्की ने ही डा जिवागो के पिता को घुला घुला कर आत्महत्या के लिए विवश किया था। डा जिवागो मोर्चे से मास्को लौटता है। क्रांति भडक उठती है। डा जिवागो क्रांति के पक्ष मे नही था। अत वह भागता है मार्ग मे वह साम्यवादियो द्वारा बलात श्रम के दृश्य देखता है, हजारो घर उजड जाते है, जमल का राज्य स्थापित हो जाता है। उपन्यास के प्रथम भाग म इतना ही है। तमाशबीन डा जिवागो के माध्यम से लेखक ने क्रान्ति की बरहमी का खौफनाक वर्णन किया है। ऐसा नही जान पडता कि क्रान्तिकारी साम्यवादी कुछ सिद्धान्तो को लेकर लडे थे। ऐसा लगता है कि वे केवल दरिंदे थ, जि ह आदमी का खून पीने म ही मजा आता थ।

– उपन्यास के द्वितीय भाग म सायबेरिया की यात्रा म जिवागो का परिचय स्ट्रेलिकव नामक क्रान्ति समर्थक एक सेनापति से होता है जो वस्तुत लारा का पति पाशा था वह लारा के वास्तविक प्रेम को पाने के लिए युद्ध मे चला गया था। डा जिवागो युर यतिन प्रदेश म अपनी पत्नी टोनिया के साथ गुप्त रूप से रहता है और वहा भी सामदेव्यातव नामक क्रान्ति समर्थक व्यक्ति के भ्रष्टचार पर अवलम्बित रहता है।

तत्पश्चात उसे साम्यवादियो पार्टीजन की सेना मे विवश होकर काम करना पडता है। वहाँ से भी वह भागता है। लौट कर लारा से मिलता है। किन्तु लारा को कोमारोवस्की फिर उडा ले जाता है। इसी बीच लारा के पति पाशा पर से साम्यवादियो का विश्वास उठ जाता है और वह विवश होकर आत्महत्या कर लेता है। डा जिवागो सायबेरिया से भाग कर पुन मास्को आता है, और उसकी पत्नी टोनिया के पेरिस चले जाने के कारण पुन विवाह करता है, दो बार बच्चो को जन्म देता है और रात दिन लारा के वियोग और साम्यवादियो की क्रान्ति के नरसहारो से परेशान होकर एक दिन इस दुनियाँ से चल बसता है।

स्पष्ट है कि डा जिवागो एक असमुखी पात्र है जो शुरू से अन्त तक केवल दर्शक रहता है। वह केवल क्रान्ति के कारण उत्पन्न कष्ट को अनुभव करता है और साम्यवादियो के प्रति घृणा को चुपचाप मन म भरता रहता है। वह एक से नही तीन तीन के साथ प्रेम लीला रचता है और उनम से एक के प्रति भी सच्चा नही रह पाता। टोनिया की उसके विषय मे

"तुम असाधारण हो, तुम में अनेक अन्तर्विरोध है।"[१] यद्यपि यह बात प्रशंसात्मक लहजे में कही गयी है, लेकिन इस उपन्यास को पढ़ कर कोई भी देख सकता है कि यूरी या डा० ज़िवागो के चरित्र में अनेक अन्तर्विरोध हैं। क्रान्ति से भयभीत होकर साइबेरिया में छोटी मोटी खेती में किये गये श्रम की तो ज़िवागो प्रशंसा करता है। किन्तु वही ज़िवागो श्रम के गौरव के स्थापक लेनिन और उनके साथियों को कातिल और जाहिल समझता है। वह कामारोवस्की से घोर घृणा करता है, किन्तु उस अशान्ति के समय में भी बदला नहीं लेता। वह लारा के प्रति अवैध प्रेम को अनुचित समझता है, फिर भी करता है। उधर बेकारी, वृद्धता, रोग की स्थिति में वह मेरीना से विवाह कर लेता है जब कि उसे आशा थी कि उसका अपना परिवार पेरिस में था और वापस आने की आशा भी थी। वह क्रान्ति का विरोधी है, तथापि कुछ नहीं करता किसी क्रान्तिविरोधी कार्यवाही में भाग नहीं लेता, केवल अपनी रुचियों, अपनी प्रतिभा और अन्तर्मुखता की स्थिति में प्रकृति के दृश्यों का आनन्द लेता रहता है। वह दबी जुबान से एक जगह साम्यवादियों की मानसिक दृढ़ता की तारीफ भी करता है, परन्तु साथ ही क्रान्ति के समय उन की घोषणाओं का उतना बुरा असर उस पर नहीं पड़ता जितना उन घोषणाओं की पुनरावृत्ति का। ज़िवागो के दोस्त दुदरोव तथा गोरडन को उसके विषय में यह राय सही थी कि वह अपने विचारों से ही उलझने वाला व्यक्ति है, ज़िवागो जानबूझ कर अपने जीवन को बरबाद करता है, जैसे उस बरबादी में उसे आनन्द हो।

ज़िवागो के चरित्र से अधिक सफल पात्र लारा है जो अपने शत्रु कोमारोवस्की को ठिकाने लगाने के लिए उसकी हत्या तक के लिए सन्नद्ध हो जाती है। वह पति की खोज के लिए मोर्चे पर नर्स बनती है, कठिन परिस्थितियों में कभी नहीं घबड़ाती और अहसान करने वालों से अपना दामन बचाये रखती है। उसके मानसिक संयम की स्वयं ज़िवागो भी तारीफ करता है। वह शिक्षा, गृहस्थी, प्रेम सभी क्षेत्रों में एक आवश्यक मंज़िला है।

इन दोनों पात्रों के अलावा कोमारोवस्की की दृढ़ता और सफलता भी आवश्यक है। लारा के पति पाशा की दृढ़ता तो अद्भुत है। टानिया की माता तो धार्मिक है परन्तु इस उपन्यास के पात्रों में अधिकतर पात्र ऐसे हैं जो पीछे याद नहीं रह सकते। ऐसा लगता है कि एक ही तथ्य को पाठकों के सम्मुख रखने के लिए अनेक पात्र गढ़े गए हैं अतः लेखक का ध्यान उस वास्तविकता की

---

१ डा० ज़िवागो पृष्ठ ३१४

बाँधने पर है, पात्रो के चित्रण पर नही। वह वास्तविकता क्या है ? साम्यवादी क्रान्ति की नृशसता, साम्यवाद की निन्दा, प्रतिक्रान्तिवादियो की प्रशसा।

उपयुक्त वास्तविकता को चित्रित करने के लिए लेखक ने कथावस्तु मे आकस्मिक तत्वो का बहुत अधिक प्रयोग किया है। इससे उपन्यास का बचपन ही प्रकट होता है। जिवागो को गोली ठीक वही लगती है, जहाँ शत्रु व्हाइटस के दल का सिपाही एक यन्त्र बाँधे हुए था। जिवागो का छद्मवेशी पाशा से भेंट होना, फिर भी पाशा का उसकी रक्षा के लिए कुछ न करना, कोमारोवस्की का भूत की तरह चाहे जहाँ प्रकट हो जाना, आदि एक नही अनेक घटनाएँ ऐसी हैं, जिनमे अद्भुत तत्व का प्रयोग किया गया है। यह नही है कि ऐसे सयोग नही होते, परन्तु सयोग के बल पर ही कहानी को गति देने से उपन्यास महान नही बनता।

सयोग की अधिकता भी बर्दाश्त की जा सकती है यदि पढने मे यह उपन्यास इतना अधिक ऊब पैदा करने वाला न होता। पर्याप्त धीरज के साथ इस उपन्यास को पढा जा सकता है, क्योकि लेखक एक कवि भी है, अत दृश्य वर्णन का लोभ सवरण नही कर सका है। दृश्यो के साथ साथ असम्बद्ध विवरणो की भी अधिकता है। आलोचको ने लेखक की प्रकृति-चित्रण की बडी प्रशसा की है। यत्रतत्र प्रकृति के दृश्यो को सुदरता से अकित किया गया है, यह सच है। किन्तु विवरणो मे कसाव नही है। प्रवाह जो जीवन का चिह्न है, कही भी नही आ पाया है। चितन व निरीक्षण का अर्थ यह नही होता कि हर मूर्खतापूर्ण बात का उल्लेख होना ही चाहिए—चयन यहाँ भी आवश्यक होता है। अत इस उपन्यास का वर्णनात्मक पक्ष कमजोर है। वस्तु मे क्रिया के अभाव तथा विवरण के आधिक्य ने इस उपन्यास को काफी कमजोर कर दिया है।

फिर भी उद्देश्य, चरित्र चित्रण और कथावस्तु की दृष्टि से कमजोर होने पर भी यह उपन्यास दुर्दित्सेव के 'नॉट वाई ब्रेड एलोन' की तरह एक महान रचना भले ही न हो, फिर भी उसे असफल उपन्यास नही कहा जा सकता। यदि हम कला की पूर्णता पर ध्यान न दे, उद्देश्य की अपवित्रता पर भी विचार न करे तो इस उपन्यास मे लेखक की घनीभूत पीडा निश्चित रूप से इसे एक उल्लेखनीय उपन्यास बनाती है। लेखक अपने परिवार के लिए और सुविधा के लिए मगर के आँसू नही बहाता, सच्चे आँसू बहाता है।

"ओह मेरे प्यारे बच्चो, तो तुम सब मास्को में ही हो। तुमने अकेले ही इतनी लम्बी यात्रा की? यह कैसे सम्भव हुआ? तुम्हें वहाँ कैसे मकान मिला होगा? मैं भी कितना मूर्ख हूँ, मैं यह भी नहीं जानता कि वहाँ मास्को में मकान बचा भी होगा या नहीं?"

"हे ईश्वर! यह सब कितना दारुण और कष्टदायक है। यदि मैं यह सब सोच न पाता। मैं स्पष्ट रूप से नहीं विचार कर पा रहा हूँ। टोनिया मैं समझता हूँ कि मैं रुग्ण हो गया हूँ, हम लोगों का अब क्या होगा? टोनिया, टोनिया, प्यारी टोनिया! तुम्हारा भविष्य अब क्या होगा? हे शाश्वतप्रकाश! मुझे तूने क्या दूर फेंक दिया? हम हमेशा ही बिछुड़े रहे। हम फिर एक होंगे। चाहे मास्को तक फिर पैदल ही क्यों न चलना पड़े, हम फिर एक दूसरे से मिलेंगे, हम कुशल से रहेंगे।[2]

ये भाव सच्चे हैं यद्यपि ये एक ऐसे संकीर्ण व्यक्ति की भावनाएँ हैं जो हजारों वर्ष के उत्पीडन से ग्रस्त सामान्य जनता के सात्विक क्रोध से भयभीत है। किन्तु फिर भी यह तो मानना ही होगा कि जिवागो की अनुभूति चाहे वह संकीर्ण भले ही हो, सच्ची है। उसने जो अनुभव किया है वह लिखा है, अतः वह प्रभावित करता है। कठिनाई यह है कि वह अपने दर्द से कभी भी ऊपर नहीं उठ पाता और कोई भी मनुष्य केवल दर्द की दृष्टि से ही तथ्यों को देखे, यह सहनीय नहीं हो सकता। अतः जिवागो की सफलता का कारण उस का अपना दर्द और हृदयचित्रणशक्ति है। और उसकी असफलता का कारण भी यही दर्द है। क्योंकि उससे ऊपर उठ कर ही इतिहास के साथ न्याय किया जा सकता था। क्रान्ति के ४० वर्षों की प्रगति जिस लेखक के सम्मुख हो, वह उस की प्रशंसा में एक शब्द न कहे, यह देख कर आश्चर्य और दुःख होता है।

डा० जिवागो में रुग्णता सब जगह व्याप्त है, उसमें मिथ्यात्व का प्रवेश हो गया है और उसी मिथ्यात्व की समाजवादविरोधियों ने प्रशंसा की है। उसी मिथ्यात्व के लिए नोबल प्राइज दिया है। अत्यधिक अन्तर्मुखी कला यद्यपि हृदय से निकलती है और हम कह चुके हैं कि यह विशेषता डा० जिवागो में है अपने ही प्रश्नों की पुनरावृत्ति करती है। वह अपने असंतोष को व्यक्त करते नहीं थकती, किन्तु उसी में उलझ कर रह जाती है। डा० जिवागो इस प्रकार की अन्तर्मुखता से, जिसमें सामाजिक और ऐतिहासिक सच्चाई को न समझने

---

२ वही पृष्ठ ३५१।

की शपथ सा ली जाती है अवश्य पीड़ित है। दुर्दित्सेव ने भी रूसी सरकार के मन्त्रियो और अफसरो के घमड, दुराग्रह, महात्वाकाक्षा, तथा हर नयी बात का विरोध करने की प्रवृत्ति का पर्दाफाश किया है, किन्तु दुर्दित्सेव को यह भी मालूम है कि जनता को मुक्ति दिलाने मे साम्यवादी ही अग्रगण्य थे और नवनिर्माण का श्रेय भी उन्ही को है, अत मार्क्सवाद को कायरूप म परिणित करते समय दोषो की आलोचना उसकी सेवा है, कर्तव्य है, जो दुर्दित्सेव ने पूरा किया है। परन्तु बोरिस पास्तरनाक की अन्तर्मुखता का परिणाम यह हुआ कि इतिहास मे प्रथम बार जनता के मुक्ति सग्राम के औचित्य के आगे एक प्रश्न चिह्न लग गया है। कोई यह नही कहता कि साम्यवादी-क्रान्ति मे कुछ भी अनुचित नही हुआ, बाढ आने पर किनारे कट जाते हैं, पेड भी धराशायी होते हैं और कीचड भी फलता है। परन्तु बाढ वास्तविक वृद्धि का एक मात्र उपाय है। अत असलियत से आख बन्द कर लेने के कारण जो सफलता दुर्दित्सेव को अपनी रचना "नाट बाई ब्रैड एलोन" मे मिली है, वह डा जिवागो के बोरिस पेस्टरनाक को नही मिल सकी।

विद्रोह कविता के विरुद्ध

यह अजीब सयोग है कि हिन्दी का प्रथम कवि सरहपा विद्रोही कवि था, यही प्रवृत्ति समकालीन अनेक कवियो मे मिलती है। भारतीय भाषा के कवियो को विपरीत परिवेष से निरतर द्वन्द्वयुद्ध करना पडा है। सरहपा के समय सामन्तशाही और सम्प्रदायशाही का आडम्बरमय दबाव था। मध्ययुग मे विदेशी शासन, ह्रास और विग्रह था, दु ख था, दारिद्रय और सास्कृतिक शोषण था। भक्तिकाल के कवि इसके विपरीत, धार्मिक प्रतीको के माध्यम से, सदव सघष रत रहे थे। रीतिकाल मे भी भक्तो और "भूषणो" की एक धारा लगातार जूझती रही और आधुनिक साहित्य मे भी एक प्रबल धारा परिवेष से जूझ रही है।

लेकिन इस यशस्वी विद्रोह मे सवत्र कला और कविता के स्वरूप की क्षति न हुई हो, यह समझना भ्रम मात्र है। सिद्धो, सन्तो, भक्तो और आधुनिको ने प्रचारात्मक काव्य भी बहुत बडी मात्रा मे लिखा है और "इस" प्रचारपरक अ श का, अकविता कहकर, समथन नही किया जा सकता। बडे से बडे कवियो मे—तुलसी और सूर मे भी—ऐसे अ श सहजता से अलग करके देखे जा सकते हैं। भारतेन्दु युग मे भी प्रचारात्मकता मिलती है। द्विवेदी युग मे तो कविता उपदेश का पयाय बन गई। छायावाद मे कला तत्व पर ध्यान दिया गया, और यह द्रष्टव्य है कि 'क्रान्ति' से सम्बन्धित कविता के श्रेष्ठ उदाहरण निराला ने ही 'बादल राग', 'भिक्षुक' जसी रचनाओ द्वारा प्रस्तुत किये।

प्रयोग और विद्रोह के दशक मे कुकुरमुत्ता से प्रारम्भ होकर प्रथम तार सप्तक की रचनाओ का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि कविता के तत्व की सवत्र रक्षा नही हो सकी। प्रयोग के नाम पर सप्तको और नयी कविता मे कूडा कम नही है। इस बिन्दु पर भी काव्य कला विकास दो अतियो से पीडित रहा है। या तो प्रचारात्मक तत्व या अभिधेयता प्रबल हो गई है अथवा कविता अत्यधिक दुराग्रह हो गई है। मुक्तिबोध इस दुरूहता दोष के शिकार थे। कविता के अत्यधिक "मनोविज्ञानीकरण" से कथ्य का स्पष्ट

बिम्ब उभर नहीं पाता क्योंकि प्रत्येक कला में आत्मगतता और वस्तुगतता के द्वन्द्व का एक विशिष्ट समन्वय ही प्रस्तुत होता है। जहां इनमें किसी एक तत्त्व का अतिरेक हुआ, वहीं रचना या तो सतही हो जायेगी, अथवा एक अस्पष्ट (नबुलस) भुनभुनाहट या "धुन्धेपन" से ग्रस्त हो जायेगी अथवा वह क्रमहीन, बिखर हुए चित्रों का विचित्र बंडल बन जायेगी।

इस देश में सृजन सर्वदा क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप लेकर चलता है, इसका कारण हमारा पिछड़ापन है। ऐसे व्यक्तियों का अभाव है, जिनकी चेतना की प्रयोगशाला में, प्रतिक्रियाएँ तथ्यों के साथ, एक समीकरण, एक संगति प्राप्त कर संतुलित रूप में व्यक्त हो सकें। पराये को पचाये बिना सृजन, मात्र *प्रतिक्रियात्मक या अतिवादी ही होगा।*

इस प्रवृत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण सन ३० के बाद की कविताओं में मिलता है। स्वच्छन्दतावादी काव्य आकाशमार्गी होता गया, तो प्रगतिकामी काव्य, नारेबाजी में परिणत होने लगा—' वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार" कहने वाला कवि, भाषा को मात्र विचार का वाहन ही मानने लगा। इस स्थूलता के विरुद्ध प्रयोगशील नई कविता ने व्यक्ति सत्यों को व्यक्त करना प्रारम्भ किया और यह कविता अत्यधिक वैयक्तिक और अन्तर्मुखी हो गई। भाषा नई होती गयी तत्व गायब होता गया। बिम्ब और प्रतीक नये आये लेकिन भीतर की ऊष्मा के अभाव में, धारणाओं और अर्धसत्यों का वमन किया जाने लगा। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के तर्क को खींच कर अराजकता तक पहुँचा दिया गया। किसी भी प्रकार के अनुशासन को, अत्याचार मानने के कारण, कला के आन्तरिक अनुशासन की भी हानि होनी ही थी। केवल ' अन्दरूनी उलझाव" का साक्षात्कार और उस "सना-बना" के द्वारा व्यक्त करने को ही पुरुषार्थ मान लिया गया। जिसने जरा भी चूँ-चपड़ की, उसे दकियानूसी और दरिन्दा घोषित कर दिया गया।

इस अतिवैयक्तिकता और अन्तर्मुखता के विरुद्ध इस दशक (१९६०-७०) में पुनः प्रतिक्रिया हुई। अब कविता पुनः सतही और प्रचारात्मक होती जा रही है। उसमें "सामूहिक सत्यों" की ओर देखने अथवा अपनी खाल से निकलकर, बाहर झांकने की प्रवृत्ति तो है लेकिन आन्दोलनों की तोड़-फोड़ और नारेबाजी से यह कविता बुरी तरह प्रभावित है। विद्रोह समाज की असंगतियों से अवश्य होना चाहिए। साहित्य की रूढ़ियों और अपनी" रूढ़ियों से भी विद्रोह आवश्यक है, क्योंकि विद्रोह ही इस "दलदली देश" का एक मात्र उपचार है। लेकिन कविता प्रचार में बदल कर, चेतना पर स्थायी

प्रभाव छोड नहो सकतो। यह नही है कि इस मोटी बात से विद्रोही कवि परिचित न हो, लेकिन प्रतिक्रियात्मक फिजा से वह बच नही पाते, चाहे वह 'अकविता' के कवि हो या 'अनागरिक' कवि हो या "श्मशानी पीढ़ी" के कवि हो, या "भूखी पीढ़ी" के कवि हो। इसके विपरीत, अ य कवि अब भी अपनी उलझनो को ऊलजलूल या उलझाऊ शली मे जान बूझकर व्यक्त करते हैं, अत दोनो तरह की रचनाओ म विद्रोह स्वय कविता के विरुद्ध होने लगता ह। नतीजा यह होता हैं कि प्र तिगामी लेखकों के "अ गरजी-दवा"- तरह मुनादी कर देते हैं, "ये हिन्दी के कवि हैं," ये अपन भोंडेपन और बदहज्मी पर कभी विजय प्राप्त कर ही नही सकते।

'धूमिल की 'पटकथा' के सतहीपन पर मैं अयत्र लिख चुका हूँ। यहाँ कुछ अ य "विद्रोही" कवियो से उदाहरण दूँगा और कतिपय विदेशी कवियो की रचनाओ के साथ उनकी तुलना करूँगा—

आइये ब धु, हम सभी बुद्धि जीवी
कवि, कहानीकार आलोचक
सभी हिजड़े इकट्ठे हो जायें
क्रोध से लाल हो, हवा मे मुट्ठियाँ उछालें।
अपने लिंगों को कड़ा कर लें।
और अपने ही चूतड की तरफ, उन्हें मोड द।
हिरोशिमा और नागासाकी को, जिन लोगों ने,
अपने जलते हुए लिंगों से रेप किया था।
क्या उन्हीं के समानधर्मी लोग,
आज कापरों की माँ—बहनो का रेप नहो कर रहे हैं?
हाँ, आ ब धु, आइये, हम सभी बुद्धिजीवी
नाक और माथे के बल, पैरो को ऊपर कर
खड़े हो जायें, अपने—अपने लिंगों को कड़ा कर
मुट्ठियो मे थाम लें।।

(निर्भय मल्लिक, श्मशानी पीढ़ी,
'विमर्श' तृतीय अ क)

इस "गाली कविता" या "न गी कविता" की शुरूआत से लगता था कि कवि अपने विद्रोह को आ तरिकता देगा। आवेश का वमन न करके, भावो का कला-त्मक रूप म सादगी और उग्र प्रस्तुत करने म लगा रहेगा निर्वाह

करेगा ताकि प्रभाव गहरा हो, लेकिन यह कविता कुँजडो—गाडीवानो, रिक्शाचालको की "पक्की बोली" का नमूना बन गई है। इसे पढते समय, परम विद्रोही पाठक भी "निभय" को निभय होकर सिर्फ गालियाँ ही देगा, प्रशसा और प्यार नही, यो मेरी तरह वह—निभय मल्लिक के विरोध तथा क्रोध की प्रशसा करेगा।

भद्रलोक की भद्रता का आडम्बर तोडने के लिए कविता को तेज चाकू मे बदलना होगा, जो इस तरह तराश कर रख दे कि पता न चले लेकिन यह सीधी 'हिज्जड" शली, भद्रलोक के प्रति कम, कवि के प्रति अधिक नफरत पदा करेगी। अब "हलकी वक्तव्यता" के नमूने देखिए—

१ "नही" चाहता हूँ अब कोई ऐसी बात कहना
२ जिसमे किसी के लिये जरा भी सहानुभूति हो
३ या जिसमे अतीत की कोई स्मृति कोई गूँज
४ अपने या अपने किसी साथी के गाये
५ गीतो की हो। कोई तस्वीर ,नही देखना चाहता जो
पुरानी हो।
६ हर पुरानी तस्वीर आकृति अब डरावनी
७ और दुख भरी हो चुकी है—हर गाये गीत
८ अब मेरे लिये मातमी धुनो से भर गये है।
९ हर स्मृति, जो फूलो लदी थी, अब घिनौनी और
१० चिरायंधभरी, गम्मगड्ड, अधजले मुर्दो की कतार
११ बन चुकी है।

(मधुकर गगाधर, सनीचर अगस्त १९६८)

यहाँ शब्द अपव्यय और सही शब्द न चुन पाने का सबूत यह है कि द्वितीय पक्ति के बाद व्याख्या की जरूरत पड गई है। प्रथम दो पक्तियो की अवधारणा मे, कवि ने कोई कौशल नही दिखाया। व्याख्यात्मक पक्तियाँ (३ ४,५,६) मे, चालू मुहावरा यथावत् अपना लिया गया है, जसे कोई नेताजी भाषण दे रहे हो। दशम पक्ति मे 'अधजले मुर्दो की कतार' मे कलात्मता अवश्य है लेकिन "घिनौनी" "गडमगड्ड" (चिरायंध) शब्द व्यर्थ ही भर दिये गये है। इनमे 'अधजले मुर्दो की कतार से पाठक की सक्रिय होती हुई कल्पना का ह्रास लगता है। कवि पाठक की शक्ति पर यकीन नहीं करता। सब कुछ कहता चला जाता है।

सनीचर के इसी अ क मे अलखनारायण, हृषीकेश और शलभ श्री राम सिंह की रचनाओ मे थोडी चतुराई अवश्य है। लेकिन ये कवि भी अपने को बरझाते हुए, चलते चलाते, कुछ लिखने की फिक्र मे लगे रहते हैं —

यह कब्रगाह या स्मशान नही है।
फिर भी मौत की छाया मँडराती रहती है।
नदी बहती है कोने पर तर रही है।
राजकमल चौधरी की लाश।
हम घास काटते हैं, घोडा हिनहिनाता है।
जसे करता हो मेरे दुबक जाने का आह्वान
और मैं हूँ कि अडियल गदहे की तरह रेंकता हूँ।

अलखनारायण की इस अकविता मे "विरोधो को आमने सामने" रखने की शक्ति का कुछ अन्दाज तो होता है, लेकिन अनुभूति सघन नही हो पाती अन्तिम पक्ति सटीक है।

अलखनारायण की "अनागरिकता" (जून--१९६८) मे छपी 'त्रिक" कविता, के बीच बीच मे कुछ स्थल पुरअसर है। लेकिन यहा भी "खिल्ली उडाने" का चालू नुस्खा ही अधिक है।

पुस्तको, घटालो और दलालो से मोक्ष प्राप्त कर
तुम रग–बिरगी चूडियाँ खरीद लो।
वितरित करते हुए उ हे नामी, गिरामी नीतिज्ञो के बीच
भाग जाओ जगलो मे— (त्रिक)

लेकिन कही कही कविता त्रिक' शीर्षक रचना म भी भाव ने लगती है —

खतरा उठाया अश्लील हो लेने का
"साहित्यालोचन मे विषय की अश्लीलता का प्रश्न उठाना असगत है।"
विलक्षण एक और बात
तुम पाओगे कि वस्तुओ की स्तब्धता और ध्वनियो
के बीच नही है, कोई विरोधाभास। अज्ञात भात के
अस्तित्व पर गहरा सशय प्रकट करेगा।
"एक अजनबी, दूसरे अजनबी पर बुरी तरह मरेगा"
(त्रिक)

आज की मजबूरियों, मुसीबता और उनके विरुद्ध नाराजी पर अगणित रचनाय आ रही है। लेकिन श्याम परमार जसे अकवि भी कही कही कामयाब हो जाते हैं। कामयाबी का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> मेरे माथे म किसी का हाथ तेजी से एक पच कसने लगता है।
> घिरे हुए सवालो की कीलें चुभती है।
> उनके बीच घिरी हुई जगह म तभी कोई चेहरा
> शकाओ से भरी ट्रकें खाली करता है।
> मेरा रक्त जमने लगता है।
>
> (दपण—राजकमल-अक)

यहाँ अकवि अपने मन के भीतर उतरता है, परेशानी मे क्या होता है, इसे टटोलता है और फिर उसे व्यक्त करने के लिये सोचता है कि कसे कहूँ—यही कवि और अकवि का प्रकृत भाव है। एकदम सीधे-सीधे शुरू हो जाने वाले कवि सतह पर ही शोर करते हुए रह जाते हैं। किन्तु उक्त रचना म, श्याम परमार "सवालो की कीलो" (चालू मुहावरा है) तक ही नही रुक जात, बल्कि उनके बीच की जगह म उभरती शकाओ को भी रूप देते है जो "ट्रक खाली होन" के बिम्ब से व्यक्तित्व प्राप्त कर लेते है।

इसी तरह हल्के और एक गहरे (लेकिन घुनेपन से रहित) व्यग्य के दो उदाहरण ले सकते हैं—

> इसस पहले कि वे सविधान का आग लगा कर भून सके
> आओ हम उसके पन्ना पर दही—बड़ा खाय।
> इससे पहले कि वे सी सक, पूरे देश के लिये
> एक तिरगा कफन, हम उसका जाँघिया बनाएँ।
>
> (नन्द किशोर आचाय, वातायन)
> (अगस्त १९६८)

यह हल्का-फुलका व्यग्य है, कविता नही है यो शीपक है "एक कविता"। इसके विपरीत विजेन्द्र की 'रूपदर्शना" (शीर्षक रीतिकालीन है) म गम्भीरता है—

> अब एक बार मुझे अपना कब्जा बताना होगा।
> जबकि इस बार म पुरान टीले की तरह
> बाहरी अनुदान से खोदा गया हूँ
> और कुछ एक साबुत चीजो के निकल जान की वजह से

आदमियो का वहम टूटा है कि म अब सिर्फ
झडी रास का ढेर नही हूँ, न अकेला ताड
न जतून और न सुनसान द्वीप हूँ, यो आत्मरक्षण की
रसमयता ने मुझे काफी भटकाया है
सुरगो मे (वातायन, अगस्त, १९६८)

विजेन्द्र ने, साठोत्तरी चेतना मे हुये इस गुणात्मक परिवर्तन का साव-धानी से आका है कि पिछले दशक के, 'टूटे पहिये वाले अभिम यु'' 'आत्मा मे लोहा दबाये कायर'' "नदी के बेचारे द्वीप", जसे प्रतीको मे व्यक्त होने वाले बीमार लोगो की 'बूर्ज्वा वयक्तिकता'' से आज की विद्रोही कविता बिलकुल भिन्न है। घुटन टूट रही है और धुआ छट रहा है। एडियाँ रगडने वाले अब घूसा तान कर खडे हो रहे हैं। लकिन इस सत्य की पहिचान से, यह कम महत्वपूण नही है कि विजेन्द्र अपने विद्रोही कथ्य को कविता बना सक हैं यो अभी भी शब्द की और भी अधिक सही पहचान आवश्यक है— शाकाणु'' "रसमयता" जसे शब्दो से बचना चाहिये।

साठोत्तरी विद्राही कविता की एक अन्य प्रवृत्ति यह है कि कवि सहजता और कौशल का एक साथ बहुत कम निर्वाह कर पाते ह विदेशो मे अब शब्द गभित "इलियटीय" कविता की जगह, सहज और सरल होने का रुख बढ रहा है, और फिर भी इस तरह की रचनाओ मे "सकुलता" बनी रहती है। इसे 'सकुल सहजता'' कह सकते है। इन रचनाओ म भाषा और मुहावरा आम बालचाल का होता है, लहजा निहायत अपनापन लिये हुये है और कविता प्राय अब छन्दावद्ध होती है। अकथ' मे जब मन छन्दोबद्धता का एक सवाल उठाया था तो लकीर के फकीरो ने समझा कि रुढिवाद का समथन किया जा रहा है। ये जो अत्याधुनिकता का मुखौटा लगाये हुये है इनमे भी रूढि से लडने की मौलिक शक्ति नही है। इनके मन म औरो से भिन्न होने के लिये साहसी प्रयोग की क्षमता नही है। ये मात्र 'गद्यमयता'' को आधुनिकता का पर्याय समझते है। लेकिन आधुनिक चेतना गद्य और पद्य दोनो मे व्यक्त हो सकती है। विद्रोह पद्यबद्ध भी होता है, हो सकता है। दर असल हम भयभीत रहते है कि हम पर कोई प्राचीनता का आरोप न लगाये

विदेश के अनक कवि इस मिथ्या भय से पीडित नही है। वे आधु-निकता को फशन के रूप मे ग्रहण भी नही करते, वजनामुक्त रहत हैं—

विवाह प्रथा हमारे देश म व्यक्तित्व और विद्रोह के विकास म सबसे बडी बाधा है। "अनिकेत" हुये विना क्रान्ति असम्भव है। लेकिन इस चेतना के धारणात्मक रूप पर डनिस लिवरतोव इस तरह कहता है—

The ache of marriage
thigh and tongue, beloved,
are heavy with it,
it throbs in the teeth
we look for communion
and are turned away beloved,
each and each
two by two in the ark of
the ache of it

"विवाद एक दद का मेहराब है जो दा स बनता ह"—यह उक्ति कविता की उक्ति है। शब्द चुने हुये है लेकिन अकवितापरक हैं, कविता एक साधारण छन्द म बँधी है और स्वच्छन्दता या सकत है, "ववाहिक नियति" या सकट का बोध गहर उतर कर अनुभव किया गया है। अपनी कीमत पर कवि व्यग्य बहुत कम करते है, लेकिन कुछ कवि अपनी असगतियो पर भी इस प्रकार बेलाग होकर कह सकते है।

She is Sow
and I a Pig and a poet—Levertov

"विश्व शाति पर सपाट कविताय बहुत हैं लेकिन यह भी तरीका है बात कहने का—

On a quiet Sunday
when the Sun is out
you can drive to
a village in kent
which boasts a
coffe for with the plastic tablea
a bird in a
painted cage says
"Ban the bomb ban
the bomb ban the
Bomb ban the bomb (Edwin Brock)

"एक शा त रविवार है, सूरज डूब गया है, आप एक गाँव जा सकते है। जिसे एक काफी घर ना गव ह। वहा तमाम चीजा म, एक रग बिरगे

पिंजडे मे चिडिया है जो "बम बनाना बन्द करो," "बन्द करो बम बनाना" कहती है।"

यदि कवि स्वयं एक दो बम बनाने की बात कहता या यह कहता "बम बनाये जा रहे है अब इन पनघटो का क्या होगा ?" तो वह तरबूजा से बम बनाये जा रहे है अब इन पनघटो का क्या होगा ?" तो वह प्रभाव नही आता जो एक साधारण सी चतुराई स आ गया है। गाव की एक चिडिया के मुख से बम निषेध सारे दृश्य को कविता मे बदल देता है। यही "नकुल सहजता" है। इसके लिये पगम्बरी और अखबारी मुद्रा छोडनी होगी, अनाप शनाप न कहकर विवरण स, किसी एक को होशियारी से चुनना होगा। बिजलीघर से लेकर सारे खम्भो और तारो का वणन आवश्यक नही, बटन या स्विच की खोज से ही जसे सम्पूर्ण स्थिति आलोकित हो उठती है उसी की तरह पक्षी की पुकार से विश्व युद्ध के विनाश की फिल्म पाठक के मन मे खुलने लगती है, रील पर रील देखते चले जाइये।

यह कविता एडविन ब्रुक की है जो एक अमरीकी कवि है। पग्विइन माडन पायट्स सीरीज के संग्रहो मे बीट कवि भी हैं, पर उनके घोर दावे कलाहीनता और मुद्राओ स भिन्न स्वतन्त्र आधुनिक कवि इस सक्रमण युग को खूब समझते है। और जो इस बोध का गले उतार चुका है, उस 'आधुनिक' मानने मे कोई बाधा नही होनी चाहिये। अब यह क्या आवश्यक हो कि "क्रान्ति और सक्रान्ति बोध" को एक ही तरह मे सब व्यक्त करे ? विद्रोही सहज तभी हो सकता है जब विद्रति से घणा उसके पोर पोर मे समा गई हो। तब उसकी मुस्कुराहट, उसका लहजा "जहर बुझा" हो जाता है। जहर को देखकर चीखना और मुह नोचना या सिर्फ चिढना या चिढाना या स्यापा करना या फिर क्रुद्ध न कर सकने पर सिर्फ घुटना या नाटकीय होना या मात्र दार्शनिक होना तमाशा है, असली स्वेप नही।

' विद्रोही–पीढी (कदिना॰प्रसाद चौरसिया) स लेकर अकविता तक और अकविता स लेकर अनागरिक और श्मशानी पीढी तक हमारी कविता उथलेपन और बनावटीपन मे ग्रस्त है। इसका अर्थ यह हरगिज नही हो सकता कि इस सम्पूर्ण प्रयत्न मे कोई उपलब्धि नहीं हुई है। प्रश्न सिर्फ यह है कि असन्तोष और विद्रोह की यह वाणी गले से निकल रही है या कलेजे स ? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या उबाल और उबाल कविता है ? कविता के लिये युद्ध और साड़ियों नाच उतर कर, वस्तु का आन्तरिकीकरण करना पडता है। मेरा मत यह है कि बहुत सी रचनाओ मे यह आन्तरिकीकरण (इन्टरनलाइजेशन) नही हो पाया है।

क्या इस उथलेपन और अनाडीपन का कारण मात्र कवि प्रतिभा का अभाव है? इस देश में प्रतिभा का अभाव नहीं है। अभाव है, प्रस्तुत संकट को गहराई से महसूस करने का। साथ ही हिन्दी का कवि इस संकट का कारण क्या है? इसे बहुत मोटे रूप में जानता है, उसका संकट 'चिंतनशील" नहीं है। अतः विद्रोह स्वयं कविता के विरुद्ध होने लगता है।

कविता वमन नहीं है, कुत्सा नहीं है, न वह मात्र तीखे आक्रोश की ललकार है। अब कवियों से कला का आग्रह करना चाहिए और लघु-पत्रिकाओं के सम्पादकों को मात्र मानसिक स्थिति या अनुभूति की नवीनता ही नहीं देखनी चाहिए अपितु 'अदायगी' पर भी गौर करना चाहिए।

मैंने समकालीन अभिनव आन्दोलनों के "स्वस्थ कथ्य" की बराबर प्रशंसा की है और उसके लिए मुझे लांछित भी होना पड़ा है। श्री विमल वर्मा ने, सनीचर, (१९६९) के एक अंक में, मेरे द्वारा श्मशानी पीढ़ी के समर्थन का पानी पी पी कर कोसा है लेकिन 'सम्बोधन" (कांकरोली, राजस्थान) और विभक्ति (कलकत्ता) तथा 'सनीचर' (कलकत्ता) में प्रकाशित मेरी टिप्पणियों को भी विमल शर्मा ने गौर से नहीं पढ़ा। मैंने कहीं भी, श्मशानी पीढ़ी की "गन्दगी" का समर्थन नहीं किया है और इस विरोध के परिणाम स्वरूप, सुनने में आया है कि अब कविता को इस 'कुंठेडापन" से बचाने का प्रयत्न किया जायगा।[1] यह शुभ समाचार है।

हिन्दी में, बासीपन को तोड़ने के लिए, शुरू से ही नयी "कंटेन्ट' के लिए आन्दोलन होते रहे हैं। 'नयी कविता' के विरुद्ध जो अभिनव काव्य के आन्दोलन चल रहे हैं, उनमें भी, 'कथ्य' के परिवर्तन की पुकार है और बदले हुए कथ्य के लिए, भाषा को भी बदलना पड़ता है लेकिन' विद्रोही कथ्य' होने से ही कविता, कविता नहीं बन जाती, कथ्य और रूप की संगति खोजनी पड़ती है और इसी बिन्दु पर समकालीन कविता को सावधानी बरतने की जरूरत है।

"आत्महत्या के विरुद्ध' (रघुवीर सहाय) माया दर्पण (श्री कांत वर्मा) जैसे जमे हुए कवियों के संग्रहों में भी, "अनगढ़पन" बहुत अधिक है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि किशोर कवि ही रूप सम्बन्धी असावधानी दिखाते हैं। आन्तरिक संयम और कुशलता के बिना, स्वस्थ कथ्य भी, वक्तव्य होकर ही रह जाता है—आशा है, तत्त्व और रूप की इस असंगति पर ध्यान दिया जायगा।

---

१ सनीचर के सम्पादक ललित जी का व्यक्तिगत पत्र।

पुराकथा और प्रतीक

पुराकथा (माइथालाजी) म आदिम मानव की इच्छापूर्ति (विशफुल फिलमट) व्यक्त होती है, उसम प्रकृति के ऊपर कल्पित विजय की कामना छिपी रहती है जो प्राय जादू त्रियाओ ना रूप धारण करती है, उसमे पूवजो का इतिहास बीज रूप म सुरक्षित रहता है और इनके साथ ही–आदिम मनुष्य की सजनात्मक कल्पना शक्ति का स्वत त्र चमत्कार भी दिखाई पडता है। इस प्रकार पुराकथाओ मे प्रारम्भिक मानवचेतना के विभिन्न स्तर– वजित इच्छाएँ, भावनाए और स्व न (अवचेतन) अभिव्यक्ति पाते है।

इस दश के वेदो—ब्राह्मणो, आरण्यको, पुराणो और महाकाव्यो मे पुराकथाओ क अनेक रूप मिलते हैं। विकास की दृष्टि से इस आवपक और रहस्यमय पुराकथा के दो सोपान माने जा सकते हैं। इसका प्रारम्भिक सोपान पुराणो और महाकाव्यो से पूव का है और द्वितीय रूप पुराण महाकाव्यकालीन है। पुराण जिस रूप म प्राप्त है, उस रूप म प्राचीनतर पुराकथाओ को, विभिन्न सम्प्रदायो के साधका पण्डितो न मनमाने रूप दिये है। 'महाभारत म भी यही प्रक्रिया दिखाइ पडती है किन्तु जसा कि पुराणो का कथन है, उनम वर्णित पुराकथाओ के बीज किसी न किसी रूप म–वदिक साहित्य म मिल जाते है, तभी यह कहा गया है कि पुराण वेद की ही कथात्मक व्याख्या करत हैं अथवा आज के शब्दो मे पुराण उपन्यासात्मक वेद है।

इस देश की सास्कृतिक निर तरता का एक अद्भुत रूप पुराकथाओ मे सुरक्षित है।

जिस प्रकार वेदो की, ऐतिहासिक, कमकाण्डपरक, दाशनिक, मनो वज्ञानिक और प्राकृतिक व्याख्याए होती थी, उसी तरह पुराकथाओ की व्याख्याओ का प्रचलन था। सम्पूण भारतीय साहित्य इन पुराकथाओ पर ही आधारित है, वाल्मीकि रामायण और महाभारत म दो प्रमुख पुराकथाओ का ही उपयोग किया गया है और उनस अनेकार्थक या विविधायामी काव्यसौन्दय की सष्टि हुई है, यथा, महाभारत, इतिहास भी है और मानवजीवन की 'निदय निरथकता' का प्रतीक भी, यह धमशास्त्र भी है और साथ ही कत्तव्य शास्त्र भी।

संस्कृत काव्यों, नाटकों, कथाओं में पुराकथाओं का ही प्रयोग हुआ है और मानव जीवन में साधारणीकृत सार्वभौमिक मानव की जो छवि अवतरित हुई है, और उसके साथ ही अनेक अपरिभाषेय स्थितियों, अनुभवों और सत्यों की जो प्रतीकात्मकता उत्पन्न हो गई है, उसका कारण पुराकथाओं का उपयोग है।

पुराकथा सर्वदा प्रतीकात्मक होती है क्योंकि उसमें मनुष्य के विवेक-परक, जागरूक, बौद्धिक चेतन के अतिरिक्त उसके अविवेकी, असंगत अवचेतन को स्पर्श किया जाता है। पुराकथा किसी सत्य को 'बुद्धिगम्य' बनाने का भी प्रयत्न करती है किन्तु वह सर्वदा सृजन क्रिया की दृष्टि से मनुष्य की भीतरी गुफाओं से गुजरती है। वह चेतना के पाताललोक से राह बनाती है, वहां बनने वाले रूपों को, बौद्धिक अनुशासन की चिन्ता किये बिना, उसी रूप में प्रस्तुत करती है, जिस रूप में वे प्रतीत होते हैं या वहाँ उभरते हैं। इस 'रहस्यमयता' के कारण ही वे 'रूप' जागरूक होकर विचार करने पर किन्हीं सत्यों या भावों के प्रतीक लगने लगते हैं और काव्य पुराकथाओं के प्रयोग द्वारा रचित 'रेडियम' की तरह अनेक प्रकार की किरणों या सुझावों का अक्षय कोष बन जाता है।

इसलिये रामकथा मानवकरुणा का प्रतीक है, महाभारत संघर्ष और पराक्रम की अस्पष्टता का। अभिज्ञान शाकुन्तल नारी पुरुष के सम्बन्धों की निविडता का प्रतीक है तो 'शिशुपाल वध' साहस और दृढ़ता का। 'कादम्बरी और वासवदत्ता रोमांस का प्रतीक है, तो कुमारसम्भव उत्तरदायी प्रेमी का। नैषधीय यदि अस्पष्ट मन (नल) का प्रतीक है तो रामचरित मानस मनोराज्य का।

आधुनिक युग में 'कामायनी' में नानार्थकता पुराकथा के कारण उत्पन्न हुई है और कामायनी, अंधायुग, कनुप्रिया, एक कंठ विषपायी', आदि साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है कि पुराकथा द्वारा समसामयिक संवेदनाओं समस्याओं और उलझनों को रूपायित किया जा सकता है, बल्कि पुराकथा द्वारा ही सफलतापूर्वक यह कार्य किया जा सकता है।

पुराकथाओं का एक अन्य पक्ष है जो सृजन की प्रेषणीयता से जुड़ा हुआ है और जिस पर बहुत कम विचार किया गया है। मूलतः यह प्रश्न सांस्कृतिक प्रश्न है। उदाहरण के लिये भारत में पुराणों की कथाएँ बहुत प्रचलित हैं। साधारण व्यक्ति बहुत सी प्रेरणाएँ इन्हीं कथाओं से पाता है। इनके पात्र और घटनाचक्र केवल 'आदर्श' रूप में ही नहीं आते बल्कि वे सांसो

वे साथी बन जाते हैं और स्वतन्त्र रूप में भी व मानव मन को अपने रहस्यमय तत्वों में उलझाये रखते हैं, अतः पुराकथाओं का माध्यम अपनाते ही साहित्य साधारण व्यक्ति के अवचेतन-चेतन का हमराही हो जाता है और लेखक को अपना मन्तव्य प्रेषित करने में सुविधा हो जाती है अतः जो देश पुराकथाओं की दृष्टि से जितना ही अधिक समृद्ध है, वह उतने ही उच्चकोटि के और साथ ही उतने ही सम्प्रेषणयुक्त साहित्य की सृष्टि कर सकता है।

इतिहासकथा भी साहित्य में प्रतीक बन सकती है यथा शेक्सपियर की 'जूलियस सीजर' अथवा वृन्दावनलाल वर्मा का—'झाँसी की रानी' नामक उपन्यास क्योंकि साहित्य में विशिष्ट सामान्य बन जाता है किन्तु पुराकथाओं में काल की प्राचीनता से, पूर्वस्मृतियों के जुड़े रहने से, कल्पना के मुक्त प्रवाह से अथवा विगतकाल की झंकार से जिस 'रहस्यमयता' की सृष्टि होती है, वह इतिहासकथा द्वारा सम्भव नहीं है। यह स्मरणीय है कि यह पुराकथाओं की रहस्यमयता 'रहस्यवाद' नहीं है। यहाँ रहस्यमयता का अर्थ है, एक निश्चित, स्पष्ट स्थिति से अधिक सर्जनात्मकता की उत्पादक स्थितियों की सृष्टि।

सभी पुराकथाएँ एक जैसी प्रतीकात्मक नहीं होतीं। 'अतिपरिचित' होने से पुराकथाओं की सांकेतिकता कम होने लगती है। कुछ कथाएँ ऐसी होती हैं, जिनका एक प्रसिद्ध अभिप्राय प्रचलित हो जाता है जैसे 'रामकथा' का। ऐसी कथाओं की भी पुनर्व्याख्या द्वारा समसामयिकता की अभिव्यक्ति हो सकती है यथा 'संशय की एक रात' (नरेश मेहता) में। किन्तु युगप्रवर्तक रचनाओं के लिये प्रायः लेखक कम प्रचलित पुराकथाओं का अनुसंधान करते हैं, जैसे 'कामायनी' में प्रसादजी ने किया है।

समसामयिक युग के लिए यम यमी, पृथु, ययाति, विश्वामित्र, जैसी कथाएँ अधिक उपयोगी हो सकती है और 'महाभारत' तो 'अन्धायुग' के बाद भी, यथार्थ प्रतीक है। महाभारत के विषय में जो यह कहा गया है कि जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं नहीं है—वह एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है।

आज की स्थिति ययाति और विश्वामित्र की मिश्रित स्थिति है। क्या इन कथाओं के स्रष्टा यह कल्पना कर सकते थे कि वे कामधेनुमयी अक्षय-उपयोगपरक कथाओं की सृष्टि कर रहे हैं। वस्तुतः पुराकथाओं की नित्य नूतनता का रहस्य यह है कि मानवमन जब एक जैसी (एक नहीं) स्थितियों से गुजरता है तब पूर्व स्थिति की स्मृतियाँ, उसकी समस्याओं और भावनाओं

के लिये एक क्षेत्र प्रस्तुत कर देती है, जहाँ वह पूर्वपाश्रा और घटनाओं के द्वारा अपने मन को टटोलता है और प्रायः अपनी उलझनों से गुजरते हुए, पुराकथा का क्षेत्र उसे समाधानों का सकेत दे जाता है, इसलिये पुराकथाएँ पुरानी भाषा में 'कामधेनु' कहलाती है। इसी दृष्टि से बीसवीं सदी के तकनीकी दृष्टि से विकसित किन्तु मनुष्यता की दृष्टि से अभी भी अविकसित नवीन सभ्यता की सक्रान्ति को प्रस्तुत करने के लिये पुराकथाओं का उपयोग प्रचलित है।

वर्जिल का 'एनीड', दान्ते की 'डिवायन कामेडी', शेली का, 'प्रामीथियस अनवाउण्ड', निराला की 'राम की शक्तिपूजा', प्रसाद की 'कामायनी', भारती का 'अन्धायुग' जसी कृतियों से, प्रारम्भ से अन्त तक—मानवीय-चेतना की निरन्तरता और विकास की दुदमनीयता प्रकट होती है, लगता है कि हम उन्हीं 'आत्मशिल्पियों' से जुड़े हुये है, जिन्होंने हिमालय के शृंगों को देखकर शिव की कल्पना की थी, जिन्होंने क्रौंच पर्वत की गुफा को देखकर सोचा था कि यह परशुराम के परशु का चमत्कार था, जिन्होंने नीले आकाश को 'दिगम्बर रुद्र' का बिम्ब दिया था, और प्रकृति के बदलते मन और विराट शक्ति को देखकर 'पार्वती' की मानसिक रचना की थी, जिन्हें वह पूजकर आत्मविश्वास प्राप्त करता था और साथ ही साहित्य में उन्हें वर्णित कर अपनी चेतना के लिये पाथेय जुटाता था।

घटनाओं में पुनरावृत्ति अवश्य होती है, भले ही उनमें मात्रा और गुण की दृष्टि से अन्तर हो—उदाहरण के लिये 'प्रलय' की आशंका पुरानी है, सर्वनाश का भय कबीलाई जीवन की एक वास्तविक आशंका थी। आज वह सर्वनाश नवीन रूप में उपस्थित है अतः प्रलय से सम्बन्धित कथा की ओर हमारा मन भागता है। सशययुग में 'द्वापर' की ओर रुझान बढ़ना स्वाभाविक है। अतः टी० एस० इलियट के शब्दों में 'विगत की—वर्तमानता'' (प्रजेटनेस आफ पास्ट) का बोध उन कवियों को अवश्य होता है जो काव्य या साहित्य की रचना पच्चीस वर्ष के बाद भी करते रहना चाहते हैं। अतः पुराकथाओं के प्रयोग का कार्य पच्चीकारी या कलाकारिता नहीं है अपितु यह 'भूतसिद्धि' है, शवसाधना है, सम्पूर्ण इतिहास के साथ जुड़े रहने का प्रयत्न है। अतः जो परम्परा के नाम पर, समसामयिकचेतना के भीतर बैठी हुई पुराकथाओं का बहिष्कार करना चाहते हैं वे सृजन के मूल स्तम्भ को ही काट फेंकना चाहते हैं।

कल्पनाहीन व्यक्ति पुराकथाओ के सामयिक प्रतीकत्व को नही पकड पाता। कभी कभी महज प्रतिक्रियावश वह पुराकथाओ की समृद्धि से दामन छुडाता है और केवल आत्मकथन पर ही जीवित रहना चाहता है। प्रतीकात्मकता से ऊबकर साहित्य म स्पष्ट कथन के दौर आते ही हैं। आज भी सभी साहित्यकार पुराकथा का प्रयोग नही करते और वे सफल भी होते हैं किन्तु स्थायी नवीनता की सृष्टि के लिये पुराकथा भी एक महत्वपूर्ण माध्यम है, इससे इकार नही किया जा सकता। भारतीय समृद्ध पुराकथाएँ लेखको को अपने पास इसलिये भी बुलाती हैं क्योंकि किसी भी समस्या के रूपायन के लिय यहा पुराकथाएँ विद्यमान है। स्वर्गीय डा० केशिनीप्रसाद चौरसिया ने मुझे "सीता की आत्महत्या" के "मिथ" के विषय मे कई पत्र लिखे थे। ये पत्र नवीन लेखक की सृजनाकुलता के श्रेष्ठ परिचायक हैं।

आत्महत्या की धारणा कायरता पूर्ण है या वीरतापूर्ण, वह पाप है या पुण्य, इसे लेकर बहुत सोचा गया है। नारी पुरुष के प्राकृतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक सम्बन्धो और उस सन्दर्भ मे आत्महत्या की उलझन के लिये "सीता की आत्महत्या" की पुराकथा बहुत सकेतमयी लगती है अत डा० चौरसिया उस पर काव्य लिखना चाहते थे, पर वह शायद पूरा नही कर सके। उनके मन म एतिहासिक प्रश्न भी उठते थे, क्या सीता ने 'आत्महत्या' की थी ? क्या राम ने सीता को उसके लिये विवश कर दिया था अथवा प्रतीकात्मकता को उभार कर कहे, 'क्या प्रत्येक पुरुष नारी को आत्महत्या के लिये ही विवश करता है अथवा नारी, पुरुष को एक भ्रम से गुजार कर फिर उसे अपने विषय मे सदेहग्रस्त करके तडपाती है ? राम का 'एकपत्नीव्रत' क्या एक गलत निर्णय नही था ?" इस तरह के अनेक सवालो को प्रस्तुत करने और इस तरह आज की "नैतिक सक्रान्ति" को झलकाने के लिये "सीता की आत्महत्या" की पुराकथा एक सशक्त माध्यम है और चूँकि "सामूहिक अचेतन" मे सीता अवस्थित है अत इस प्रकार का सक्रान्तिबोध सहज ही प्रेषणीय हो सकता है। इस तरह मानव मन की दृष्टि से—भूतकाल या परम्परा या नवीनता एक ही धातु के विभिन्न रूप है—भूत वर्तमान की भट्टी मे गलकर नवीन बन जाता है और उसम नवीन युग के नये प्रतीक की क्षमता आ जाती है।

क्या प्रत्येक मौलिक कल्पना म प्रतीकत्व आ जाता है ? यह एक आधारभूत प्रश्न है। वस्तुत भौतिक आवश्यकताओ के दबाव से, स्वच्छन्दता की सृष्टि होती है जो बाद म भौतिक स्वतन्त्रता म परिणत होती है, यह

क्रम प्राचीन युगो मे स्पष्ट देखा जा सकता है। ग्रीक देवताओ और भारतीय देवताओ की सृष्टि आदमी ने अपनी मूर्ति को प्रतिबिम्बत या प्रक्षिप्त करके ही की है। कालान्तर मे बुद्धि द्वारा उनका प्रतीकत्व विश्लेषित होने लगता है, जब मनुष्य अन्त सघर्ष का धीरे धीरे साक्षात्कार करने लगता है। साहित्य मे यह अन्त सघर्ष ही व्यक्त होता है अत जादू की क्रियाएँ, देवताओ के कार्य और रूप आदि प्रतीकात्मक रूप पाने लगते हैं। इस दृष्टि से पुराकथाओ की प्रतीको म परिणति का प्रवाह चलता रहता है। क्योकि चन्द्र, शुक्र, मगल आदि ग्रहो की विजय हम बुद्धि द्वारा कर रहे हैं, केवल कल्पना द्वारा नही जैसाकि 'पुराकथा' म होता है, अत 'ग्रहविजय' के पश्चात् नवीनतम मानव सभ्यताओ मे भी (यदि तृतीय विश्वयुद्ध न हुआ तो) पुराकथाओ से नित्य नये प्रतीको का दोहन प्रचलित रहेगा, क्योकि मानवमन की सकुलता बाह्य व्यवस्था की सकुलता के साथ बढती ही जायगी और यदि मनुष्य "सकुल सहजता" का विकास कर भी लेगा तो भी पुराकथाओ मे "सकुलसहज-प्रतीको" का भी अभाव नही है और फिर भी पुराकथाएँ अनबूझ, अद्भुत और नवीन बोधो का माध्यम बनी रहेगी।

पुराकथाएँ छायाओ की तरह होती हैं जो नये प्रकाश मे उगे सवालो के शतानो से जूझती हैं और वे कभी हमारा साथ नही छोडती।।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न—खतरे

दो विदेशी बात कर रहे थे। हिन्दी के लिये आन्दोलन चल रहा था, हिन्दी के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था—"यह हिन्दुस्तानी चरित्र है जो पराये को सह लेता है लेकिन अपने को नहीं सह पाता।"

"यह अति सरलीकृत, सामान्यीकरण है"—दूसरा कुछ कुढ़ कर बोला।

प्रथम ने कहा—सबूत यह है कि तमिल और बंगाल में एक तबका अंगरेजी को सीखना पसन्द करेगा, हिन्दी को नहीं, क्योंकि हिन्दी अपनों की है, अंगरेजी परायों की भाषा अतत एक विशिष्ट संस्कृति भी तो साथ लाती है। हिन्दी को अपनाने से तमिल और बंगाल में भारतीयता के प्रति निकटता का बोध होगा। अंगरेजी अपनाने से दोगली संस्कृति बराबर बनी रहेगी। हाँ, राष्ट्रभाषा हिन्दी होने पर किसी भी विदेशी भाषा और उससे सन्निविष्ट संस्कृति का अध्ययन और समीकरण स्वेच्छया होगा अत भारत 'सांस्कृतिक दोगलेपन' से बच सकेगा —भारतीय व्यक्ति में उसकी रीढ़ अपनी होगी।

किन्तु हिन्दी विरोधी मूलत स्वार्थों के लिये संघर्ष का एक रूप है, अत नेताओं के सम्मुख प्रश्न अब यह नहीं है कि हिन्दी राज्यभाषा या शृंखलाभाषा हो या कोई अन्य भाषा—यह तो निश्चित हो गया कि है हिन्दी ही शृंखला भाषा होगी लेकिन हिन्दी को इस रूप में सब स्वीकृति के लिये "स्वार्थों में सतुलन" करना होगा। हिन्दी से किसी प्रान्त के तरुणों की नौकरियों पर बुरा असर न पड़े, किसी अंचल पर दूसरे का अनुचित प्रभाव न बढ़ जाये, आदि-आदि।

यदि एक दल होता, निरकुश शासन होता, यदि कांग्रेस शासन में ढुलमुलयकीनी न होती तो भाषावार राज्य बनाते समय ही यह समस्या हमेशा के लिये सुलझ जाती किन्तु "यदि" हटाकर अब तो यथार्थ का सामना करना है। फिलहाल यह भी सम्भव नहीं कि प्रतिक्रियावादी बूर्ज्वा सरकारों की जगह क्रांतिकारी दल शासन का अधिकार पा जाएँ। और यह भी क्या

अनिवार्य ही है कि क्रान्तिकारी शासन म भाषावाद का समाधान सीधा और सरल हो सकेगा ? अब तो गाँठ पड गई है, रस्सी भीग चुकी है।

चाहे युक्तियुक्त हो या अनुपयुक्त या जनद्रोह, असलियत यह है कि जनतत्र मे जो जनता की भावनाओ को भडका लेता है वह अनुचित निणय भी करा लेता है, तभी "प्रबुद्ध जनमत" की सतत जागरूकता अनिवाय होती है। भाषावाद एक भूतावेश के रूप मे बढ रहा है, बढ गया है और देश का अस्तित्व ही खतरे मे है। वे लोग भोले हैं जो यह कहते हैं कि हिन्दी विरोध मात्र कुछ राजनीतिज्ञो का भटकाव है।[1]

स्थिति यह है कि कोई समूह अपने स्वार्थों को नही छोडना चाहता। उग्रवादी सबके जानते है कि देश की एकता को खडित करने के बिन्दु तक बढकर दिखा दो, तो "एकतावादी केन्द्रीय शासन" तुरन्त अधिकाधिक माँगें स्वीकार कर लेगा और उस क्षण उदारता से यह कह देंगे कि यदि हिन्दी न थोपी जाये, तो हम भारतवष के अग बने रहेंगे !

राजनीति मे आज भी 'भावुकता' ही निर्णायक तत्व है और भाषा के प्रति समूहो का एक रागात्मक सम्बन्ध होता है, जहाँ विवेक अपमानजनक लगने लगता है। इस स्थिति से वे "हिन्दी वाले" वाकिफ है, जो हिन्दी इतर प्रदेशो मे काम कर रहे हैं। अगरेजी-प्रधान वग का प्रभाव तो स्वीकाय है, परन्तु "हिन्दी वालो के प्रभाव से तो मौत अच्छी" कुछ इस तरह की मनोवृत्ति बनती जा रही है।

नेहरूजी के आश्वासन कानून बन जाने के पश्चात् हिन्दी के लिये सघष और भी दूरगामी और दुधर हो जायगा, लेकिन किसी क्रान्तिकारी विकल्प के लिए हम स्वय प्रस्तुत नही है।

किसी भी मूल्य पर राज्याधिकार रखने के महत्वाकांक्षी केन्द्रीय सरकार के सदस्य पुन पुन तब तक समझौते करेंगे, जब तक भाषा का समाधान "असाध्य" न हो जाये क्योकि देश से अधिक उन्हे अपने अस्तित्व की चिन्ता हो गई है।

ऐसी स्थिति म सरकार के विरोध के साथ साथ, सभी भारतीय भाषाओ के विवेकशील समूहो का सद्भाव प्राप्त करना है और एक प्रबल जनमत तयार करना है कि अगले चुनाव म यह त हो जाय कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना है या नही। यो अभी तो स्वय हिन्दी प्रदेशो म ही विधि,

---

१ द्रष्टव्य—तमिलनाडु म भाषाई भावुकता—आरिगपूडि, धमयुग १५ अक्टूबर, सन १९६७।

शासन, तकनीकी ज्ञान आदि क्षेत्रों में अंगरेजी का साम्राज्य है। और भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम बनाने की जो कागजी घोषणा हुई है, उसे विश्वविद्यालयों के उस तबके पर छोड़ दिया गया है जो अंगरेज परस्त था, और अब भी अंगरेजी परस्त है। यही तबका, उच्च नौकरशाही से साँठ गाँठ कर भारतीय भाषाओं की पीठ में छुरा भोंकता आया है और यह गिरोह पुनः भारतीय भाषाओं को सहज ही माध्यम नहीं बनने देगा। पग पग पर युद्ध करना होगा अन्यथा भाषण हिन्दी में दिये जाएँगे और पढ़ाई अंगरेजी में चलेगी, यानी हिन्दी "औपचारिक" भाषा के रूप में ही इन गिरोहों में स्वीकृत होगी।

जन-संघर्ष, छात्र-आन्दोलन तीव्रतर हो रहे हैं। इस सन्दर्भ में कुछ बिन्दुओं पर विचार करना होगा

प्रथम, विदेशी भाषाओं से हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद कार्य विस्तृत पैमाने पर शुरू होना चाहिए। एक "अनुवाद मंत्रालय" होना चाहिए जो शिक्षा विभागों के अन्तर्गत काम करे अथवा विश्वविद्यालयों, कालेजों को एक "विराट अनुवाद योजना" के अन्तर्गत काम बाँट दिया जाये। अनुवाद के बिना देश कूपमण्डूक हो जायगा क्योंकि अभी तक हम अंगरेजी के माध्यम से विदेशी प्रगति से परिचित होते थे, नई पीढ़ी में अधिकांश को यह सुविधा नहीं होगी। केवल १८ करोड़ रुपये से तो पाठ्य-पुस्तकों का भी अनुवाद नहीं कराया जा सकेगा, जिसकी व्यवस्था केन्द्रीय शिक्षा विभाग ने की है।

दूसरा कार्य जो अविलम्ब होना चाहिए, वह यह कि विश्वविद्यालयों में सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं के शिक्षण का प्रबन्ध हो—हिन्दी के अतिरिक्त कम से कम एक भारतीय भाषा की अनिवार्यता उच्चपदों के लिये अवश्य होनी चाहिए, तभी हिन्दीतर प्रान्तों में हिन्दी को स्वीकृति मिल सकेगी और यह मान्यता बन सकेगी कि "हिन्दी वाले" भी तमिल जैसी भाषाओं को अपनी भाषा मानते हैं। इसे कहा तो गया है पर इस वक्त इस तथ्य को न केवल रेखांकित करना आवश्यक है, बल्कि इसे अमल में लाना होगा। हिन्दी प्रदेशों में "त्रिभाषा फ़ार्मूला" असफल इसलिये हुआ कि उसे लागू नहीं किया गया; इससे हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी प्रदेश के प्रति आशंकाएँ पनपती हैं जो एकता के लिये खतरनाक हो सकती हैं।

और अन्त में स्वयं हिन्दी प्रदेश में भी जन बोलियों को उचित सम्मान और संरक्षण मिलना चाहिए। उर्दू को राज्यभाषा बनाना तो अवश्यम्भावी है

किन्तु उस सुविधाएँ मिलनी चाहिए। इसी तरह अवधी, ब्रजभाषा, मारवाड़ी, हाड़ौती, मवाली आदि अनेक समृद्ध बोलियों और उप भाषाओं की समृद्धि से हिन्दी का हित ही होगा। अन्यत्र मैं यह लिख चुका हूँ कि जिस प्रकार कुमाउँनी, राजस्थानी (मारवाड़ी, हाड़ौती, मवाली आदि सभी) प्रदेशों में खड़ीबोली हिन्दी को आदर की दृष्टि से देखा जा रहा है कि वहाँ हिन्दी अनदेखा की तरह स्थानीय भाषा के प्रति उदासीनता दृष्टि न अपना ले। इस प्रजातांत्रिक मनोवृत्ति का आदर तथा दूरदर्शिता न समझ कर, डा० राम गोपाल शर्मा 'दिनेश' ने 'साहित्य-परिषद (आगरा) में मेरी मान्यता के पीछे राजनीतिक कारणों का अनुमान किया था। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से भी यह अच्छी है कि बोलियों और उपभाषाओं की समृद्धि हो अन्यथा उसे प्यार करने वाले उस भाषा से घृणा करते हों, जिसे आप "प्यार" करते हैं। यह सच है कि 'राजस्थानी' पूरे राजस्थान में स्वीकृत कोई एक भाषा नहीं है, वह "मारवाड़ी उपभाषा" कहला सकती है लेकिन मैं तो मारवाड़ी हाड़ौती, ढूँढाड़ी, मवाली आदि सभी की समृद्धि की बात करता हूँ। करोड़ों मानव जिस बोली में बात करते हों भावनाएँ प्रकट करते हों उसमें यदि आज गद्य नहीं है तो कल "जायसवाल" से गद्य भी लिखा जा सकता है और वह बोली 'शिक्षा का माध्यम' बन सकती है। यही नहीं, बोलियों के आधार पर प्रान्तिक प्रश्नों की माँग अभी समाप्त नहीं हुई है, अतः शासन और शिक्षा के माध्यम आदि के लिए यदि हिन्दी को 'स्थायी स्वीकृति" दिलानी है तो यही उचित है कि उस प्रदेश की बोली और उपभाषा की स्थिति उपेक्षणीय न हो।

हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य को कोई रोक नहीं सकता क्योंकि कोटि-कोटि जनता के कण्ठों से, लेखनियों से हिन्दी प्रकट हो रही है। कोटि-कोटि जन हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं द्वारा ही अपनी "जुबान" पा सकते हैं, मौलिक चिंतन और सृजन कर सकते हैं, इसीलिये हम हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के समर्थक हैं, इसलिये नहीं कि हम पक्षपाती या दुराग्रही हैं या हमारे समूचे देश और जनता के हित के प्रतिकूल हैं।

राष्ट्रभाषा के लिए व्यापक संघर्ष के क्षणों में दुरूहताओं और सम्भावनाओं पर एक साथ विचार होना चाहिए।

हिन्दी प्रदेश और केंकड़े

हिन्दी प्रदेश मे इधर 'केकडो' का जोर बहुत बढ़ा है। सुना है कि अगर आप केकडो को किसी घेरे मे बन्द कर द और अगर उनम कोई निकलने कोशिश कर तो दूसरे उसकी टांग खीच कर नीचे कर लेते । नतीजा यह कि अधिकतर उस घेरे के बाहर नही, भीतर ही रह जाते हैं और इधर उधर न देखकर सिफ अपने पिण्ड म ही ब्रह्माण्ड देखने हैं। अपवादो पर यह नियम आरोपित नही किया जा रहा लेकिन एक बहुत स्पष्ट रुझान इधर यही है, इसलिये यह लिखना जरूरी है।

ऐसा क्यो है ? इसका एक बडा सबब है, "अपनी कीमत' बढाने के लिये रचना से अधिक विज्ञापन की कोशिश। इसके लिए ही सम्पादको और लेखको, लेखको और लेखको, लेखको और आलोचको मे 'लतियाव" चल रहा है। जब जब लेखक का अवधान क्षेत्र सकुचित होता है, चेतना अपने मे ही सिमिटने लगती है, तब तब ऐसा ही होता है। दूसरा सबब है, हिन्दी प्रदेश म समष्टिमूलक चेतना का पिछडापन तथा उसके परिणाम स्वरूप पूजीवादी, सामतवादी मनोवृत्तियो का दबाव। यह दबाव प्राय अचेत रूप स ही होता है जो लेखको मे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की जगह, उनमे 'केंकडापन" की प्रवृत्ति को बढावा देता है। बाहर बाजार, व्यापार, उद्योग और प्रतिष्ठानो की प्रतियोगिता का प्रतिबिम्ब लेखको म व्यक्त हो रहा है और इस तरह की प्रतियोगिता जिस तरह सेठियो, जमीदारो, नेताओ और चौधरियो को सिफ "आत्मकेन्द्रित" कर देती है, यानी उन्ह अपनी प्रतिष्ठा, अपने परिवार, जाति या वग की प्रतिष्ठा तक ही सीमित कर देती हैं, ठीक इसी तरह लेखको म शक्ति सम्पन्न, धनसम्पन्न, प्रतिष्ठा सम्पन्न और अब "पत्रसम्पन्न" (सम्पादक बनने की होड) की गलाकाटक' प्रतियोगिता चल रही है। यह कई छद्म रूप धारण करती है। मिसाल के लिए, कुछ इस तरह के उपाय अपनाये जा रहे हैं—

(१) जिसे गिराना हो, उसे "पुराना" घोषित कर दो। इसके लिए रात दिन मित्रो मे प्रचार करो, सम्पादको को पत्र लिखो और जो न मानें, उसे भी "पुराना" घोषित कर दो।

(२) यदि रचना की चर्चा नही होती तो आंचलिक आन्दोलन खडा करो, जो प्रान्त, जिला, तहसील, गाव, जाति, धर्म आदि के आधार पर हो सकता है।

(३) जो आलोचक आपकी चर्चा करे, उसकी आप चर्चा करिये, उसे उद्घाटन, भाषण, परिसंवाद आदि के लिए बुलाओ, जो ऐसा न करे, उसका हुक्का-पानी बंद। अगर फिर भी उसका पूछा जाए तो उसके श्रोताओ में बुरा मुंह बनाकर बैठो। हर अक्लमन्दी की बात पर इस तरह हसा जसे वह सिडी और सडा हुआ है।

(४) अपनी अपनी अलग पत्रिका निकालो और उसम सिर्फ उन्हा को छापो, जो आपके प्रशसक बन सकते है यानी पत्रिका का कार्य रचना को बढावा देना नही रचनाकार की "इमेज" गढना ही है।

(५) जो शैली या मनःस्थिति औरो का ध्यान आकर्षित करे, उसकी नकल शुरू कर दो।

(६) खिलाफ उन्ही के लिखो जो जीवन म हानि नही पहुँचा सकते। अधिकारी आलोचक धनी सेठ, प्रभावशाली मंत्री, अपनी संस्था के चौधरी आदि की चापलूसी करो, एकांत मे गालिया देकर कोटा पूरा कर लो।

(७) सिर्फ एग्लो-अमरीकी लेखको से प्रेरणा लो, समाजवादी देशों से प्रेरित होने म सम्पत्ति, प्रतिष्ठा आदि को खतरा है। इसलिए कहो कि प्रगतिशीलता मर गई, प्रगतिवाद को जला दिया गया।

(८) क्रान्ति सिर्फ सेक्सस्तर पर करो ताकि भोग निर्बाध हो या फिर गरीब बाप मां को कोसो।

इसलिए इधर "वेचारी पीढी" नही, "अतिचारी" पीढी है जो "अस्वीकार" पर पल रही है लेकिन इस "अस्वीकार" म क्रान्तिचेतना नही है, जनता को भ्रान्त करने का व्यापक षड्यन्त्र है। "अराजनतिक" होते जाने का यही कारण है कि अराजनतिक होने म सुख है सुविधा है और दुगना शासन और समाज म प्रतिष्ठा का कारण भी। युवा जानता है कि

यह आक्रोश वस्तुगत, नहीं है, व्यक्तिगत है। चोट जड़ पर नहीं होती, पीठ पर हलकी धौल लगती है।

उपाय क्या है ? उपाय तो यह है कि सामाजिक तथा राजनैतिक चेतना जगे, वर्ग संघर्ष तीव्र हो।

छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद भी 'युयुत्सा' के देश (बंगाल) से ही शुरू था फिर इधर आया। अब 'युयुत्सा" और "वाम" जैसे पत्रों को देखकर सम्भव है, यहाँ भी कुछ जगे। कुछ तो जगे हुए है, वे कभी सोते नहीं है, और जो अधिकतर सोते हैं, सुख से, वे कभी जगते नहीं है, इसलिए अपनी टकटकी तो आपकी तरफ (कलकत्ता के क्रान्तिकारी लेखन) ही लगी हैं, यही क्या कम है कि इधर काफी लेखक आपकी तरफ देख रहे है। कंकड़ों को परो से छुड़ा रहे हैं।

प्रतिबद्धता बनाम अप्रतिबद्धता

प्रतिबद्धता की धारणा तभी विवादास्पद बनती है जब परिवर्तनशील और प्रतिगामी शक्तियां के संघर्ष म गर्मी आने लगती है। सावयविक समाजो (कबीलो, प्रारम्भिक कृषि-समाज आदि) मे व्यक्ति अप्रतिबद्ध हो सकता है, यह कल्पना करना भी कठिन है।

इस देश क लम्बे सामन्ती समाज म भी प्रतिबद्धता का प्रश्न नही उत्पन्न हुआ। काव्य का हेतु 'मानव करुणा' (शोक श्लोकत्वमागत) स्वीकार किया गया, क्योकि सामन्ती समाज म व्यक्ति जाति गोत्र, वश, परिवार, ग्राम आदि घेरो म बँधा रहता है, अत वह पूर्ण व्यक्तिवादी नही हो पाता।

इस तरह अप्रतिबद्धता की धारणा, व्यक्ति की स्वच्छन्दता की धारणा है, जो औद्योगिक पूँजीवादी समाज व्यवस्था म पनपी है—इस व्यवस्था म 'मानवीय सम्बन्ध', 'पैसे के रिश्तो' म बदलने लगते हैं। एक नये बूर्ज्वा वर्ग का जन्म होता है, जो राजाओ की तरह सुरुचि क कारण नहीं, प्रदर्शन और संग्रह के लिये कला और साहित्य की ओर देखता है, उसे बिक्री की वस्तु बनाता है।

बूर्ज्वा वर्ग की इसी कुत्सित रुचि के कारण कलाकार 'अलगाव' महसूस करता है, जो दार्शनिक नही परिस्थिति जन्य होता है। फ्रांस मे गोतिए ने इसी कारण 'कला कला के लिए'—यह नारा लगाया था, क्योकि बूर्ज्वा वर्ग दोहरा जीवन जीता है। वह एकान्त मे अनैतिक और समूह मे नैतिकता का दावा करता है। इसलिए इस द्वन्द्व पर चोट करने के लिए गोतिए ने कहा था कि किसी नगी औरत को देखने के लिए वह फ्रांस की नागरिकता को छोड सकता है। इस तरह 'स्थापित' व्यवस्था के मूल्यो के लिए सर्जक और चिन्तक 'नहीं' घोषित करने लगते हैं।

अप्रतिबद्धता का दूसरा रूप 'शीत युद्ध' के काल म उदित हुआ है। दो शिविर अपनी-अपनी 'आइडियालॉजी' क अनुसार सृजन और चिन्तन का राजनैतिक हितो के लिये प्रयोग करना चाहते है। ऊब कर 'आत्म शिल्पी'

सजक और चिन्तक अपने को अप्रतिबद्ध घोषित करने लगते हैं ताकि उनकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे। इस अप्रतिबद्धता के भी अनेक रूप हैं।

हिन्दी मे प्रगतिवाद ने 'पक्षधरता' की धारणा प्रस्तुत की थी। सामाजिक चेतना को जगाने और उसे 'क्रान्तिकारी चेतना' मे बदलने के साम्यवाद ने सजको का आह्वान किया था। किन्तु अधिक 'वसाव' और इस देश के श्रमिक कृषक वर्गों के सगठनों की अनेक असगतियो और अपूर्णताओं के कारण, साहित्य मे वर्ग चेतनात्मक पक्षधरता का इच्छित विकास न हो सका।

इस उग्र पक्षधरता के विरोध मे ही उग्र-व्यक्तिवाद अथवा अप्रतिबद्धता की धारणा प्रचारित हुई थी जिसके लिए अमरीका से प्रेरणा और विचार मिलते थे। सास्कृतिक स्वतन्त्रता' (कल्चरल फ्रीडम) जसे आन्दोलन मुख्यत साम्यवादी-समाजवादी धारणाओ के अवरोध के लिए ही चले थे। अज्ञेय जी इस आन्दोलन के एक सक्रिय सदस्य रहे और शायद अब भी है।

अप्रतिबद्धता का आन्दोलन जहाँ लेखको की स्वच्छन्दता के लिए सघर्ष करता है, वहाँ वह आजादी' की धारणा को 'आवश्यकता की पहचान' से अलग करके देखता है। मिसाल के लिए, अमरीका को अपने आर्थिक प्रभाव की आजादी चाहिए, तो एसिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका के देशो को इस आर्थिक साम्राज्यवाद और उसके साथ आने वाली 'वणिक सस्कृति' के विरोध की आजादी चाहिए। किन्तु 'कल्चरल फ्रीडम' के वृत्त के विचारक इस तरह सोचने से घबराते है।

चीन, क्यूबा, अरब देश, बर्मा और अब वियतनाम के सघर्ष 'अप्रतिबद्ध' होकर नही लडे जा सकते थे। इन देशो का साहित्यकार और चिन्तक आम आदमी की हरारत का अनदेखा नही कर सकता। अज्ञेय और कास्त्रो के विचार एक से नही हो सकते क्योकि अज्ञेय पूँजीपतियो द्वारा दी गयी सुविधाओ का भोग कर, 'मानवात्मा की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ, पर सुख से इस तरह सोच सकते हैं जसे वह निरपेक्ष हो। हिन्दी की बडी बडी व्यावसायिक पत्रिकाएँ (धर्मयुग, 'सारिका' आदि) और पत्र (बिड़ला, साहू जन, डालमिया आदि के), चाहे वे दनिक हो या साप्ताहिक, पक्षधर क्रान्तिकारी चेतना के विकास के लिए कुछ नही कर सकते, क्योकि अन्तिम व्याख्या मे ये पत्र पूँजीवाद को जमाये रखने के लिए हैं, उखाडने के लिए नही। इसीलिए इनके सम्पादक 'बडे' होने पर जनता की दृष्टि से जल्दी ही 'सडे' साबित होते हैं।

ये बडे व्यावसायिक पत्र यश, पद, धन और प्रभाव ने भूख मध्य वर्ग के लेखको को 'लेखक' बनाने मे निर्णायक भूमिका अदा कर रहे हैं और

दोली के विरोधी 'सस्थान' इनके साथी और सहयोगी होते हैं, क्योकि उन्ह 'प्रसिद्धि' चाहिए। इसीलिए व्यावसायिक पत्रो का वहिष्कार सम्भव नही ो हो पाता है।

लेकिन परिवेश की दुर्गति का दवाव इस षडयन्त्र का पर्दाफाश कर ा है। इसलिए 'अप्रतिवद्धता' को वूर्ज्वा धारणा मानकर पुन प्रतिवद्ध हित्य की ओर ध्यान जाता है। पिछले दशक म 'अप्रतिवद्धता' का बोलबाला ा। सन्' ६० के बाद पुन प्रतिवद्धता की प्यास बढती जा रही है।

सन्' ६० के बाद लघु पत्रिकाओ और आन्दोलनो के नाम ही इस तिवद्धता का साबित करते हैं—'निष्ठा', 'वातायन' (राजस्थान), 'भूखी ढी' (बगाल), 'विद्रोही पीढी' (इलाहाबाद), दिगम्बर पीढी' (आ प्र), और व 'श्मशानी पीढी'।

'श्मशानी पीढी', 'विभक्ति' (कलकत्ता) नामक पत्रिका के लेखको ने रू की है। गत दो फरवरी को नीमतल्ला श्मशान घाट पर एक मुर्दे की अध्य ता मे कवि गोष्ठी की गयी—

"भारतीय युवा पीढी के लिये इस तरह के विद्रोह की आवश्यकता , जहाँ स शरीर या जिन्दगी की अथवत्ता की शुरुआत हो बीटनिक और प्पी पीढी पलायनवादी है, क्योकि वह यथाथ को झेलने (समाज यवस्था म ण परिवतन) मे नितान्त असमथ है हर तरह के वूर्ज्वा इस नये रचनात्मक ोध से भयभीत हैं।"

यह स्वर पिछले दशक की मासूमियत और सौन्दर्यवादिता से भिन्न । आज हर लघु पत्रिका मे रूसो वाल्तेयर, शेली और मायकोवस्की के प्रेत ाग रहे हैं।

फ्रास ने फिर साबित कर दिया है कि वामपथी प्रतिवद्धता क्या कर कती है। ज्यां पाल साप्र ने छात्रो क सम्मुख क्या कहा, यह तो अभी नही ढने को मिला, लेकिन 'अस्तित्ववाद' जिसे कुछ अपढ और कुछ प्रतिगामी खको ने वडे ही मरियल' रूप म पेश किया है, कितना क्रातिकारी हो सकता यह सात्र और कामू के लेखन और कम से साबित होता है।

प्रतिष्ठानो द्वारा लेखका और विचारको को 'नयी प्रतिष्ठा' और पद मिले हैं—उनसे एक अभिजात लेखक' या 'अमीर लेखक' का भ्रम उत्पन्न ुआ है इस वग म साहित्य की तवदोली पसन्द भूमिका का नकारा जाता

है, और सिर्फ गतिहीन सौंदर्य, क्रमहीन चरित्रचित्रण अथवा देशकाल निरपेक्ष सर्वातीती सृजन को ही महत्व मिलता है। ऐसे वातावरण में 'आत्म शिल्पी' सर्जक 'आत्मा की सम्भावनाओं' पर ध्यान नहीं देते, वे सिर्फ चेतना की दुरूहताओं तथा दुर्गतियों को रूपायित करते हैं। इससे पाठक एक ऐसी 'मिथ' में विहार करने लगता है, जिसमें वास्तविक जीवन अमूर्त, निरर्थक और निर्मूल्य प्रतीत होता है। यह अज्ञेय के 'नव रहस्यवाद' में, 'नदी के द्वीप' में, भारती के क्षयी रोमांस में और इन्हीं के चेले चपाटों के लेखन में मिलता है।

यह याद रखना चाहिए कि पिछले दशक की 'नयी कविता' में हमारे देश की असंगतियाँ और अन्धता ही प्रतिबिम्बित हुई है—उनके विरुद्ध संघर्ष कमजोर हुआ है। कविता में शमशेर, मुक्तिबोध जैसे प्रगतिकामी कवि अवश्य अपने अन्तर्द्वन्द्वों के साथ-साथ व्यापक विद्रोह के प्रति जागरूक रहे हैं। इस विद्रोह चेतना ने ही नयी कविता का सर्वश्रेष्ठ कवि मुक्तबोध को बनाया, न कि अज्ञेय को। नयी कहानी में कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, राकेश वगैरह ने अधिक यथार्थबोध का परिचय दिया है, लेकिन यह भी अपने बूर्ज्वा घिराव और दबाव से बच नहीं सके।

इस दबाव का एक दिलचस्प सबूत यह है कि 'अस्वीकृति', 'अजनबी', वरण' जैसी भ्रान्तिबोधक धारणाएँ हिन्दी में जुल्म को सहन के लिए प्रयुक्त की जाती रही है। कामू का अजनबी' (आउट साइडर) बूर्ज्वा समाज से भयंकर लेकिन गहरी और शीतल घृणा करता है। 'द फाल' में कामू एक सफल आधुनिक व्यक्ति का आत्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अपनी कमजोरियों के प्रति यह निर्ममता 'सत्य के प्रति प्रतिबद्ध' लेखक में ही होती है—किसी 'सत्य' के नाम पर अपने को जमाने वाले लेखक इसे छिपाते हैं और अधिकतर लेखक इस नैतिक साहस से रहित हैं।

देश के श्मशान' बनते जाने में एक यह भी कारण है। मुर्दा अप्रतिबद्ध होता है, लेकिन 'शव साधना' से 'शव' भी जग जाता है। असुरक्षा और पूँजीवादी मूल्यों का शिकार भारतीय लेखक इस 'शव साधना' से डरता है, लेकिन अब नव्यतर पीढ़ी सन' ६० के बाद आक्रोश और स्वस्थ अस्वीकृति को वाणी दे रही है, गर जानिबदारों के नीचे से जमीन खिसक रही है।

आधुनिकता के विषय में

"आधुनिकता" एक दृष्टि है, एक प्रक्रिया है, इसलिये इसे एक निश्चित धारणा मे बाँधने की कोशिश व्यर्थ साबित हुई हैं। यह प्रक्रिया, देश काल के अनुसार विविध रूपो म दिखाई पडती है इससे कठिनाई और बढ जाती है। विकास के सोपान भिन्न होने से, एक देश मे जो आधुनिक माना जाता है, उसे दूसरे देश मे गतानुगतिक मान लिया जाता है।

देश और काल के अतिरिक्त विभिन्न ज्ञान क्षेत्र इस आधुनिकता की विशिष्ट परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिय कुछ अर्थशास्त्री-समाज शास्त्री आधुनिकता का एक ही भेदक लक्षण मानते हैं—"टकनालॉजी" या तत्र कौशल। प्राचीन युग को आधुनिक युग से तत्र कौशल के आधार पर अलग किया जा सकता है इसम सदेह नही लेकिन साहित्य और कला के क्षेत्र मे केवल तत्र कौशल तक ही आधुनिकता को सीमित नही किया जा सकता। कारण यह है कि रचना, मात्र तत्र कौशल नही होती उसमे "तत्व" (विचार भाव, सवेदना) का निर्णायक महत्व होता है। मसलन् स्फटिक म प्रकृति का मात्र तत्र कौशल नही है। स्फटिक भौतिक "तत्वो" की ही एक विशेष सगति का नाम है। इसी तरह काव्य और कलाओ म सिर्फ कारीगरी नही होती, लेखक या स्रष्टा का विश्वबोध, भाव और सवेदन का भी मूलभूत महत्व होता है।

प्रो० राजकृष्ण[१] का कथन है कि साहित्यिक कृतियो या अन्य कला-कृतियो या अन्य कलाकृतियो के विषय म आधुनिकता के आधार पर निर्णय नही हो सकता क्योंकि तत्र कौशल की दृष्टि स बहुत विकसित युगो के "सहृदय" लोग, प्राचीन कला को पसन्द कर सकते ह और उनमे अपनी मानसिक समस्याओ का समाधान भी खोज सकते हैं। इसलिये सृजन के क्षेत्र

---

१ "परम्परा और आधुनिकता" पर अनुसधान परिषद्, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, द्वारा आयोजित परिसवाद म प्रो० राजकृष्ण का विषय प्रवर्तक भाषण। (१९६८)

मे, "रुचि" के ऊपर आधुनिकता को छोड देना चाहिए। बीसवी शताब्दी का कोई आधुनिक व्यक्ति गाथिक स्थापत्य को पसन्द कर सकता है, कोई 'शास्त्रीय सगीति" को अधिक 'शुद्ध" और 'अमूर्त' मान सकता है, कोई विगत रचनाओ का पूर्ण तिरस्कार कर, सिर्फ सामयिक कला को ही आधुनिक कह सकता है तो कोई महाभारत और रामायण, इलियड और ओडसी, युद्ध और शाति तथा हेमलिट से मानसिक खुराक पा सकता हैं। तत्र कौशल की तरह इसान जल्दी जल्दी नही बदलता अतएव प्रो० राजकृष्ण के मतानुसार, कला और सजन क क्षेत्र को "रुचि" के तक पर छोड देना चाहिए क्योकि तत्र कौशल के सिवा, आधुनिकता के अन्य भेदक लक्षणो को गिनाते ही, उनका खडन हो जाता है।

लेकिन यदि "तत्व" को ध्यान म रखकर—"आधुनिकता" पर विचार करे तो पश्चिमी देशो मे यानी पू जीवादी देशा म "मनुष्य" के विषय मे एक अभतपूव धारणा का विकास हुआ है।—मसलन एथोनी ओनिन का विचार है कि आधुनिकता का परम्परागत सजन से मुख्य अतर इस प्रकार हैं —

"आधुनिक सजन मे जीवन की बुनावट का यथावत् अकन होता है जसाकि "यूलिसिज" (जेम्स ज्वायस) मे हुआ है। मानव स्वभाव सकुल (काम्प्लक्स) है, प्राचीन और मध्यकालीन लेखक उसे "सरल" समझते थे। बहुत से समसामयिक स्रष्टा भी मानव स्वभाव की गूढ़ता को नही समझते वे भद्रता की धुन मे, आदमी की नीचता, कमीनापन, गन्दगी और अविश्वसनीयता को छुपाकर लिखते हैं। इसके विपरीत प्रारम्भिक "आधुनिक" लेखक जेम्स ज्वायस और बोदलेयर वगरह ने आदमी के—भ्रमों (आदर्शों, मूल्यो, स्वप्नो) के नीचे छिपे असली रूप को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। उन्होने 'काव्यभावो" (Poetic emotions) क स्थान पर अर्थात् प्राचीन काव्यो मे चित्रित सामा यीकृत रति, हास, विस्मय, ग्लानि आदि काव्यभावो के स्थान पर, असली भावो और मशाओ का, स्वार्थो और क्षुद्रताओ का वणन किया है और इनके वणन म,—"तत्र कौशल" स काम लिया है। इस प्रकार तत्व की दृष्टि से आधुनिकता का प्रथम लक्षण 'भ्रमो का ध्वस" और सकुल मानव स्वाभाव" का चित्रण है।"[१]

मनुष्य के मन की सच्ची तस्वीर पेश करने म, 'सपाट-बयानी" काम नही दे सकती यानी "सपाट बयानी" का अथ है कि लेखक मे "अभिधा की

---

१ द्रष्टव्य—ए डिफेन्स आफ माडर्निटी—एथोनी ओनिन,

गहराई"[२] और 'ईमानदारी" का अभाव है। ईमानदारी का मतलब है कि रचनाकार "आदमी" के मूल स्वरूप से परिचित होकर भी कभी कभी, किसी वाह्य उद्देश्य से, उसे "भद्र" या "महान" या "उदात्त" रूप मे चित्रित करना चाहता है—अत सच्चाई के साथ समझौता न करके, सत्य को नग्न रूप मे—अंकित करना ही आधुनिकता है।

आधुनिकता की इस "पश्चिमी-परिभाषा" म—परम्परागत "उदात्त", "भव्य", "महान", "आदर्शवादी", "त्यागी", वीर" और—"भद्र" नायक का दूसरा ध्रुव प्रस्तुत किया गया है। परम्परा से आधुनिकता का विकास इन ध्रुवो मे समझा जा सकता है —

परम्परा	आधुनिकता
१ आदर्शवादी	१ यथार्थ प्रिय
२ निश्चय	२ अनिश्चय
३ भद्रता, शालीनता	३ अभद्रता, अशालीनता
४ शांति	४ क्षोभ अशांति
५. पारलौकिकता	५ इहलौकिकता
६ मर्यादा	६ स्वच्छन्दता
७ सामाजिकता	७ व्यक्तिवाद तथा "असोशल" होना
८ विश्वास	८ विश्वास का सकट—अविश्वास
९ नैतिकता	९ अनैतिकता (अमारल) तथा नैतिकता विरोध
१० मानव सम्बधो मे स्थिरता	१० सम्बधो का सकट, मानव सबधो के विरुद्ध विद्रोह
११. सृजन का उद्देश्य—मनोरजन और उच्चतर मानव मूल्य, प्रकाश की खोज	११ सृजन द्वारा स्वय प्रकाशन तथा मनुष्य का भ्रमभग, छाया या अधकार की पहचान
१२ तन्त्र कौशल या भाषा शैली म प्रयोगो का अभाव	१२ नूतन प्रयोग, वर्णनात्मक, औद्योगिक और नागरिक बिम्बविधान

---

२ डप्थ आफ अवेयरनस

इस सूची को और बढ़ाया जा सकता है लेकिन आधुनिक स्रष्टा की मानसिकता, दृष्टि और संवेदना को समझने के लिए इतना काफी है। इस सन्दर्भ में एक दो बिन्दुओं का स्पष्टीकरण आवश्यक है। "आधुनिक" लेखक "परम्परा" को एक "स्टॉक" या पुराने सामान के ढेर की तरह मानता है जिसके कुछ तत्व, परम्परावादी तत्वों में जीवित रूप में भी दिखाई पड़ते हैं। मसलन सभी देशों में, जनता का एक बड़ा भाग अब भी दैवी शक्तियों, धर्म-कर्म आचार रीति रिवाजों में विश्वास करता है। इसे भी 'आधुनिक' एक 'स्टाक' के रूप में ही देखता है और पुरानी पुराण कथाओं पात्रों और संज्ञाओं का प्रयोग भी कर सकता है। लेकिन आधुनिक उनका प्रयोग किसी "आस्था" जगाने के लिये या किसी भी—"मूल्य-व्यवस्था" को स्वीकारने के लिये ऐसा नहीं करता बल्कि उपयु क्त—"आधुनिक" मानसिकता उत्पन्न करने के लिये करता है। कामू ने "सिसीफिस", जेम्स ज्वायस ने "यूलिसिस", धर्मवीर भारती ने महाभारत की कथा, (अंधायुग), कुँअर नारायण ने नचिकेता (आत्म जयी) और राजकमल चौधरी ने "मुक्ति प्रसंग" में तान्त्रिक देवी के मिथकों और प्रतीकों का प्रयोग किया है। इस तरह "आधुनिक" लेखक "परम्परा की सामग्री" का अपने प्रयोजन के लिये प्रयोग करता है परन्तु वह "दूसरे ध्रुव" पर बैठकर ऐसा करता है।

दूसरा बिन्दु है, काव्यभावों की जगह—संकुलभावों का अंकन। आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव मन की जटिलताओं का एक विकट रूप प्रस्तुत किया है अतएव बाल्मीकि, तुलसी और हरिऔध के भावुकतावादी विवरण, कालिदास माघ और श्री हर्ष के रसात्मक चित्रण, इस भ्रम पर आधारित प्रतीत होते हैं कि मानव भाव सरल और सीधे होते हैं। जबकि "आधुनिक" तथ्य यह है कि भाव स्थायी और संचारी की कोटियों में न बँटकर, एक दूसरे को काटते चलते हैं। पुराने जीवन और समाज में भावों की सरलता रहती है लेकिन संकुल समाजों में मानव सम्बन्धों की अस्थिरता और द्वन्द्व के कारण, अनेक विचारधाराओं और विज्ञान के कारण, भाव सीधी रेखाओं में नहीं चलते। वे परस्पर 'बाधक बाध्य" रूप धारण करते हैं अतः "रस सिद्धान्त" के मूल आधार, भावों के साध्य साधक सम्बन्ध, का खंडन हो जाता है। प्राचीन साहित्य में, विशेषकर भारतीय साहित्य में, एक "स्थायीभाव" (रति, हास, विस्मय आदि) को अनेक संचारियों द्वारा पुष्ट किया जाता था। स्थायी भाव 'साध्य' माना जाता था, व्यभिचारी "साधक" लेकिन यह सरलीकृत धारणा अब खंडित हो चुकी है क्योंकि कोई भी सचेत और आधुनिक

व्यक्ति आत्मनिरीक्षण की विधि से भी देख सकता है कि परिस्थिति की जटिलता के कारण, भाव, एक दूसरे के प्रति बाध्य बाधक विधि अपना लेते हैं। आधुनिक कला की अस्पष्टता या सकुलता का यह एक बहुत बडा कारण है और इसीलिये 'रस सिद्धान्त' की सरलीकृत व्याख्या के आधार पर इसे नही समझा जा सकता। कभी कभी तो 'भाव' का पता ही नही चलता सिर्फ सपनो, मानसिक भ्रमो, मुक्त सहचार, अवचेतन के तर्कहीन इन्द्रजालो और सनको का ही चित्रण होता है। इस स्थिति मे "भाव" को ही काव्यसर्वस्व मानने वाले शास्त्रीय सिद्धात "दयनोय" लगने लगते हैं।

पश्चिमी देशो और उनसे प्रभावित अन्य देशो की आधुनिक कला और और साहित्य म, सामयिक ' सकट और सक्रान्ति" की गहरी छानबीन की गई है। इसीलिये "वातायन" मे आधुनिकता और समसामयिकता" शीर्षक निबध म मैंने, "सक्रान्तिबोध" को आधुनिकता का भेदकलक्षण स्वीकार किया था। आधुनिक सृजन मे आज के जागरूक इसान की घबराहट, उलझन, अलगाव, अप्रतिबद्धता, अनिश्चय, अनास्था और क्षुद्रता की "कलात्मक" तस्वीर खीची गई है। जसे मनुष्य अपनी सारी विचारगत और सास्कृतिक जड़े काटकर, घटनाओ को सवथा अपरिभाषेय समझकर और किसी भी तरह के "शुभ-परिवर्तन"के भ्रम को छोडकर सिर्फ अपनी "सनक" मे जी रहा हो। "सृजन के भ्रम" को वह फिर भी नही छोड सका है। वह मूर्त अमूर्त विधियाँ अपनाकर इस शताब्दी के खतरो और आशकाओ को व्यक्त करके लेकिन उन्हे दूर करने का भार दूसरो पर छोडकर, "आत्मलीन" हो गया है। "भ्रमो" का विरोध करते और इसान के अधकार पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करते हुए वह एक विराट "शून्य" का गवाह बनकर जी रहा है। सशय और अनिश्चय उसके साथी है और उग्र प्रतिक्रिया उसका अस्त्र। चिढ खीझ और लताड के अलावा वह क्या करे, यह वह स्वय नही समझ पाता क्योकि ' प्रगति" की जिन यान्त्रिक और सामाजिक शक्तियो (जनतत्र तथा समाजवाद) की उसने हिमायत की थी, व ही अब मानवता की बेडियो मे परिवर्तित हो गई हैं। एक विराट तत्रकौशल का एक पुर्जा बनकर वह "मुक्ति" का कोई उपाय नही देख पाता अत ऐसा सवेदनशील व्यक्ति कभी तो कामू की तरह ' निरन्तर विद्रोह" ("क्रान्ति" नही, क्योकि क्राति या "रिवोल्यूशन" फिर एक व्यवस्था या प्रतिष्ठान म आदमी को बाँध लेता है) की बात करता है और कभी, सालिजर की तरह आस्थाओ के भ्रम का पुन पालने की ओर मुडता है। कुछ को सेक्स के अलावा अन्य किसी काय म प्रामणिकता" का अनुभव नही होता।

अतीन्द्रिय स्तरो के भ्रमो को तिलाजलि देकर, वह सिर्फ इन्द्रियो के "भ्रमो" को ही विश्वसनीय पाता है। "संस्कृति" और ',मूल्य", "राजनीति" और "प्रगति" "मानवता' और "राष्ट्रीयता" जैसे शब्दो के पीछे वह कुछ स्वार्थी और मूर्ख नेताओं का छल-कपट पाता है और तृतीय विश्वयुद्ध के लिए वह 'विचारधारो" और उनके "प्रचारको" को दोषी ठहराता है।

परिवेश "असगत" होने पर, तीखे अहसास वाला व्यक्ति, 'आत्म-केन्द्रित" ही हो सकता है और सार्थकता की खोज से, वह अपने प्रति "प्रयोग" करने लगता है। "खतरनाक ढंग से जियो", "समाजगत" नही, 'जीवनगत" दृष्टि अपनाओ "अपने लिए खुद सकट खड़ा करो और फिर उस हालत में आत्म साक्षात्कार करो", "विवेक द्वारा परिवेश नही बदल सकता तो घृणा द्वारा उसका सम्पूर्ण निषेध करो", "वशिष्ठ बनकर नही, दुर्वासा बनकर शब्द की जगह अपशब्दो का प्रयोग करो"—इस प्रकार के विचार "आधुनिक" व्यक्ति की अतिरिक्त संवेदनशीलता और उसके नीचे छिपी "मानव के लिए चिन्ता" की गवाही देते है।

इसे साबित करने की जरूरत नही है कि पिछले दशक मे इस "आधुनिकता" का भारतीय भाषाओ पर ही नही बल्कि विश्व की अनेक भाषाओ के साहित्य और कला पर प्रभाव है—दूसरे शब्दो मे यह 'अतर्राष्ट्रीय" प्रवृत्ति है। क्योकि "आधुनिक" किसी देश, जाति, स्थान, अचल, धर्म या सम्प्रदाय को "सम्बद्ध" नही होना चाहता अत वह अपनी संवेदना और अतदृष्टि के अतिरिक्त किसी मूल्य व्यवस्था को किसी आग्रह और अनुरोध को स्वीकार नही करता।

"सम्पूर्ण अस्वीकृति" ही इस आधुनिकता की सर्वव्यापी पहचान है।

'अलगाव" और अस्वीकृति' की मात्रा और स्वरूप के अनुसार ही ही 'विरोध" का उदय होता है। यह "विरोध" किसी स्पष्ट जीवनदर्शन या "समाजदर्शन" पर आधारित नही है। यह विरोध वस्तुत असगतियो की ओर ध्यान आकर्षण के लिए है या 'आत्मप्रतिष्ठा" के लिए है। कभी ये दोनो तत्व एक साथ ही मिले जुले रहते हैं। विरोध का कोई समान आधार न रहने से, विरोध विद्रोही बलात्कार, प्राय सनकीपन में डूब जाते हैं। वह 'क्यो" और "किसलिए" प्राय जैसे प्रश्नो अथवा वैज्ञानिक की तरह कारण-कार्य विधि पर सोचने वालो से भी घृणा करने लगते हैं। इस तरह विरोध और विद्रोह एक "मानसिक रुग्णता" की ओर बढ़ने लगता है और यह स्थिति पागलपन आत्महत्या, कत्ल, व्यभिचार, आत्मपीडन, परपीडन, षडयंत्र, भूख, प्रदर्शन,

दम्भ और दा ये परिणित होती है। कलाकार जीवन ने या समाज म नही, आत्ममथन या 'ब्रूडिंग" म जीन लगता है और इस स्थिति मे पदाथ प्रकृति और मनुष्य जिस तरह प्रतीत होते हैं, उसी तरह वह उन्हें चित्रित करता है। किसी भी प्रकार के बौद्धिक अनुशासन या भाव प्रेम स उसे चिढ हो जाती है। आधुनिक सृजन की असामान्यता, असाधारणीकरण, उसकी "नीरसता" और उच्छृखलता का कारण यही है। 'परिचित" और "सामान्य" यथाथ से कटकर मादक द्रव्यो के सेवन स, "नवीन यथाथ" की खोज का कारण भी यही है।

आधुनिक सृजन की न्यूनता बताते हुए एथोनी थ्रोनिन न भी यह स्वीकार किया है कि आधुनिक रचना जगत म समन्वय सूत्रो" का अभाव है। आधुनिक सृजन, स्वच्छन्दतावादी सृजन की तरह कोई भावात्मक या दाशनिक समन्वय प्रस्तुत नही कर सका।[1]

"सभ्रान्ति" 'केयौस' या ाइसिस") को प्रतिबिम्बित या ध्वनित करने वाले 'आधुनिक आन्दोलन को, प्रो० राजकृष्ण की तरह मात्र "प्रन्त्र कौशल" के आधार पर, प्राचीन स अलग नही किया जा सकता, यह स्पष्ट है। प्राचीन और आधुनिक सजन के बोध और अनुभव म भी विपरीतता है।

पूजीवादी देशो के दाशनिक और साहित्यचिन्तक इस आधुनिक अलगाव अस्वीकृति और केयौस' को "शाश्वत" मानने लगते हैं यानी वे उसे "मानव जीवन की अनिवाय दशा"[2] मानत है। ईसाई मत जिस तरह "आदिम पाप' की धारणा को और हिन्दूमत जिस तरह "मानव भाग्य या नियति" के विचार को, अपरिहाय जीवन दशा मानता है, उसी तरह आधुनिक अलगाव या अजनबीपन को अस्थायी नही, स्थायी जीवन स्थिति माना जाने लगा है। लेकिन अलगाव और 'केयौस" स्थायी दशाएँ नही हैं, वे मनुष्य के ऐतिहासिक विकास म अस्थायी सोपान मात्र हैं।

आत्मगत दृष्टि से 'अलगाव' भले ही अपरिहाय स्थिति लगे लेकिन वस्तुगत दृष्टि से वह वास्तविक जीवन विधि का ही प्रतिबिम्ब है। मानव समाजो म 'अलगाव' का मूलभूत कारण 'व्यक्तिगत सम्पत्ति और पूजी' है, जो आदमी को "चीजो" म बदल देती है और कुछ थोडे से लोगो के हाथो

---

१ It has no emotional no philosophical synthesis as did the Romantic movement " वही पृष्ठ २२

२ Human condition

मे पूंजी और अधिकार केंद्रित हो जाते है। राज्य, नौकरशाह और कुबेरपति, और उनके अस्तित्व की रक्षा के लिए बौद्धिक समथन देने वाले, "प्रबुद्ध" लोग, इस विराट शोषण और 'आधुनिक दास प्रथा" को चला रहे हैं। इस तरह के समाज म चीजो तथा पदो के लिए भयकर प्रतियोगिता होती है। फलत श्रमिक अपने 'श्रम' को, विद्वान अपनी विद्वत्ता को, कलाकार अपनी कृति' और प्रतिभा को तथा वणिक अपने उत्पादन को बेचन के लिए विवश होते है और बेचन के लिए 'आत्मविज्ञापन" अनिवाय हो जाता है, गुटबन्दी उखाड पछाड वगरह सब व्याधियाँ "बाजारू जीवन विधि" से ही उत्पन्न होती हैं।

प्रतियोगिता और मुनाफ पर आधारित उत्पादन और वितरण, अव्यवस्थित और अनियोजित रहता है—उत्पादन विधि मे निहित यह "केयौस" ही, सृजन मे प्रतिबिम्बत और अंकित होता है और जब तक व्यक्तिगत स्वामित्व से रहित और सहयोग पर आधारित उत्पादन और वितरण विधि को नहीं अपनाया जाता तब तक अलगाव और केयौस, सत्रास और सशय "शाश्वत" प्रतीत होते रहेंगे। अतएव, पूर्ण आधुनिक साहित्य और सृजन वही हो सकता है, जो इस मूल कारण के प्रति पाठक को सचेत करे। सच्चा कृतिकार मात्र फोटोग्राफर या प्रतिबिम्बक दपण मात्र नही होता, वह यदि "परिभू स्वयभू" है तो उसे अपनी सृष्टि को "साथक" बनाना होगा—'आत्मजयी", "आत्महत्या के विरुद्ध", अधेरे म" जस पाशिश इसी दिशा की ओर सकेत कर रहा हैं—

> "अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होगे
> तोडने होगे ही मठ और गढ सब
> पहुँचना होगा दुगम पहाडो के उस पार
> तब कही देखने मिलगी बाहे जिनम कि प्रतिपल कापता रहता
> अरुण कमल एक
> ले आने उसको, धँसना ही होगा, झील के हिम शीत जल मे।
> (मुक्तिबोध)

यदि 'आधुनिकता' एक प्रक्रिया है तो मात्र सत्रान्ति और अस्वीकृति प्रतिबिम्बन से "अब" ऊब होने लगी है और विरोध के स्वर की माँग बढ रही है अत "निषेध" का "निषेध", 'गतिशील आधुनिकता" का लक्षण माना जाना चाहिए। इस गतिशील या वामपथी या 'प्रगतिशील आधुनिकता का केन्द्रीय तत्व है, 'मनुष्य म आस्था", यह विश्वास कि इसान सघष करके

हालात को बेहतर बना सकता है। इस बिंदु पर, अब मात्र निराशावादी स्वर अनाधुनिक लगने लगे हैं यानी, आधुनिकता को नवीन तत्व (कंटेंट) प्रदान किया जा रहा है। पिछले दशक की "नयी कविता" पर उक्त 'पश्चिमी आधुनिकता" का बहुत अधिक प्रभाव था, जिससे 'मुक्तिबोध' जैसे कवि ही अपना स्वतन्त्र मार्ग बना सके थे। अब साठोत्तरी सृजन में रचनाकार आक्रोश अधिक प्रकट कर रहा है। आक्रोश भावात्मक या पाजिटिव स्वर होता है, "ऊब" अभावात्मक या निगेटिव मनोवृत्ति होती है अतः पिछले दशक को पछाड़ कर, प्रस्तुत दशक "तत्व" की दृष्टि से प्रगतिवादी दशक से हाथ मिलाने लगा है। वास्तविकता की अधिक समय तक उपेक्षा हो भी नहीं सकती। लेकिन, आधुनिकता की बदलती प्रक्रिया में एक नया खतरा भी पैदा हो गया है। "अभिज्ञा की गहराई" का अभाव बढ रहा है अतएव कविता सपाट बयानी में बदल रही है। रघुवीर सहाय के "आत्म हत्या के विरुद्ध' में तो वह खूब है लेकिन श्रीकान्त वर्मा के "माया दर्पण" में, अस्तित्ववादी स्थितियाँ भी सतही रूप लेकर व्यक्त हुई हैं। "सकुलता" के विरुद्ध प्रतिक्रिया में "सकुल सरलता" नहीं, वक्तव्यता आ रही है। "आत्महत्या के विरुद्ध में इस तरह की "सकुल सरलता' विरल ही है—

> कितना आसान है, पागल हो जाना
> और भी जब उस पर इनाम मिलता है।

उधर 'अकवि' जगदीश चतुर्वेदी "अनिश्चय के बीच हाहाकार सा जीवित हूँ मैं', जैसी अतिरंजित पंक्तियाँ लिखते हैं और अज्ञेय 'कितनी नावों में कितनी बार' में जैसे अपनी आंतरिकता के स्थान पर घोषणा का मार्ग अपना रहे हैं। धूमिल, जगूडी, सव्यसाची, वगैरह की साठोत्तरी कविताओं में 'कथ्य का तेज' और 'कहने की होशयारी' के बावजूद, ऊपरीपन बहुत अखरता है। इस अंचल के कवियों में रणजीत, वीरे सक्सेना, भारत रत्न भार्गव, विजेन्द्र, बजरंग बिश्नोई और ऋतुराज में यथार्थ की पहचान है लेकिन ये कवि भी ऊपरीपन' और कलात्मक अनुशासन के प्रति लापरवाही बरत जाते हैं।

प्रश्न होगा कि सकुलता और सक्रान्तिबोध 'महाभारत' में भी है और ग्रीक नाटकों में भी तब इन्हें आधुनिक क्यों नहीं कहा जाता? इसका उत्तर यह है कि प्राचीन सृजन में आधुनिक तत्वों का होना असम्भव नहीं है। 'उत्कृष्ट कोटि की कृति सर्वदा—'विविधायामी" होती है अन्यथा आगामी युगों में उसकी आस्वादन क्षमता समाप्त हो गई होती। फिर मनुष्य की मूल

भूत समस्याओं की कुछ झलक प्राचीनों को भी मिली थी। यही कारण है कि हम 'प्राचीन की वर्तमानकालीनता' में दिलचस्पी लेते हैं। रामायण में राम प्रयत्न करके भी अपना जीवन सफल नहीं बना पाते—यह "प्रयत्नों की व्यर्थता" की झलक का सबूत है। फिर भी मनुष्य संघर्ष करता है और प्राचीन साहित्य इस प्रकार की मानववृत्तियों के कारण तथा आधुनिक सृजन का 'कंट्रास्ट' प्रस्तुत कर सकने के कारण आकर्षक लगता है। वह पूरी तरह तृप्ति इसलिए नहीं दे पाता क्योंकि वह अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति का प्रतिबिम्ब है लेकिन प्रत्येक "विशिष्ट" में "सार्वकालिक" छिपा रहता है, उसी का अनुसंधान प्रत्येक युग नए सिर से करता है और इस तरह "आधुनिक" को 'परम्परा' समृद्ध और पूर्ण बनाती है। इस प्रकार 'विरोध और स्वीकृति' के द्वन्द्व से परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध प्रमाणित होता है। आधुनिकता, परम्परा का ही एक गुणात्मक परिवर्तन प्रस्तुत करती है।

आधुनिकता के विषय में अंतिम बिन्दु यह है कि यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्रतियोगी उत्पादनविधि ही सारे संकट का कारण है, तो साम्यवादी देशों के युव्तुशंको जैसे कवि विद्रोही क्यों बन रहे हैं? सहयोगी समाज होने पर भी वहाँ वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अभाव होने से, कला और साहित्य क्यों औपचारिक होता जा रहा है?

इसका जवाब यह है कि मानव के समूचे संघर्ष के इतिहास में, पहली बार साम्यवादी देशों में वर्ग वर्णहीन समाज की रचना हो रही है। हजारों वर्षों से, शोषण, प्रभुत्व और प्रतियोगिता का अभ्यस्त मनुष्य साम्यवादी समाज में एकदम नहीं बदल जाता। दूसरे पूँजीवादी देशों द्वारा विरोध के कारण शासन और दल के सम्मुख, 'सामूहिक हित" प्रधान रहता है। फिर उन्हें अनेक विकास-सोपान कम से कम समय में पार करने पड़े हैं इसलिए वहाँ भी असंगतियाँ और विसंगतियाँ हैं, लेकिन गौरतलब तथ्य यह है कि पश्चिमी देशों की तरह वहाँ 'संत्रास' और 'सड़ाँध' का संकट नहीं, 'क्रान्ति' से उत्पन्न समस्यायें हैं और संवेदनशील कलाकार वहाँ भी शासन, दल और नौकरशाही की जड़ताओं के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। दुदिंत्सेव (सिर्फ रोटी नहीं) से लेकर युव्तुशंको तक, वहाँ भी विरोध की एक शृंखला है जो सृजन के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध लड़ती है।

लेकिन एक 'जनराज्य' और 'वणिकतन्त्र' की कोई तुलना नहीं हो सकती। साम्यवादी देशों में 'आम आदमी' की कद्र होती है, वहाँ आदमी को

'चीज़' नही माना जाता। दल के एकाधिकार की जगह वहाँ की जनता अपने जनतान्त्रिक अधिकारो को भी ले सकेगी लेकिन पूँजीवादी जनतन्त्रो मे तो मुक्ति का कोई उपाय ही नजर नही आ रहा है, इसलिए यहाँ तो अभी गतिशील आधुनिकता के अनुकूल समाज की सरचना भी शुरू नही हुई है। बूर्ज्वा शासक देश को 'मुक्त बाजार' बनाते चले जा रहे हैं।

इस देश मे वामपन्थी 'गतिशील' आधुनिकता का भविष्य पश्चिम की 'क्षयिष्णु आधुनिकता' की नकल के साथ सम्बद्ध नही है और न वह रूस चीन की अधी अनुकृति के साथ जुडा हुआ है। वह हमारी 'मौलिकता' के साथ सम्बद्ध है यानी अपने देश काल के गभीर विश्लेषण और प्रतिबिम्बन तथा 'स्वतन्त्र एवम् सही' निर्णय लेने पर निर्भर है। लेकिन इसका आधार, 'सहयोगी समाज की धारणा ही हो सकती है, सीढीदार (हायरार्कीकल) समाज के आधार पर आधुनिक मानवीय समाज और साहित्य की रचना नही हो सकती।